DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DTATE	SIGNATURE

श्रीकान्त

श्रीकान्त
(खण्ड २)



लेखक
शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय

अनुवादक
हंसकुमार तिवारी

सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली



प्रकाशक	सत्साहित्य प्रकाशन,
	२०५-बी, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११० ००६
अनुवादक	हंसकुमार तिवारी
संस्करण	: १९८१

सर्वाधिकार	सुरक्षित

मूल्य	साठ रुपए

SHRIKANT (Vol II) novel by Sharat Chandra Chattopadhyaya Rs 60.00

Printer: Radha Press, Gandhi Nagar, Delhi

एक

जिस भ्रमण-कथा के बीच ही में अचानक एक दिन यवनिका खींचकर विदा हुआ था, कभी फिर उसी को अपने हाथ से उद्घाटित करने की अपनी प्रवृत्ति न थी। मेरे गाँव के रिश्ते के दादाजी—वे जब मेरी उस नाटकीय उक्ति के जवाब में सिर्फ जरा मुस्कराए तथा राजलक्ष्मी के झुककर प्रणाम करते जाते पर जिस ढंग से हड़बड़ाकर दो कदम हट गए और बोले—'अच्छा! अहा, ठीक तो है! बहुत अच्छा! जीते जागते रहो!'—कहते हुए कौतूहल के साथ डाक्टर को साथ लेकर निकल गए, तो उस समय राजलक्ष्मी के चेहरे की जो दशा देखी, वह भूलने की नहीं, भूला भी नहीं, लेकिन यह सोचा था कि वह नितान्त मेरी ही है—दुनिया पर वह कभी किसी भी रूप में जाहिर न हो—परन्तु अब लगता है, अच्छा ही हुआ, बहुत दिनों के बन्द दरवाजे को फिर मुझी को आकर खोलना पड़ा। जिस अनजान रहस्य के लिए बाहर का क्रोधित संशय अविचार का रूप धारण करके बार-बार धक्के मार रहा है, यह अच्छा ही हुआ कि बन्द द्वार का अर्गल खोलने का मुझे ही मौका मिला।

दादाजी चले गए। राजलक्ष्मी जरा देर ठक्-सी उनकी ओर देखती रही, फिर नजर उठाकर हँसने की बेकार कोशिश करके बोली, 'पैरों की धूल लेने गई थी, छू नहीं देती उनको। मगर तुम ऐसा क्यों बोल बैठे? इसकी तो कोई जरूरत नहीं थी! यह सिर्फ '

वास्तव में यह तो सिर्फ अपने लोगों का अपमान किया इसकी कोई जरूरत नहीं थी। बाजार की आई जो है विधवा-विवाह की पत्नी इनके सामने ऊँचा स्थान नहीं पा सकती—लिहाजा मैं नीचे ही उतरा, किसी को भी जरा-सा ऊपर नहीं उठा सका, राजलक्ष्मी यही कहने जा रही थी, पूरा नहीं कर सकी।

अब समझा। उस अपमानिता के आगे लम्बी हाँककर बात बढ़ाने की इच्छा न हुई। जिस प्रकार से चुप पड़ा था, उसी प्रकार लेटा रहा।

बड़ी देर तक राजलक्ष्मी भी एक शब्द न बोली, मानो अपनी चिन्ता में डूबी बैठी रही। उसके बाद एकाएक बहुत करीब कहीं पुकार सुनकर वह मानो चौंककर खड़ी हो गई। रतन को पुकारकर कहा, 'रतन,' ह दे गाड़ी जल्द तैयार करे, नहीं तो फिर रात को ग्यारह बजे वाली गाड़ी से जाना पड़ेगा। और वह हर्गिज अच्छा न होगा, बड़ी सर्दी लगेगी।'

दस ही मिनट के अन्दर रतन ने मेरा बैग उठाकर गाड़ी पर रख दिया और बिस्तर ओढ़ने का इशारा करके मेरे पास आकर खड़ा हो गया। तब से मैंने एक भी शब्द न कहा था, अभी भी न बोला। कहाँ जाना है, क्या करना है, कुछ भी बिना पूछे चुपचाप आकर गाड़ी पर सवार हो गया। कई दिन पहले ऐसी ही एक साँझ को अपने घर आया था, आज फिर वैसी ही साँझ की बेला में घर से चुपचाप निकल पड़ा। उस रोज भी किसी ने आदर से नहीं अपनाया था, आज भी कोई स्नेह के साथ विदा करने के लिए आगे नहीं आया। उस रोज भी उस समय घर-घर में शंख बजना शुरू हुआ था, पशु-मन्दिर के गोपाल-मन्दिर से आरती के घण्टा-घड़ियाल की आवाज हवा में तिरती हुई आ रही थी; मगर उस दिन से आज का कितना अन्तर था, इसे केवल आकाश के देवता ही देखने लगे।

बंगाल के इस मामूली गाँव के टूटे-फूटे घर के प्रति ममता मुझे कभी भी न थी और इससे पहले इससे वंचित होने को भी मैंने कभी हानिकारक नहीं माना, लेकिन आज जब नितान्त अनादर में ही गाँव को छोड़कर चला, कभी किसी बहाने फिर यहाँ कदम रखने की कल्पना तक को भी जब मन में जगह न दे सका, तभी यह अस्वास्थ्यकर मामूली-सा गाँव सभी प्रकार से मेरी आँखों के सामने असामान्य होकर प्रकट हुआ। और, जिस घर से अभी-अभी निर्वासित होकर निकला, अपने बाप-दादे के उस टूटे-फूटे पुराने मकान पर मेरे क्षोभ की आज कोई सीमा नहीं रही।

राजलक्ष्मी चुपचाप आकर मेरे सामने वाली सीट पर बैठ गई और शायद किसी पहचाने पथिक के कौतूहल से अपने को सर्वथा बचाने के ख्याल से ही गाड़ी के एक कोने में सिर रखकर उसने आँखें बन्द कर ली।

स्टेशन के लिए जब रवाना हुआ, उसके बहुत पहले ही सूर्यदेव डूब चुके थे। गाँव की आँकी-बाँकी डगर के दोनों किनारे मनमाने बढ़े हुए बेंची, झरबेरी तथा बेर की झाड़ियों ने सकरे रास्ते को और भी सकरा कर दिया था। माथे के ऊपर आम-कटहल की घनी शाखाओं ने मिलकर जगह-जगह पर साँझ के अँधेरे को दुर्भेद्य बना दिया था। इसके बीच से गाड़ी जब बड़ी सावधानी और धीमी चाल से चलने लगी तो दोनों आँखें खोलकर मैं उस गहरे अँधेरे में मानो कितना क्या देखने लगा। जी में आया, एक दिन इसी राह से मेरे दादा मेरी दादी को ब्याह लाए थे, उस रोज यही रास्ता बरातियों की चहल-पहल और पैरों से मुखरित हो उठा था। और फिर जिस दिन वे स्वर्ग सिधारे, तो पड़ोसी लोग इसी रास्ते से उनके शव को ढोकर नदी ले गए थे। इसी रास्ते से होकर एक दिन मेरी माँ बहू बनकर इस घर में आई थी और फिर जिस दिन उनके जीवन का अन्त हुआ, तो धूल-गर्द वाले इसी रास्ते से हम लोग उन्हें माँ गंगा की गोद में रख आए थे। उस समय तक भी यह रास्ता इतना सूना और ऐसा दुर्गम नहीं हो उठा था, तब भी शायद इसकी हवा में इतना मलेरिया, पोखरों में इतनी कीच और जहर नहीं भर उठा था। तब भी देश में अन्न था, वस्त्र था, धर्म था—देश का निरानन्द इतना खौफनाक होकर आसमान को छापते हुए भगवान के द्वार तक धक्का मारने को नहीं जा धमका था। दोनों आँखें भर आईं—गाड़ी के पहिये से थोड़ी सी धूल लेकर चेहरे और माथे पर लगाते हुए मन-ही मन बोल उठा, 'मेरे बाप-दादे के सुख-दुःख, आपद विपद, हँसी-रुदन में सने ऐ मेरे धूल बालू भरे रास्ते, तुम्हें बार बार प्रणाम।' उस अँधेरे में वन की ओर देखते हुए कहा, 'ऐ मेरी जन्मभूमि माँ, तुम्हारे दूसरी करोड़ों अकृती सन्तान की नाईं मैंने भी कभी तुम्हें प्यार नहीं किया। तुम्हारी सेवा, तुम्हारे काम के लिए तुम्हारे पास कभी लौटकर आऊँगा या नहीं, नहीं जानता, लेकिन निर्वासन की इस घड़ी में आज अँधेरी डगर पर तुम्हारे दुःख की जो मूर्ति मेरे आँसुओं के बीच से धुँधली सी फूट उठी, उसे मैं जीवन में कभी न भूलूँगा।'

देखा, राजलक्ष्मी वैसी स्थिर बैठी है। अँधेरे में उसकी शक्ल दिखाई नहीं पड़ी, लेकिन ऐसा लगा, आँखें बन्द किए चिन्ता में डूब गई है। मन ही-मन बोला, 'खैर। अपनी फिक्र की नैया की पतवार आज से जब उसी के हाथ में छोड़ दी है, तो इस

अनजानी नदी में कहाँ भँवर है, कहाँ चोर है—इसे वही ढूँढ निकाले।

जीवन में मैंने अपने मन को विभिन्न प्रकार से, अनेक परिस्थितियों में परख कर देखा है। इसकी नब्ज़ मैं पहचानता हूँ। इसे बहुत अधिक कुछ भी बर्दाश्त नहीं होता। बहुत ज्यादा सुख, बहुत ज्यादा तन्दुरुस्ती, बहुत ज्यादा आराम से रहना इसे सदा खलता है। यह जानते हो कि कोई बहुत ही प्यार करती है—जो मन भाग-भाग करता रहता है, उस मन में कितने बड़े दुःख से पतवार डाल दी है, इसे मन के चलाने वाले के सिवाय और कौन जाने!

एक बार बाहर के काले आसमान की ओर निगाह फैलाई, अन्दर अदृश्य-सी उस निश्चल प्रतिमा की ओर भी ताका, उसके बाद कह नहीं सकता हाथ जोड़कर किसे नमस्कार किया, लेकिन अपने तईं कहा, 'इसके आकर्षण के दुःसह वेग ने मेरी साँस को जैसे रोक डाला है—बहुत बार भागा फिरा मैं, बहुतेरे रास्तों से भागा, मगर गोरख-धन्धे की तरह हर रास्ते ने जब बार-बार मुझे इसी के हाथों पहुँचाया, तो अब विद्रोह न करूँगा, अब सब प्रकार से अपने को इसी के हाथों सौंप दिया। जीवन की पतवार को अब अपने ही हाथों रखकर क्या पाया? इसे कितना सार्थक कर पाया? फिर अगर यह ऐसे ही एक हाथ में पड़ जाए, जिस सिर से पाँव तक कीच में डूबे हुए अपने जीवन को उठाया है, तो वह दूसरे एक जीवन को हर्गिज उसी में गर्क नहीं करेगी।'

लेकिन यह तो मेरी तरफ की बात हुई—दूसरे पक्ष का फिर वही पुराना रवैया शुरू हुआ। रास्तेभर कोई बात नहीं हुई, यहाँ तक कि स्टेशन पहुँचकर भी किसी ने मुझसे कुछ पूछने-पाछने की जरूरत नहीं समझी। कुछ ही देर में कलकत्ते वाली गाड़ी की घण्टी बजी। लेकिन टिकट खरीदना छोड़कर रतन मुसाफिरखाने के एक कोने में मेरा बिस्तर लगाने लगा। यह समझ में आया कि इधर जाना न होगा, सुबह की गाड़ी से पश्चिम की ओर चलना पड़ेगा। पटना या काशी या और कहीं, यह तो नहीं जाना जा सका फिर भी यह खूब समझ में आया कि इसके बारे में मेरी राय बिल्कुल बेकार है।

राजलक्ष्मी दूसरी तरफ ताकती हुई अनमनी-सी खड़ी थी। रतन जिस काम में लगा था, उसे पूरा करके आया और बोला, 'माँ जी, पता चला, जरा पहले जाया जाए तो जो चाहिए, वही भोजन उम्दा मिल जाएगा।'

राजलक्ष्मी ने आँचल की गाँठ में रुपये निकालकर उसे देते हुए कहा, 'ठीक

सो है, जा। मगर दूध जरा समझ-बूझकर लेना, बासी-वासी मत उठा लाना।'

रतन ने पूछा, 'माँ जी, कुछ आपके लिए⋯'

'नहीं, मेरे लिए नहीं लाना है।'

उसके इस 'नहीं' को हम सभी जानते हैं। सबसे ज्यादा शायद खुद रतन जानता है। फिर भी उसने दो-एक बार पाँव रगड़कर धीरे-धीरे कहा, 'कल ही से तो करीब-करीब⋯'

जवाब में राजलक्ष्मी ने कहा, 'तू क्या सुन नहीं पाता रतन? बहरा हो गया है?'

रतन ने और कुछ नहीं कहा। इसके बाद भी दलील दे, ऐसा जोरदार पक्ष कोई भी है, मुझे पता नहीं। और फिर जरूरत भी क्या? राजलक्ष्मी अपनी जबान से कबूल करे या नहीं, मुझे मालूम है कि रेलगाड़ी में या रास्ते में किसी के हाथ का कुछ खाने की उसे रुचि नहीं। अगर यह कहूँ कि नाहक ही कठिन उपवास करने में इसका सानी नहीं, तो अत्युक्ति न होगी। जाने कितनी बार इसके यहाँ कितनी चीजें मैंने आते देखी हैं, दास-दासियों ने खाईं, पड़ोसी के यहाँ बाँटी गईं, रक्खी-रक्खी खराब हो गईं, फेंक दी गईं, मगर उसने कभी मुँह से भी न लगाया। पूछने पर, मजाक उड़ाने पर कहती, 'भला, मेरा भी कोई आचार, खाने-छूने का विचार! मैं सब खाती हूँ।'

'अच्छा, नजर के सामने मिसाल दो इसकी?'

'मिसाल? अभी? अरे बाप रे! फिर बच सकती हूँ भला।' और न बचने का कोई कारण दिखाए बिना ही वह किसी जरूरी काम के बहाने खिसक पड़ती। धीरे-धीरे मुझे यह मालूम हो गया था कि वह मछली-मांस, दूध-घी नहीं खाती है, लेकिन यह न खाना उसके लिए इतना अशोभन, इतना शर्मनाक था कि इसका जिक्र करते लाज से वह कहाँ भागे इसके लिए जगह नहीं पाती थी। इसीलिए सहज ही खाने के बारे में अनुरोध करने की इच्छा नहीं होती थी। रतन उदास मुँह लिए चला गया, मैंने तब भी कुछ नहीं कहा। थोड़ी देर में लोटे में गर्म दूध और थोड़ी-सी मिठाई वगैरह लेकर लौटा तो राजलक्ष्मी ने मेरे लिए दूध और थोड़ी-सी मिठाई रखकर बाकी उसी को दे दिया। मैंने कुछ नहीं कहा और रतन की नीरव आँखों की करुण विनती को साफ समझने पर भी मौन रहा।

कारण से, अकारण से बात-बात में उसके न खाने के हम अब आदी हो गए हैं, लेकिन कभी ठीक ऐसी ही बात न थी। उस समय तो उपहास-परिहास लेकर कठोर कटाक्ष भी कम नहीं किया—लेकिन जितने ही दिन बीते, इसके और एक पहलू को भी सोच देखने का भरपूर अवकाश मिला। रतन चला गया, मुझे वही बातें फिर याद आने लगीं।

इस कष्ट-साधना में कब और क्या सोचकर लग गई थी वह, नहीं जानता। तब भी मैं उसके जीवन में आया नहीं था, लेकिन पहले जब वह बेहिसाब भोजन-सामग्री के बीच बैठकर स्वेच्छा से छिपकर, चुपचाप अपने को वंचित किए चल रही थी, वह कितना कठिन था! वैसे कठिन कलुष और सब प्रकार के ऐश्वर्य के केन्द्र से अपने को तपस्या की ओर बढ़ाने में उसने जाने कितना चुपचाप सहा! आज यह चीज इसके लिए सहज, ऐसी स्वाभाविक बन गई है कि हमारी नजरों में भी इसका कोई महत्त्व नहीं, विशेषता नहीं—इसका मूल्य क्या है, यह भी ठीक नहीं जानता, तो भी बार-बार मेरे जी में आया है, उसकी इस कठिन साधना का सब कुछ क्योंकि फल ही हुआ, निरा बेकार? अपने को वंचित करने की यह जो शिक्षा है, यह जो अभ्यास है, पाकर न त्यागने की यह जो शक्ति है, यही अगर उसके जीवन में संचित हो पाती, तो आज क्या वह इस स्वच्छन्दता से, इस प्रकार अपने को सब तरह के भोग से हटा सकती! यहाँ भी क्या कोई बन्धन नहीं खींचता? उसने प्यार किया है। प्यार तो ऐसा कितने लोग करते हैं, लेकिन सब कुछ त्याग के द्वारा उसे निष्पाप, ऐसा एकान्त कर लेना क्या संसार में इतना सुलभ है?

मुसाफिरखाने में और कोई आदमी नहीं था, रतन ने भी कहीं किसी आट में शायद शरण ली थी। देखा, एक टिमटिमाती बत्ती के नीचे राजलक्ष्मी चुप बैठी है। करीब जाकर उसके माथे पर हाथ रखते ही वह चौंक उठी। पूछा, 'तुम सोए नहीं हो?'

'नहीं।' लेकिन इस गर्द-गुबार में अकेली खड़ी न रहकर चलो, मेरे बिस्तर पर बैठना। उसे ऐतराज का मौका न देकर हाथ पकड़कर खींच लाया, लेकिन अपने पास लाकर यह नहीं ढूँढ़ पाया कि क्या बोलूँ, सो उसके हाथ को धीरे धीरे सहलाने लगा। कुछ देर यों ही बीती। मेरा सन्देह गलत न था, यह मैंने उसकी आँख पर हाथ डालते ही अनुभव किया। आहिस्ते से उसकी आँखें पोंछकर करीब

खींचने की चेष्टा की तो वह मेरे फैले पैरों पर औंधी पड़कर जोर से उन्हें पकड़े रही—उसे हर्गिज पास न खींच सका।

समय फिर उसी तरह से चुपचाप कटने लगा। अचानक मैं बीच में बोल उठा, 'एक बात अभी तक तुम्हें बता नहीं पाया हूँ, लक्ष्मी!'

उसने धीरे से पूछा, 'कौन-सी बात?'

कहने में पहले तो सस्कारवश जरा हिचक हुई, मगर मैं रुका नहीं, बोला, 'आज से मैंने अपने आपको एकबारगी तुम्हारे हाथों सौंप दिया, अब से इसका भला बुरा सब तरह से तुम्हारा है।'

इतना कहकर मैंने उसकी तरफ ताका। देखा, उस टिमटिमाती रोशनी में वह मेरी ओर चुपचाप देख रही है। उसके बाद जरा हँसकर बोली, 'तुम्हें लेकर मैं क्या करूँगी? तुम तबला बजा नहीं सकते, सारंगी बजा नहीं सकते! और'

मैंने कहा, 'यह और क्या? पान-तम्बाकू जुगालना? नहीं, यह तो हर्गिज नहीं होगा।'

'लेकिन उसके बाद दो चीजें?'

मैंने कहा, 'भरोसा मिले तो कर भी सकता हूँ।'—यह कहकर मैं खुद भी जरा हँसा।

उत्साह से अचानक राजलक्ष्मी उठ बैठी—'मजाक नहीं, सचमुच ही कर सकते हो?'

मैंने कहा, 'उम्मीद करने में क्या दोष है?'

राजलक्ष्मी बोली, 'नहीं।' उसके बाद अचरज से कुछ देर एकटक मेरी ओर ताककर धीरे धीरे कहने लगी, 'देखो, बीच बीच में मुझे ऐसा ही लगता था, फिर सोचती, जो आदमी बेरहम सा बन्दूक लिए जानवर ही मारता फिरता है, उसे इन बातों से क्या वास्ता? इसके अन्दर की इतनी बड़ी वेदना को अनुभव करने की उसकी क्या मजाल? बल्कि शिकार करने जैसी चोट पहुँचाने में ही मानो उसकी बेहद खुशी हो! मैं तुम्हारे लिए बेहिसाब दु:खों को सिर्फ यही सोचकर सह सकी हूँ।'

चुप रहने की अब मेरी बारी। उसकी शिकायत के मूल का युक्ति से विचार भी किया जा सकता था, सफाई के लिए प्रमाणों की भी कमी नहीं होती, लेकिन सब कुछ विडम्बना-सा लगा। उसकी सच्ची अनुभूति के सामने मन-ही-मन मुझे

हार माननी पड़ी। बात को ठीक से वह कह सकी, लेकिन संगीत की जो अन्तरतम मूर्ति केवल व्यथा में ही शायद प्रगट होती है, वही करुणासिक्त सदा जाग्रत चैतन्य ही मानो राजलक्ष्मी की उन दो बातों के इंगित में रूप लेकर सामने आया और उसके संयम, उसके त्याग, उसके हृदय की शुचिता ने फिर एक बार मानो मेरी आँखों में उँगली गड़ाकर उसी की याद दिला दी।

फिर भी उससे एक बात कह भी सकता था। कह सकता था कि आदमी की बिल्कुल विरोधी प्रवृत्तियाँ किस प्रकार एक ही साथ पास-पास रहती हैं, यह एक ऐसी बात है, जो सोची भी नहीं जा सकती। नहीं तो इससे बड़ा आश्चर्य मेरे अपने ही लिए और क्या है कि मैं अपने हाथों जीवहत्या कर सकता हूँ? जो एक चींटी तक की मौत नहीं सह सकता, वह नगी बलिवेदी-सी जिसकी भोजन-निद्रा को हर ले सकती है, जिसने टोले के अनाथ निराश्रित बिल्ली-कुत्तों के लिए कितनी बार उपवास किया है, पेड़ की चिड़िया और जंगली जानवर पर उसका निशाना कैसे सध सकता है, यह नहीं सोच सकता। और ऐसा क्या अकेला मैं ही हूँ? जिस राजलक्ष्मी का हृदय आज मेरे निकट रोशनी की तरह स्वच्छ हो उठा है, वही इतने दिनों से, क्यों प्यारी का जीवन कैसे बिता सकी?

बात यह मन में आई पर जबान पर न ला सका। सिर्फ इसीलिए नहीं कि उसे दुखाऊँगा नहीं, सोचा, होगा क्या कहकर? देव और दानव कन्धा मिलाकर क्षण-क्षण मनुष्य को कहाँ, किस ठौर खींचे लिए जा रहे हैं, उसको क्या जानता हूँ? भोगी एक दिन में कैसे त्यागी बन जाता है, बेरहम बेदर्द क्षणभर में दया से पिघलकर अपने को एकबारगी मिटा देता है, इस रहस्य का पता कितना है? किस निर्जन कन्दरा में जो मानव की आत्मा की गुप्त साधना एकाएक सिद्धि में फूट उठती है, उसकी क्या खबर रखता हूँ? मद्धिम जोत में राजलक्ष्मी के चेहरे की तरफ ताकते हुए, मन-ही-मन कहा, 'इसने अगर मेरी व्यथा देने की शक्ति को ही केवल देख पाया हो और व्यथा स्वीकार करने की मेरी असमता को स्नेह के नाते अब तक क्षमा ही करती आई हो तो- इसमें मेरे रूठने को ही क्या धरा है?'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'चुप हो गए?'

मैंने कहा, 'फिर भी तो इसी निष्ठुर के लिए तुमने सब कुछ छोड़ा।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'सब कुछ कैसे? अपने को तो तुमने निःस्वत्व होकर ही

मेरे हवाले कर दिया, मगर 'नहीं चाहती'—यह कहकर इसे तो मैं त्याग नहीं कर सकी।'

मैंने कहा, 'हाँ, नि स्वत्व होकर ही सौंप दिया है, लेकिन अपने को तो तुम आप ही नहीं देख सकोगी, इसलिए इसका उल्लेख मैं नहीं करूँगा।'

दो

बंगाल के मलेरिया ने मुझे कसकर पकड़ लिया था, यह पश्चिम के शहर मे पहुँचने से पहले ही पता चल गया। पटना स्टेशन पर राजलक्ष्मी के घर तक मैं लगभग बदहोशी की हालत मे ही पहुँचा। उसके बाद का महीना मुझे बुखार, डाक्टर और राजलक्ष्मी प्राय हर पल घेरे रहे।

बुखार जब उतरा तो डाक्टर साहब ने गृहस्वामियो को साफ-साफ बता दिया कि हालांकि यह शहर पश्चिम का कहाता है और सेहत के लिहाज से इसका नाम भी है, फिर मेरा ख्याल है, रोगी को जल्दी ही और कहीं ले जाना जरूरी है।

जाने की एक बार फिर तैयारी शुरू हो गई और इस बार जरा जोरो से। अकेले मे पाकर रतन से पूछा, 'इस बार कहाँ चलना है रतन ?'

गौर किया, इस सफर के वह बिल्कुल खिलाफ है। खुले दरवाजे पर नजर रखते हुए इशारे से और फुसफुसाकर उसने जो कुछ बताया, उससे मेरा भी जी मानो बैठ गया। रतन ने बताया, बीरभूमि जिले के उस मामूली से गाँव का नाम है गंगामाटी। इसके हकूक की खरीदगी के सिलसिले मे महज एक बार वह किसनलाल मुख्तार के साथ वहाँ गया है। माँ जी अपने वहाँ कभी नहीं गईं—जान पर भागने को राह नहीं मिलेगी। गाँव मे भले लोग नहीं हो हैं कहिए—नीच कौम के लोग भरे हैं—न उन्हें छुआ जा सकता है, न वे किसी काम ही आ सकते हैं।

राजलक्ष्मी उन लोगों के बीच जाकर क्यों रहना चाहती है, उसका हेतु कुछ-कुछ मैंने समझा। पूछा, 'यह गंगामाटी कहाँ है ?'

रतन ने कहा, 'सैंथिया या ऐसे ही किसी स्टेशन से उतरकर दस-बारह कोस बैलगाड़ी पर जाना पड़ता है। रास्ता जितना बीहड़ है, उतना ही भयानक। चारो तरफ रेत ही रेत। उसमे न तो फसल होती है, न कहीं बूँद भर पानी है। ककरीली

जमीन, कहीं रंगीन और कहीं मानो जलकर काली पड़ गई है।' इसके बाद रतन जरा चुप रहा, फिर खास तौर से मुझे ही लक्ष्य करके बोला, 'मैं तो सोच भी नहीं सकता बाबूजी कि आदमी वहाँ वास किस सुख से करता है। और जो लोग ऐसी सोने सी जगह को छोड़कर वहाँ जाना चाहते हैं, उन्हें क्या कहूँ।'

एक लम्बी उसाँस भीतर-ही-भीतर लेकर मौन हो रहा। सोने-सी इस जगह को छोड़कर बन्धु-बान्धव विहीन उस मरुभूमि में राजलक्ष्मी मुझे क्यों खींच ले जाना चाहती है, यह इससे कहा भी नहीं जा सकता, समझाया भी नहीं जा सकता।

अन्त में मैंने कहा, 'शायद मेरी बीमारी के कारण ही जाना पड़ रहा है रतन। सभी डाक्टर यह खौफ दिखा रहे हैं कि यहाँ रहने से अच्छा होने की कम उम्मीद है।'

रतन ने कहा, 'बीमारी क्या और किसी के नहीं होती है बाबूजी? चंगा होने के लिए सब किसी को क्या गंगामाटी ही जाना पड़ता है?'

मन ही-मन बोला, 'कह नहीं सकता, उन सबों को कौन माटी में जाना पड़ता है। शायद हो कि उनका रोग सरल हो, शायद हो कि वह मामूली माटी पर ही ठीक हो जाता हो, लेकिन अपनी बीमारी सहज भी नहीं साधारण भी नहीं—इसके लिए शायद गंगामाटी ही जरूरी हो!'

रतन कहने लगा, 'माँ के खर्च का हिसाब-किताब भी कभी समझ में न आया। वहाँ न तो घर-द्वार है, न और ही कुछ है। मिट्टी का एक घर बनवाने के लिए गुमाश्ते को दो हजार रुपये भेज दिए गए हैं। आप ही कहें बाबूजी, यह कैसा रवैया! नौकर हैं तो लगता है हम जैसे आदमी ही नहीं!'

उसकी खीज और ऊब देखकर कहा, 'वैसी जगह न ही गए तो क्या! जबर्दस्ती तो कोई तुम्हें ले नहीं जा सकता?'

मेरी बात से रतन को कोई दिलासा न मिला। बोला, 'माँ जी ले जा सकती हैं। कह नहीं सकता बाबूजी कि कौन-सा जादू-मन्तर जानती है—वे अगर कह दें कि जमदूत के घर जाना होगा तो हम इतने लोगों में से किसी में ऐसी हिम्मत नहीं कि ना कह दे'—कहकर वह मुँह लटकाकर चला गया।

बात रतन निहायत नाराजगी से ही कह गया, लेकिन मुझको वह मानो एक नये तथ्य का पता दे गई। सिर्फ मैं ही नहीं, सबकी एक ही दशा। जादू-मन्तर की ही सोचने लगा। यह नहीं कि मन्तर-तन्तर पर मैं *विश्वास करता हूँ*, मगर इतने-

इतने लोगों में से किसी में इतनी शक्ति नहीं कि उसके यमदूत के घर जाने के हुक्म को भी टाल सके, तो यह चीज ही आखिर क्या है !

इससे कोई वास्ता न रखने की मैंने कौनसी कोशिश नहीं की ! भागकर चला गया हूँ, सन्यासी बनकर देखा, यहाँ तक कि देश छोड़कर बहुत दूर भी चला गया कि जिन्दगी में फिर कभी मुलाकात न हो, लेकिन मेरी हर कोशिश किसी गोल वस्तु पर सरल रेखा खींचने जैसी बार-बार बेकार ही होती रही है। अपने को हजारों धिक्कार देते हुए अपनी कमजोरी से ही मैं हार गया, यह सोचकर अन्त में जब मैंने आत्मसमर्पण कर दिया—तब ऐसे में आकर रतन ने यह खबर दी, कि राजलक्ष्मी जादू-मन्तर जानती है !

खूब ! यदि रतन से ही जिरह की जाए, तो यह मालूम होगा कि खुद रतन भी इस पर विश्वास नहीं करता।

अचानक मेरी नजर पड़ी, पत्थर के एक कटोरे में क्या लिए तो राजलक्ष्मी व्यस्त-सी उसी ओर होकर नीचे जा रही है। मैंने आवाज दी, 'सुनो, सभी कहते हैं, तुम क्या जादू-मन्तर जानती हो ?'

वह ठिठक गई और भवें सिकोड़कर बोली, 'क्या जानती हूँ ?'

'जादू-मन्तर !'

होंठ दबाकर मुस्कराती हुई वह बोली, 'हाँ जानती हूँ।' इतना ही कहकर चली जा रही थी। एकाएक मेरे कुरते पर गौर करके उद्विग्न स्वर में पूछा, 'यह वही कल वाला कुरता पहने हो न ?'

मैंने अपने ऊपर नजर डालकर कहा, 'हाँ, वही है, लेकिन छोड़ो, सादा तो है।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'सादे की नहीं, साफ की कह रही हूँ।' उसके बाद जरा हँसकर बोली, 'बाहर की सफेदी पर ही जनमभर मरते रह गए ! मैं यह नहीं कहती कि उसकी लापरवाही ही हो, लेकिन पसीने से गन्दे हो उठने वाले भीतर को देखना कब सीखोगे !'—उसने रतन को पुकारा। किसी ने जवाब नहीं दिया।

राजलक्ष्मी ने हाथ का बर्तन नीचे रखा और बगल के कमरे से एक धुला हुआ कुरता लाकर मुझे देते हुए कहा, 'अपने मन्त्री रतन से कहना, जब तक जादू-मन्तर सीख नहीं लेता है, तब तक इन जरूरी कामों को हाथ से ही करे।' और उस कटोरे को उठाकर वह बाहर चली गई।

कुरता बदलने लगा। देखा, सच ही अन्दर से वह गन्दा हो गया है। होने की बात ही थी, और मैंने ही कुछ और प्रत्याशा की हो, ऐसा नहीं, लेकिन मेरा मन चिन्तन में ही लगा था, इसलिए नितान्त तुच्छ केंचुल के बाहर-भीतर की असमानता ने ही मुझे फिर नई चोट पहुंचाई।

राजलक्ष्मी की यह खामखयाली बहुत बार हम लोगों के लिए बेमानी, दुख देने वाली यहां तक कि जुल्म-सी भी लगी है और उसका सब अभी तुरन्त धुल हो गया, यह भी नहीं, लेकिन इस अन्तिम क्षेप में मैं वही देख पाया, जिसे मात्र छाक मन देकर नहीं देखा था। इस अनोखी औरत के व्यक्त और अव्यक्त जीवन की धारा जहां एकान्त प्रतिकूल बह रही है, आज मेरी निगाह ठीक उसी जगह पड़ी। एक दिन बड़े आश्चर्य से यह सोचा था, छुटपन में राजलक्ष्मी ने जिसे प्यार किया था, उसी को प्यारी ने अपने उन्माद यौवन को किस अतृप्त लालसा की कीच से इस तरह सहज ही शतदल-कमल-सा एक पल में निकाल बाहर किया! आज जो मैं हुआ, वह प्यारी नहीं, राजलक्ष्मी ही थी! राजलक्ष्मी और प्यारी, इन दो नामों में उसके नारी-जीवन का कितना बड़ा संकेत छिपा था, क्योंकि देखते हुए भी उसे नहीं देखा, इसीलिए सन्देह से बीच-बीच में सोचता रहा—एक में एक दूसरी अब तक जीवित कैसे रही, लेकिन मनुष्य तो ऐसा ही होता है! जभी तो वह मनुष्य है।

प्यारी का पूरा इतिहास जानता भी नहीं, जानने की इच्छा भी नहीं, यह भी नहीं कि राजलक्ष्मी का ही सब कुछ जानता हूं—जानता सिर्फ इतना ही हूं कि दोनों के कर्म और मर्म में कभी कोई मेल, कोई सामंजस्य नहीं था। सदा दोनों एक-दूसरे से विपरीत ही बहती रहीं। इसीलिए एक के एकान्त सरोवर में जब शुद्ध और सुन्दर प्रेम का कमल एक के बाद दूसरी पखड़ियां फैलाता रहा, तब दूसरी के दुर्दान्त जीवन की घूर्णी हवा उसे छेड़े तो क्या पाए, घुसने की राह ही न पा सकी! जभी तो उसकी एक भी पखड़ी न टूटी, धूल-रेत भी उड़ाकर उसे छू न सकी।

सर्दियों की सांझ घनी हो उठी, पर मैं वहीं बैठा सोचता ही रहा। सोचता रहा, आखिर सिर्फ शरीर ही तो मनुष्य नहीं। प्यारी नहीं है, वह मर चुकी है! कभी अगर उसने उसके शरीर पर कहीं कालिख ही लगाई हो, तो क्या वही सबसे बड़ी बात हो गई? और, यह राजलक्ष्मी जो दुख की हजारों अग्नि-परीक्षाओं से उत्तीर्ण होकर आज अपनी अकलंक निर्मलता लिए सामने खड़ी है,

उसे मुंह फेरकर लौटा दूं? आदमी के अन्दर जो जानवर बैठा है—क्या केवल उसी के लिए अन्याय और खामी-खराबियों से मनुष्य का विचार करूँ; और दुःख-कष्ट, सभी अपमानों को उठाते हुए जो देवता हंसते हुए उसके अन्दर प्रकट हो आया, उसे बैठने का आसन न दूं कहीं? यही क्या मनुष्य का सच्चा विचार होगा? मेरा मन मानो सारी शक्ति लगाकर आज केवल नहीं-नहीं ही कहने लगा। हर्गिज नहीं। ऐसा हो ही नहीं सकता। ज्यादा दिन नहीं हुए, अपने को थका-हारा मानकर एक दिन मैंने अपने-आपको राजलक्ष्मी के हाथों सौंप दिया था, लेकिन उस दिन उस हारे हुए के इस त्याग में एक बहुत बड़ी दीनता थी—मेरा मन किसी भी तरह से इसे गवारा नहीं कर रहा था। परन्तु आज मेरा वही मन सहसा बलपूर्वक बार-बार कहने लगा, वह दान, दान नहीं, धोखा है। जिस प्यारी को तुम नहीं जानते, वह प्यारी तुम्हारी जान से बाहर पड़ी रहे, पर जो राजलक्ष्मी कभी तुम्हारी थी, आज तुम उसी को सम्पूर्ण हृदय से ग्रहण करो और जिनके हाथों से संसार की सारी सार्थकताएँ टपका करती हैं, इसकी अन्तिम सार्थकता भी उन्हीं के हाथों सौंपकर निश्चिन्त हो जाओ।

नया नौकर रोशनी लिए आ रहा था, उसे लौटाकर अँधेरे में ही बैठा रहा और मन-ही-मन बोला, राजलक्ष्मी को मैंने आज उसकी सारी अच्छाई-बुराई समेत अपना लिया। मैं इतना ही कर सकता हूँ, इतना ही मेरे वश में है—इससे ज्यादा के जो मालिक हैं, ज्यादा का भार उन्हीं पर छोड़ दिया। और, मैंने खाट के बाजू पर अपना सिर टेक दिया।

दूसरे दिन भी उसी तरह तैयारियाँ चलती रहीं और उसके बाद वाले दिन भी। दिनभर उद्यम का अन्त नहीं रहा। दोपहर को एक बहुत बड़े बक्स में लोटा-थाली, गिलास-रकाबी आदि बेहिसाब चीजें भरी जा रही थीं। मैं कमरे में बैठा सब देख रहा था। बीच में इशारे से उसे पास बुलाकर पूछा, 'यह सब हो क्या रहा है? तुम क्या लौटकर फिर आना नहीं चाहती?'

राजलक्ष्मी बोली, 'लौटकर आऊँगी कहाँ, सुनूं ज़रा?'

मुझे याद आ गया, यह घर उसने बंकू को दे दिया है। तो भी मैं बोला, 'मान लो वह जगह ज्यादा दिन न रुची, तो?'

राजलक्ष्मी ज़रा मुस्कराकर बोली, 'मेरे लिए अपना जी खराब न करो। तुम्हें न जंचे, चले आना, रोकूंगी नहीं।'

उसके कहने के ढंग से मुझे चोट पहुँची। चुप रह गया। यह मैंने सदा गौर किया है कि वह मेरे ऐसे सवालों को सीधे मन में नहीं अपना सकती। यह बात उसके मन में बैठ ही नहीं पाती कि मैं भी निश्छल भाव से प्यार कर सकता हूँ या कि उसके साथ निश्चिन्त होकर वास भी कर सकता हूँ। सन्देह के आलोड़न से समूह में अविश्वास इतना तीखा होकर उभर आता है कि बड़ी देर तक दोनों के मन में उसकी ज्वाला जलती रहती। इस अविश्वास की आग कब और कैसे बुझेगी, सोचकर कोई किनारा नहीं मिलता। वह भी इसकी खोज में निरन्तर घूमा करती है और इसका अन्तिम फैसला यह गंगामाटी करेगी या नहीं—जो इस तथ्य को जानते हैं, वे भी मौन छिपे हैं।

तैयारियों में और भी चार दिन लग गए तथा शुभ घड़ी के इन्तज़ार में और दो दिन। उसके बाद एक दिन सुबह सबेरे ही उस अपरिचित गंगामाटी के लिए हम लोग निकल पड़े। रास्ता अच्छा नहीं कटा, मन ठीक नहीं था। और रास्ता सबसे बुरा शायद रतन का कटा। वह बेतरह मुँह लटकाए गाड़ी के एक कोने में बैठा रहा, एक के बाद दूसरा स्टेशन निकलता गया, उसने किसी भी काम में कोई मदद नहीं पहुँचाई। लेकिन मैं बिल्कुल दूसरी ही बात सोच रहा था। मेरा जीवन यद्यपि आज तक निश्चिन्त नहीं बीता, इसमें बहुतेरी खामियाँ, भूल-चूक, दुःख-दीनता रही, फिर भी सब कुछ मेरा अत्यन्त परिचित था। इतने लम्बे अर्से तक उनसे मुकाबला तो कर रहिए ही, एक प्रकार का स्नेह भी हो गया है। उनके लिए मैं किसी को दोष नहीं देता, मुझे भी दोष देकर कोई समय नहीं बिगाड़ता अपना; लेकिन यह कहाँ तो एक नवीनता में निश्चित रूपेण जा रहा था, इस निश्चिन्तता ने ही मुझे बेबस कर रखा था। आज नहीं, कल—कहकर देर करने की गुंजाइश न थी जो कि इसका न तो भला जानता था, न ही बुरा। सो इसका भला-बुरा, कुछ भी आज भला नहीं लग रहा था। गाड़ी जितनी ही तेजी से मंजिल के करीब पहुँचती जा रही थी, मेरे कलेजे पर इस अज्ञात रहस्य का बोझा उतना ही जैसे सवार होता जा रहा था। अन्त नहीं कि मन में कितना क्या आने लगा। जी में आया, निकट भविष्य में मुझी को केन्द्र करके एक पिरौनी टोली बन जाएगी, जिसे न अपना सकूँगा, न टाल सकूँगा। ऐसे में क्या होगा, यह सोचते हुए भी मन बर्फ-सा जम जाने लगा। उधर ताना, राजलक्ष्मी दोनों आँखें खिड़की से बाहर फैलाए चुप बैठी थी। एकाएक मेरे मन में आया, मैंने इसे कभी प्यार नहीं किया। नहीं

किया, तो भी इसी को प्यार करना पड़ेगा, वही।
संसार में ऐसी भी विडम्बना कभी किसी के नसीब ।
दिन पहले भी दुविधा के इस दबाव से बचने के लिए।
हाथों छोड़ दिया था। बलपूर्वक मन से यह सोच लिया
बुरे के साथ मैंने अपनाया लक्ष्मी। लेकिन आज ही मेरा
विद्रोही हो उठा। अभी तो सोचता हूँ, गिरस्ती बसाने की।
कितना बड़ा व्यवधान है!

मेधिया स्टेशन जब पहुँचा, तो बेला झुक आई थी। राजलक्ष्मी के गुमाश्ता काशीराम उधर इन्तजाम में लगे रहने के कारण खुद नहीं आ सके थे, लेकिन दो-एक आदमी भेज दिए थे पत्र के साथ। उनके रुक्के से पता चला, ईश्वर की दया से उनका और गंगामाटी की कुशल है। जैसा आदेश था, चार बैलगाड़ियाँ भेजी जा रही हैं—दो खुली गाड़ी, दो टप्पर वाली। एक में पुआल तो बिछा था, चटाई नहीं थी। यह नौकर-चाकरों के लिए। खुली गाड़ियों में सामान जाएगा। ये कम हों तो आदमी बाजार से दूसरी गाड़ी ठीक कर लाएँगे। उन्होंने यह भी लिखा था कि भोजनादि करके शाम के बाद ही चल देना ठीक होगा। नहीं तो मालकिन को सोने की तकलीफ होगी। रास्ते में कोई खतरा नहीं—मजे में सो सकती हैं।

रुक्का पढ़कर मालकिन महज जरा हँसी और जिसने पत्र दिया, उससे पूछा, 'अच्छा, यह तो कहो, आस-पास कहीं कोई तालाब है, नहा लूँ जरा?'

'है क्यों नहीं माँजी। वह वहाँ...'

'चलो, जरा दिखा देना।' उसे और रतन को साथ लेकर वह स्नान के लिए चली गई। बीमार होने का खतरा बताना बेकार जान मैंने प्रतिवाद भी न किया। खासकर इसलिए कि इसी से अगर कुछ भोजन करे, रुकावट डालने से आज का खाना भी बन्द हो जाएगा।

आज लेकिन वह दसेक मिनट में ही लौट आई। गाड़ियों पर सामान लादा जा रहा था, मामूली-सा बिस्तर खोलकर डाल दिया गया। राजलक्ष्मी मुझसे बोली, 'तुम कुछ खा ही क्यों नहीं लेते? सब तो है।'

मैंने कहा, 'लाओ।'

पेड़ के नीचे आसन डालकर केले के पत्ते पर भोजन परोसने लगी, मैं उसकी ओर देख रहा था कि इतने में एक साधु ने सामने आकर आवाज दी—नारायण!'

उसके कन्धे
किया है ...कए हुए गीले बालों पर बायां हाथ लगाकर घूंघट की ओर ज़रा-सा ...कर राजलक्ष्मी ने देखा। बोली, 'पधारिए।'

ऐसे नि संकोच निमन्त्रण से मैंने मुंह घुमाकर देखा। अचम्भे में आ गया। साधु की उम्र ज्यादा न थी, बीस-इक्कीस की होगी। लेकिन जितना ही सुकुमार, उतना ही सुन्दर। कुछ दुबला-सा, शायद लम्बा था इसलिए, मगर रंग तपे सोने-सा। आंखें, चेहरा, भवें और कपाल की बनावट जैसी चाहिए, ठीक वैसे ही समझिए। सच पूछिए तो किसी पुरुष में ऐसी सुन्दरता मैंने कभी देखी है, ऐसा याद नहीं। पहनावे का गेरुआ जगह-जगह पर फटा, गाठें बँधी। गेरुआ कुरता जैसा फटा, वैसा ही फटा-चिरा पांवों का जूता। खो जाए तो दुःख की कोई बात नहीं। राजलक्ष्मी ने भूमिष्ठ होकर दण्डवत् किया और आसन लगा दिया। बोली, 'मैं भोजन का प्रबन्ध करती हूं, इतने में मुंह-हाथ धोने के लिए आपको पानी भिजवाऊं ?'

साधु बोले, 'भिजवाइए, मगर आपके पास मैं दूसरी ही जरूरत से आया था।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'आप भोजन कीजिए, फिर देखा जाएगा। घर लौटने का टिकट चाहिए न ? ले दूंगी मैं।' यह कहकर मुंह फेरते हुए अपनी हंसी छिपाई।

साधु ने गम्भीरता से कहा, 'जी नहीं, उसकी नहीं। मुझे मालूम हुआ, आप लोग गंगामाटी जा रहे हैं। मेरे साथ एक भारी बक्स है—उसे अगर आप अपनी गाड़ी पर ले लें।—मैं भी उधर ही चल रहा हूं।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'यह कौन-सी बड़ी बात है ? लेकिन आप ?'

'मैं पैदल ही जा सकूंगा। ज्यादा दूर नहीं है, छ-सात कोस होगा।'

राजलक्ष्मी ने और कुछ नहीं कहा। रतन को पुकारकर पानी देने के लिए कहा और खुद भोजन परोसने लगी। यह काम राजलक्ष्मी का नितान्त अपना था, इसमें उसका साझी नहीं।

साधु खाने बैठे। मैं भी बैठा। राजलक्ष्मी पास ही बैठी। पूछा, 'आपका नाम साधु ?'

खाते-खाते साधु ने कहा, 'वज्रानन्द।'

राजलक्ष्मी बोल उठी—'बाप रे बाप ! और पुकारने का नाम ?'

उसके ढंग से मैंने उसकी तरफ ताका। देखा, दबी हंसी से उसका चेहरा दमक उठा है, लेकिन वह हंसी नहीं। मैंने भी भोजन में ध्यान लगाया। साधु ने

कहा, 'उस नाम से अब तो कोई वास्ता रहा नहीं; अपना भी नहीं, औरों का भी नहीं।'

महज हाँ हामी भरकर राजलक्ष्मी ने कहा, 'सो तो ठीक है।' लेकिन एक ही क्षण बाद राजलक्ष्मी ने सवाल किया, 'अच्छा यह तो कहिए, घर से भागे कितने दिन हुए?'

प्रश्न बड़ा अभद्र-सा था। मैंने राजलक्ष्मी की ओर ताका। उसके चेहरे पर हँसी तो न थी, लेकिन जिस प्यारी की शक्ल मैं लगभग भूल गया था, अभी राजलक्ष्मी को देखकर तुरन्त उसी की याद आ गई। पिछले दिनों वाली सरसता उसके आँख-मुँह में, स्वर में सजीव हो गई।

साधु ने कहा, 'आपका यह कौतूहल निरर्थक है।'

राजलक्ष्मी इससे जरा भी न खीझी। भले-मानस की नाईं सिर हिलाकर बोली, 'बिल्कुल सही, मगर बात यह है कि एक बार मुझे बेहद झेलना पड़ा है न, इसीलिए' इतना कहकर उसने मेरी ओर देखकर कहा, 'हाँ जी, अपनी वह ऊँट और टट्टू वाली कहानी कहो न जरा! साधु जी को एक बार सुना दो। अहा, हा! च्-च्! कोई घर में नाम ले रहा है शायद!'

साधु शायद अपनी हँसी दबाने की कोशिश से ही सरक उठे। अब तक मुझसे एक भी बात नहीं हुई, मैं मालकिन की ओट में बहुत हद तक अनुचर-सा ही था। साधु ने गले का सरकना सम्हालकर मुझसे पूछा, 'तो आप एक बार सन्यासी'

मेरे मुँह में पूरी का कौर था, ज्यादा बोलने की गुंजाइश न थी, सो दायें हाथ की चार अंगुलियाँ उठाकर गर्दन हिलाते हुए मैंने बताया, 'उँहू, एक बार नहीं, एक बार नहीं'

अबकी साधु की गम्भीरता कायम न रह सकी, वे और राजलक्ष्मी, दोनों ही खिलखिलाकर हँस पड़े। हँसी रुकने पर साधु ने कहा, 'तो लौटे क्यों?'

मुँह के कौर को उस समय तक निगल नहीं पाया था, इसलिए सिर्फ राजलक्ष्मी का इशारा कर दिया।

राजलक्ष्मी फुफकार उठी, 'क्या खूब, मेरे लिए। खैर, एक बार मेरे ही लिए सही, वह भी सही नहीं, असल में बीमारी से लाचार होकर—लेकिन और तीन बार?'

मैंने कहा, 'वह लगभग वैसे ही, मच्छरों के मारे। चमड़े को वह बर्दाश्त ही

न हुआ। अच्छा

साधु हँसकर बोले, 'जी, मुझे आप वज्रानन्द कहकर ही पुकारें। आपका नाम '

मुझसे पहले राजलक्ष्मी ही बोल उठी, 'इनके नाम का क्या होगा ? उम्र में ये काफी बड़े हैं, इन्हें भैया ही कहें आप और मुझे भी भाभी कहें तो मैं नाराज न हूँगी। और उम्र में भी क्या, मुश्किल से पाँच छः साल बड़ी हूँगी।'

साधु का चेहरा तमतमा उठा। मैंने भी ऐसी आशा नहीं की थी। अचरज से ताका। देखा, यह वही प्यारी है। वही निर्मल, सहज, स्नेहातुरा, आनन्दमयी। यह वही थी, जिसने मुझे मसान में हर्गिज नहीं जाने देना चाहा था। और राज के संसर्ग में किसी भी तरह से टिकने नहीं दिया। यह नौजवान जाने कहाँ की स्नेह-डोरी को तोड़कर आया है—वही की अजानी पीड़ा राजलक्ष्मी के कलेजे में टीसने लगी। वह किसी भी उपाय से घर लौटना चाहने लगी।

शर्म के धक्के को सम्हालकर बेचारे साधु ने कहा,'सुनिए, भैया कहने में मुझे कोई एतराज नहीं, किन्तु सन्यासियों को यह सब कहना नहीं चाहिए।'

राजलक्ष्मी बिल्कुल अप्रतिभ न हुई। बोली, 'कहना चाहिए क्यों नहीं ? भैया की स्त्री को सन्यासिनी लोग मौसी भी नहीं कहते, फूफी भी नहीं—फिर मुझे तुम पुकारोगे और क्या कहकर ?'

निरुपाय होकर मन में क्षमीली हँसी हँसकर साधु ने कहा, 'खैर। और छः सात घण्टे आपके साथ हूँ। इसके बीच जरूरत पड़ी तो यही कहूँगा।'

राजलक्ष्मी बोली, 'तो पुकारो न एक बार!'

साधु हँस पड़े। बोले, 'जरूरत होगी तो पुकारूँगा, नाहक ही पुकारना ठीक नहीं।'

उसकी पत्तल पर और कुछ मिठाइयाँ डालकर राजलक्ष्मी ने कहा, 'ठीक है, उसी से काम चल जाएगा, लेकिन मैं तुम्हें किस नाम से पुकारूँगी, यही नहीं समझ पा रही हूँ। इन्हें तो सन्यासी जी कहा करती थी। उससे तो अब काम नहीं चलेगा। खैर, तुम्हें न हो तो साधु-देवर कहूँगी।'

साधु ने आगे तर्क नहीं किया। गम्भीरता के साथ बोले, 'खैर, वही सही।'

साधु इधर चाहे जो हों, देखा, खाने-पीने के मामले में उन्हें रसबोध है। उधर की मिठाइयों की कद्र जानते हैं और उन्होंने सबकी मर्यादा रक्खी। एक बड़े स्नेह

और जतन से एक-एक देती चली गई और दूसरे जन चुपचाप बेझिझक खाते चले गए। मैं लेकिन बेसब्र हो उठा। समझ गया, पहले चाहे जो भी करते रहे हों साधुजी, इधर इतना अच्छा भोजन इस परिमाण में पाने का उन्हें सुअवसर नहीं मिला है। और दिनों की कमी को एक ही जून में पूरा कर लेने की कोशिश करते देख देखने वाले के लिए धीरज रखना असम्भव हो उठता है। सो ज्यों ही और कुछ पेड़े, बरफी राजलक्ष्मी ने उनकी पत्तल पर डाले कि एक साथ ही मेरे नाक-मुंह से एक इतना बड़ा निश्वास निकल आया कि राजलक्ष्मी और उसके नये मेहमान, दोनों चौंक पड़े। मेरी ओर ताककर राजलक्ष्मी झट बोल उठी,'तुम बीमार आदमी, बैठे क्या हो, हाथ धोओ।'

साधुजी ने एक निगाह मुझे, एक राजलक्ष्मी को देखकर फिर मिठाई के बर्तन को देखते हुए कहा, 'दीर्घनिश्वास निकलने की बात ही है। कुछ बचा ही नहीं।'

राजलक्ष्मी ने 'और भी है' कहकर मेरी तरफ क्रोधभरी दृष्टि डाली।

ठीक इसी समय रतन ने आकर कहा,'माँजी चावल तो जितना चाहिए मिल रहा है, मगर आपके लिए दूध या दही का डौल नहीं बैठ रहा है।'

साधुजी बेचारे बेहद शर्मिन्दा होकर बोले, 'आप लोगों के आतिथ्य पर बड़ा जुल्म किया मैंने।' वे उठने लगे कि राजलक्ष्मी अकुलाकर बोल उठी, 'मेरे सिर की कसम देकर जी, जो उठे। कसम, मैं सबकुछ बिखेर दूंगी।'

जरा देर अचरज से साधुजी शायद यही सोचते रहे कि यह स्त्री कैसी है कि एक ही पल के परिचय में इतनी घनिष्ठ हो गई! राजलक्ष्मी प्यारी का इतिहास जाने बिना अचरज की बात थी! इसके बाद साधुजी तनिक मुस्कराकर बोले, 'मैं सन्यासी ठहरा, मुझे खाने में कोई हिचक नहीं, लेकिन आपको भी तो कुछ खाना चाहिए। मेरे सिर को खाने से तो वास्तव में पेट नहीं भरेगा?'

राजलक्ष्मी ने जीभ काटकर कहा, 'छि, स्त्री को ऐसा नहीं कहना चाहिए भाई। मैं दरअसल यह सब नहीं खाती, मुझे यह सब बर्दाश्त नहीं होता। नौकरों के लिए बहुत सामान है; रात ही भर की तो बात है; मुट्ठीभर चावल से काम चल जाएगा। मगर तुम अगर भूखे उठ जाओगे, तो मेरा खाना गया! इनसे पूछ देखो विश्वास न हो तो।' राजलक्ष्मी ने मुझसे अपील की। लिहाजा इतनी देर के बाद अब मुझे बोलना पड़ा। बोला, 'यह सच है, इसे मैं हलफ उठाकर कह सकता हूं। साधुजी, नाहक तर्क से कोई लाभ नहीं है भाई, बने तो

अब तक मिठाई की हाँडी खत्म नहीं होगी, सेवा चलाते रहो, नहीं तो वह अब किसी काम न आएगी। चूँकि ये चीजें रेलगाडी से आई हैं, इसीलिए ये भूख से मर ही क्यों न जाएँ, एक दाना भी नहीं खा सकती। यह राई-रत्ती ठीक है।'

साधु बोले, 'लेकिन गाडी में ये चीजें तो छुआती नहीं।'

मैंने कहा, 'इसका निबटारा मैं इतने दिनों में नहीं कर सका, तुम क्या एक ही बैठक में कर लोगे? उससे बेहतर है कि झमेला चुका ही डालो, नहीं तो सूरज डूब जाने से मुट्ठीभर चावल भी गले के पार जाने की राह न पाएगा। और फिर कुछ घण्टे तो साथ हो ही, बने तो जाते-जाते शास्त्र का विचार बनाना, उससे काम न हो चाहे, अकाज नहीं होगा। अभी जो चल रहा है, चलने।'

साधु ने पूछा, 'तब तो दिन में इन्होंने कुछ खाया ही नहीं?'

मैंने कहा, 'नहीं। फिर कल भी कुछ था, शायद थोडे-से फल-फूल के सिवाय कल भी कुछ नसीब नहीं हुआ है।'

रतन पीछे ही खडा था, गर्दन हिलाकर क्या तो कहने जा रहा था—शायद मालकिन की आँखों के इशारे से वह चुप हो गया।

साधु ने राजलक्ष्मी की ओर देखकर कहा, 'इससे आपको कष्ट नहीं होता?'

जवाब में राजलक्ष्मी सिर्फ मुस्कराई। मगर मैंने कहा, 'यह प्रत्यक्ष या अनुमान, किसी से नहीं जाना जा सकता। हाँ, मैंने अपनी आँखों जो देखा है, उससे और भी दो-एक दिन जोडा जा सकता है।'

राजलक्ष्मी ने टोका, 'तुमने आँखों देखा है? हर्गिज नहीं।'

इसका मैंने भी कोई जवाब नहीं दिया और साधुजी ने भी कोई प्रश्न नहीं किया। समय का ख्याल करके चुपचाप भोजन करके उठ पडे।

रतन तथा साथ के दो और जने के खाते-पीते शाम डूब गई। राजलक्ष्मी ने अपना क्या इन्तजाम किया, वही जाने। हम लोग जब गंगामाटी के लिए रवाना हुए, साँझ हो चुकी थी। त्रयोदशी का चन्द्रमा साफ उगा नहीं था अभी, मगर अँधेरा भी न था। सामान वाली गाडियाँ सबसे पीछे, राजलक्ष्मी की बीच में और मेरी वाली चूँकि अच्छी थी, इसलिए सबसे आगे। साधुजी से मैंने कहा, 'भैया पैदल चलने को क्या कम पडा है, जरा भर मेरी गाडी पर ही आओ न?'

साधु ने कहा, 'पास ही तो चल रहे हैं आप। न बनेगा, तो वही करूँगा।

अभी थोड़ा पैदल ही चलूं।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'तो फिर मेरा गाड़ीगार्ड होकर ही चलो देवरजी, बातें करती चलूं।' उसने साधु को गाड़ी के पास बुला लिया। मैं सामने ही रहा। गाड़ी, बैल और गाड़ीवानों के मिले-जुले उत्पात से उनकी बातों के कुछ अंश से वंचित होते हुए भी अधिकांश मैं सुन रहा था।

राजलक्ष्मी ने कहा, 'घर तो तुम्हारा इधर नहीं, अपने ही लोगों की तरफ है, यह मैं तुम्हारी बात से ही समझ गई हूँ, लेकिन आज इधर जा कहाँ रहे हो, सच-सच बताओ।'

साधु ने कहा, 'गोपालपुर।'

'गंगामाटी से यह कितनी दूर है ?'

'मैं न तो आपकी गंगामाटी को जानता हूँ, न गोपालपुर का ही पता है। लेकिन जैसा सुना, दोनों आस ही-पास होंगे।'

'तो फिर इतनी रात को गाँव ही कैसे पहचानोगे और जिनके यहाँ जाना है, उन्हीं का घर कैसे ढूंढोगे ?'

साधु जरा हँसे, फिर बोले, 'गाँव का पता लगाना ठीक न होगा, क्योंकि रास्ते पर ही शायद एक सूखा पोखरा है, उसके दक्षिण से कोस भर चलने पर ही गाँव मिल जाएगा। घर ढूंढने की जिल्लत नहीं उठानी पड़ेगी—कुछ भी जाना-चीन्हा नहीं है। भरोसा यही है कि पेड़ के नीचे तो गुंजाइश हो ही जाएगी।'

राजलक्ष्मी व्याकुल होकर बोली, 'इस सर्दी की रात में पेड़ तले ? एक मामूली-से कम्बल के सहारे ? मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती देवर जी।'

उसकी इस व्याकुलता से मुझको भी आघात लगा। साधुजी ने आहिस्ते-आहिस्ते कहा, 'हमें तो घर-द्वार है नहीं, हम तो पेड़ तले ही रहा करते हैं दीदी।'

अब की राजलक्ष्मी भी थोड़ा चुप रहकर बोली, 'लेकिन दीदी की नजरों के सामने नहीं। हम रात को भाइयों को ऐसी जगह नहीं भेजती, जहाँ आश्रय न हो। आज तुम हमारे साथ चलो, कल मैं ही तुम्हें उपाय करके भेज दूंगी।'

साधु चुप रहे। राजलक्ष्मी ने रतन को बुलाकर कह दिया, उससे पूछे बिना गाड़ी से कोई सामान उतारा न जाए। यानी सन्यासी जी के सामान पर रोक लगा दी गई।

मैंने कहा, 'सर्दी में कष्ट करने की जरूरत क्या है भाई, मेरी गाड़ी पर आ

जाइए।'

साधु ने कुछ सोचकर कहा, 'अभी रहने दीजिए, दीदी से बातें करता चलूं।'

मैंने सोचा, क्यों नहीं! नये सम्बन्ध को न मानने का ही द्वन्द्व साधुजी के मन मे चल रहा था, यह मैंने गौर किया था, अन्त तक बच नही सके। अचानक जब उन्होंने अंगीकार कर लिया, तो बहुत बार मेरे जी मे आया कि कहूँ, भैया, चल ही देते तो ठीक था। कही मेरा जैसा हाल न हो। लेकिन चुप ही रहा।

दोनो की बातें बेरोक-टोक चलती रही। गाड़ी के झकोलो और तन्द्रा से बीच-बीच मे उनकी बातो का लगाव टूट जाने के बावजूद कल्पना के सहारे उसे पूरा करते हुए चलने में मेरा भी समय बुरा नही कटा।

शायद मुझे झपकी आ गई थी, अचानक कानों में आया, 'अच्छा आनन्द, तुम्हारे इस बक्से मे क्या है भाई?'

उत्तर मिला, 'कुछ किताबें और दवा-दारू है दीदी।'

'दवा-दारू? तुम क्या डाक्टर हो?'

'मैं सन्यासी हूँ। आपने सुना नही, आपकी तरफ कितने [illegible] का हैजा है?'

'नहीं तो।' गुमाश्ता ने यह तो नही बताया। अच्छा देवरजी, आप हैजा ठीक कर सकते हो?'

थोड़ा चुप रहकर साधुजी बोले, 'चंगा करने के मालिक तो हम नहीं हैं दीदी, हम दवा-दारू से कोशिश भर करते है—लेकिन कोशिश की भी जरूरत है, यह भी उन्हीं का हुक्म है।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'यह ठीक है कि सन्यासी भी दवा दिया करते हैं, पर दवा देने के लिए ही तो सन्यासी नहीं बनना चाहिए। अच्छा, तुम क्या इसी के लिए सन्यासी बने हो भाई?'

साधु ने कहा, 'यह ठीक नहीं जानता दीदी। हाँ, देश की सेवा करना भी हमारा एक व्रत है।'

'हमारा? यानी तुम लोगो की एक जमात है?'

साधु ने जवाब नही दिया, चुप रहे। राजलक्ष्मी ने फिर कहा, 'लेकिन सेवा करने के लिए सन्यासी बनने की तो जरूरत नहीं पड़ती भाई। यह मति-गति तुम्हें किसने दी?'

साधु ने शायद इस सवाल का भी जवाब नहीं दिया, क्योंकि कुछ देर तक किसी की कोई बात नहीं सुनाई पड़ी। दसेक मिनट के बाद साधुजी की आवाज सुनाई पड़ी, 'दीदी, मैं बड़ा तुच्छ संन्यासी हूँ, मुझे यह नाम न भी दो तो हर्ज नहीं। मैंने तो सिर्फ अपना कुछ भार उतारकर उसकी जगह दूसरे का बोझा उठा लिया है।'

राजलक्ष्मी बोली नहीं। साधु कहने लगे, 'मैं लगातार देखता आ रहा हूँ, आप मुझे घर लौटाने की ही कोशिश करती आ रही हैं। नहीं जानता क्यों, शायद दीदी होने के नाते, लेकिन जिनका भार लेकर हम लोगों ने घर छोड़ा है, वे कितने कमजोर हैं, कितने बीमार, कैसे असहाय और तादाद में कितने हैं, एक बार यह जान लें तो यह बात ख्याल में भी नहीं ला सकती।'

राजलक्ष्मी ने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया, मगर मैंने समझ लिया, 'जो प्रसंग उठ आया है, इससे दोनों के मन और मत में मेल होने में देर नहीं लगेगी। साधुजी ने भी जगह पर ही चोट की। देश की भीतरी दशा, इसके सुख-दुःख, अभाव को मैं खुद भी कुछ कम नहीं जानता, परन्तु ये संन्यासी जो भी हों, इन्होंने कम ही उम्र में हमसे कहीं ज्यादा गहराई से तथा कहीं बड़े हृदय से देखकर उसे अपना लिया है। सुनते-सुनते आँखों की नींद पानी हो गई और क्षोभ-खीझ, दुःख-दर्द से कलेजा मथने लगा। उस गाड़ी के अँधेरे कोने में बैठी राजलक्ष्मी ने कोई प्रश्न नहीं पूछा, बात पर कोई बात नहीं कही। उसकी इस चुप्पी से साधुजी ने क्या सोचा, वही जानें, किन्तु इस एकान्त निस्तब्धता का पूरा अर्थ मुझसे छिपा न रहा।

देश, यानी जहाँ देश की चौदह आने आबादी बसती है, साधुजी उन्हीं गाँवों की कहानी कहने लगे। देश में पानी नहीं, प्राण नहीं, स्वास्थ्य नहीं—जंगल-झाड़ियों से जहाँ धूप-हवा की राह बन्द है, जहाँ ज्ञान नहीं, शिक्षा नहीं, धर्म जहाँ बिगड़ा हुआ, पथभ्रष्ट और मृत-सा है—जन्मभूमि के उस दुःख का ब्योरा छापे के हरूफों में भी पढ़ चुका हूँ, आँखों भी देखा है, लेकिन यह न रहना जो कितना बड़ा न रहना है, इसे मानो इससे पहले मैं जानता ही नहीं था। मानो आज से पहले मुझे इसकी धारणा ही नहीं थी कि देश का यह दैन्य कितनी बड़ी दीनता है। सूखे सुनसान मैदान से हम जा रहे थे, रास्ते की धूल ओस से भारी हो उठी थी—उसी पार गाड़ियों के पहिये और बैलों के खुरों की आवाज कभी-कभी सुनाई पड़ रही

थी—जहाँ तक नजर जा रही थी, चाँदनी पीली होकर बिखर पड़ी थी। ऐसे ही माहौल में हम धीर-मन्थर गति से अजाने की ओर निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। अनुचरों में से कौन जगा था और कौन सो रहा था, पता नहीं—सर्दी की वजह से सभी कपड़े ओढ़कर चुप थे। अकेले एक सन्यासी ही हम लोगों का साथ दे रहे थे और इस घोर सन्नाटे में उन्हीं के मुँह से देश के अज्ञात भाई-बहिनों का इतिहास मानो रह-रहकर जलते हुए निकल रहा था। सोने की यह मिट्टी कैसे सूखी और सूनी हो गई, देश की हालत कैसे विदेशियों के जरिये विदेश चली गई, कैसे मातृ-भूमि के मेद-मज्जा-रक्त का विदेशियों ने शोषण किया—उसका जलता हुआ इतिहास मानो एक-एक करके आँखों के सामने प्रत्यक्ष खड़ा कर देने लगा।

सहसा साधु ने राजलक्ष्मी को सम्बोधन करके कहा, 'लगता है, मैं तुम्हें पहचानता हूँ दीदी। जी में आता है, तुम जैसी स्त्रियों को जाकर एक बार तुम्हारे ही भाई-बहनों को दिखा लाऊँ।'

राजलक्ष्मी पहले तो कुछ कह नहीं सकी, उसके बाद टूटे स्वर से बोली, 'यह सुअवसर क्या मुझे मिल सकता है आनन्द? मैं यह कैसे भूल सकती हूँ कि मैं औरत हूँ।'

साधु ने कहा, 'मिल क्यों नहीं सकता दीदी? और तुम अगर यही भूल जाओ कि तुम औरत हो, तो तुम्हें वह सब दिखाकर लाभ भी क्या?'

तीन

साधु ने पूछा, 'गंगामाटी क्या तुम्हारी जमींदारी है दीदी?'

राजलक्ष्मी जरा हँसकर बोली, 'देख क्या रहे हो भाई, हम लोग बहुत बड़े जमींदार हैं।'

इसका जवाब देने में साधु हँस पड़े। बोले, 'बहुत बड़ी जमींदारी लेकिन बहुत बड़ा सौभाग्य नहीं है, दीदी।"

उनकी बातों से उनकी सांसारिक अवस्था पर मुझे एक तरह का सन्देह हुआ, लेकिन राजलक्ष्मी उस ओर ही नहीं गई। उसने सरल भाव से तुरन्त क्बूल कर

लिया कि यह बात दुरुस्त है आनन्द। यह सब जितना ही जाता रहे, उतना ही अच्छा।'

'अच्छा दीदी, इनके चंगा होते ही तुम लोग फिर शहर लौट आओगे?"

'लौट आऊँगी? लेकिन आज तो यह बड़ी दूर की बात है, भाई।'

साधु ने कहा, 'अगर बन पड़े तो लौटना मत दीदी। इन गरीब बदनसीबों को छोड़कर तुम लोग चली गई हो, इसीलिए उनका दुःख चौगुना बढ़ गया है। जब यहाँ थीं, तब भी तुम लोगों ने इन्हें कष्ट नहीं दिया, यह भी नहीं, लेकिन दूर रहकर ऐसा निर्मम दुःख नहीं दे सकीं। उस समय जैसे दुःख दिया, वैसे ही दुःख का हिस्सा भी बँटाया। देश का राजा अगर देश में ही वास करे तो शायद देश का दुःख ऐसा लबालब न हो उठे। यह लबालब का मतलब क्या होता है—अपनी शहरी जिन्दगी के आहार-विहार की पूर्ति में अभाव और अपव्यय क्या होता है, इसे अगर आँख खोलकर एक बार देख सको दीदी'

'अच्छा आनन्द, घर के लिए तुम्हारा जी कैसे नहीं करता?'

साधु ने संक्षेप में कहा, 'नहीं।' उस बेचारे ने नहीं समझा, मगर मैं ताड़ गया कि राजलक्ष्मी प्रसंग को दबा गई, महज इसीलिए कि उससे बर्दाश्त नहीं हो रहा था।

कुछ देर चुप रहकर राजलक्ष्मी पीड़ित स्वर में बोली, 'घर में तुम्हारे कौन-कौन हैं?'

साधु बोले, 'घर तो अब मेरा है नहीं।'

राजलक्ष्मी फिर कुछ देर चुप रहकर बोली, 'अच्छा आनन्द, इस उम्र में सन्यासी बनकर तुम्हें शान्ति मिली है?'

साधु ने कहा, 'सन्यासी की इतना लोभ? नहीं दीदी, मैंने सिर्फ औरों के दुःख का भार उठाना चाहा है, वही सिर्फ मिला है।'

राजलक्ष्मी फिर चुप रही। साधु ने कहा, 'वे शायद सो गए, अब जरा उनकी गाड़ी पर जाकर बैठूं। अच्छा दीदी, कभी अगर दो-चार दिन के लिए तुम लोगों का अतिथि बनूं तो वे नाराज होंगे?'

राजलक्ष्मी हँसकर बोली, 'वे कौन? तुम्हारे भैया?'

साधुजी मृदु हँसकर बोले, 'वही सही।'

राजलक्ष्मी ने पूछा, 'मगर तुमने यह तो नहीं पूछा कि मैं नाराज होऊँगी या

नहीं ? अच्छा, चलो गंगामाटी, तब विचार होगा इसका।'

साधुजी क्या बोले सुन नहीं पाया। शायद कुछ भी नहीं बोले। जरा देर में मेरी गाड़ी के ऊपर आकर बोले, 'आप क्या जग ही रहे हैं ?'

मैं जग ही रहा था, लेकिन कुछ बोला नहीं। मेरी बगल में ही अपना फटा कम्बल ओढ़कर वे लेट गए। एक बार जी में आया कि थोड़ा खिसककर उनके लिए सहूलियत की जगह कर दूं, लेकिन हिलने-डुलने से कहीं उन्हें सन्देह न हो कि मैं जग ही रहा हूं या मेरी नींद खुल गई और फिर इस गहरी रात में फिर से देश की गम्भीर समस्याएं न छिड़ जाएं, इस डर से दया दिखाने की कोशिश तक न की।

गाड़ी कब गंगामाटी में दाखिल हुई, मैं नहीं जान सका। पता तब चला, जब वह हमारे नये मकान के दरवाजे पर रुकी। सवेरा हो गया था। चार-चार गाड़ियों की हलचल से भीड़ भी कुछ कम नहीं इकट्ठी हुई। रतन की कृपा से पहले ही सुन चुका था कि गांव यह खास तरह से छोटे लोगों का है। देखा, गुस्से में उसने कुछ झूठ नहीं कहा था। जाड़े की भोर में भी नंगे और अधनंगे कोई पचास-साठ बच्चे नींद से जगते ही तमाशा देखने आ धमके थे। पीछे उनके मां-बापों की जमात भी झांक रही थी। इनके चेहरे और पहनावे से इनकी कुलीनता के बारे में और जिसके मन में जो भी हो चाहे, रतन के मन में शायद सन्देह का लेश भी नहीं रहा। उसकी शक्ल खीझ और गुस्से से बर्रे के छत्ते-जैसी खौफनाक हो उठी। मालकिन को देखने की ललक से कुछ बच्चे बहुत करीब सटे आ रहे थे, रतन ने ऐसे भयंकर ढंग से उन्हें देखा कि दोनों गाड़ीवान सामने न होते, तो फसाद ही खड़ा हो जाता। रतन को इसमें जरा भी शर्मिन्दगी नहीं महसूस हुई। मेरी तरफ ताककर बोला, 'इन कमबख्तों की मौत, इन नाचीजों की हरकत देख रहे हैं बाबूजी, लगता है जैसे रथयात्रा या होली का तमाशा देखने आए हैं ! हम लोगों-जैसे भले लोग क्या यहां रह सकते हैं ? छू-छाकर सब एक कर देगा।'

यह छू वाली बात सबसे पहले राजलक्ष्मी के कानों में पहुंची। उसका चेहरा मानो अप्रसन्न हो उठा।

साधुजी अपना बक्सा उतारकर हाथ में एक लोटा लिए और जो लड़का सामने मिल गया, उसी का हाथ पकड़कर बोले, 'भैया कोई अच्छा तालाब-पोखर हो तो एक लोटा पानी ला दो—चाय पीनी है।' लोटा उसके हाथ में थमाकर

सामने खड़े एक प्रौढ़-से आदमी से बोले, 'जरा यह तो कहो, आसपास गाय किसके है। छटाँकभर दूध माँग लाऊँ। गाँव का ताजा और शुद्ध दूध, चाय का रंग ऐसा खासा आएगा कि पूछो मत दीदी!' उन्होंने एक बार मुझ पर फिर अपनी दीदी पर निगाह रोपी। दीदी ने उनके उत्साह में लेकिन कतई साथ नहीं दिया। अप्रसन्न मुखड़े से बोली, 'रतन, जरा लोटा मलकर एक लोटा पानी तो ले आ।'

रतन के मिजाज की पहले ही कह चुका हूँ। इस पर जब एक कहाँ के साधु के लिए कौनसे अजाने तालाब से पानी लाने का हुक्म हुआ तो वह आपे से बाहर हो गया। तुरन्त उसका गुस्सा उससे भी छोटे उस अभागे बालक पर भभक पड़ा। उसे जोरों से डाँटकर बोल उठा, 'कम्बख्त, पाजी कहीं का! लोटा तूने छुआ क्यों! चल हरामजादा, लोटे को मलकर पानी में डुबो देना।' और आँख-मुँह की भंगिमा से ही वह मानो उस लड़के को ढकेलते हुए ले गया।

उसकी करतूत से साधु हँसे, मैं भी हँसा। राजलक्ष्मी आप भी शर्म से मुस्कराती हुई बोली, 'गाँव में तो हलचल मचा दी आनन्द! साधुजी को रात बीतते न बीतते ही चाय चाहिए, क्यों?'

साधु बोले, 'गृहस्थों के लिए रात न बीती हो तो क्या अपनी भी न बीते? खूब कही! लेकिन दूध का इन्तजाम तो करना ही है। अच्छा, अन्दर चलकर घर में देखा जाए, चूल्हा; लकड़ी-वकड़ी है या नहीं! अरे ओ भाई, चलो जरा दिखा देना गाय किसके यहाँ है। दीदी, कल वाली हाँडी में मिठाई कुछ है बची-खुची कि रात के अँधेरे में चट कर गईं?'

राजलक्ष्मी हँस पड़ी। दो-चार औरतें खड़ी थीं, उन्होंने भी अपना मुँह घुमा लिया।

इतने में गुमाश्ता काशीराम कुशारी जी जल्दी-जल्दी आए। साथ में तीन-चार आदमी। किसी के सिर पर सब्जी भरी टोकरी, किसी के हाथ में दूध का मटका, दही की हाँडी और किसी के हाथ में बड़ी रोहू मछली। राजलक्ष्मी ने उसको प्रणाम किया। आशीर्वाद के साथ-साथ वे जरा-सी देर हो जाने की तरह-तरह की कैफियत देने लगे। आदमी वे मुझे अच्छे ही लगे। उम्र पचास से ज्यादा ही। कुछ दुबले-से दाढ़ी-मूँछ घुटी हुई—रंग गोरा ही कहिए। मैंने उन्हें नमस्ते किया। उन्होंने प्रतिनमस्कार किया। लेकिन साधुजी इन शिष्टाचारों के पास भी न फटके। उन्होंने सब्जी की टोकरी उतारकर तरकारियों का विश्लेषण करके

खासी तारीफ की। दूध खालिस है, इस पर अपनी राय जाहिर की और मछली के वजन का अन्दाजा लगाकर उसके स्वाद के बारे में सबको बतला दिया।

साधुजी के आने की गुमाश्ता जी को पहले कोई खबर नहीं थी—उन्हें कौतूहल हुआ। राजलक्ष्मी बोली, 'सन्यासी देखकर खौफ न खाएँ कुशारी जी, यह मेरा भाई है।' जरा हँसकर धीमे से कहा, 'बार-बार गेरुआ छुड़ाना मानो मेरा काम ही हो गया है।'

साधुजी ने इसे सुना। बोले, 'यह काम उतना आसान न होगा दीदी।' और, कटाक्ष से मुझे देखकर वे मुस्कराए। इसका मतलब मैंने भी समझा, राजलक्ष्मी ने भी। जवाब में वह लेकिन जरा मुस्कराकर बोली, 'खैर, वह देखा जाएगा।'

घर के अन्दर जाने पर देखा गया, कुशारी जी ने व्यवस्था बेजा नहीं कर रक्खी है। बड़ी जल्दी में सब कुछ करना था, इसलिए खुद हट गए थे और पुरानी कचहरी को ही थोड़ी-बहुत इधर-उधर करके रहने लायक कर दिया। रसोई और भण्डार के सिवा सोने के दो कमरे थे। घर मिट्टी का ही था, फूस की छौनी, मगर काफी ऊँचा और बड़ा। बाहर की बैठक भी खासी। आँगन साफ-सुथरा और माटी की दीवारों से घिरा। एक तरफ छोटा-सा कुआँ, उससे कुछ ही दूर पर टगर और हरसिंगार के दो-तीन पेड़। एक तरफ तुलसी के पौधे, जूही और मल्लिका की लता—कुल मिलाकर जगह से तृप्ति-सी हुई।

सबसे ज्यादा उत्साह सन्यासी जी में देखा गया। जिस चीज पर भी उनकी नजर पड़ी, उसी में लुग हो उठने लगे जैसे इसे और कभी देखा ही न हो। मैंने शोर जरूर नहीं मचाया, पर मन-ही-मन खुश हुआ। राजलक्ष्मी अपने भाई के लिए रसोई में चाय तैयार कर रही थी उसके चेहरे का भाव आँखों में न देखा जा सका, पर मन का भाव तो किसी से छिपा न था। इस खुशी में शामिल न था, तो बस रतन। वह उसी तरह मुँह लटकाए एक खूँटी से टिका बैठा रहा।

चाय बन जाने पर कल की बची मिठाइयों के सहारे चाय के दो प्याले चुपचाप खत्म करके साधुजी उठे और मुझसे कहा, 'चलिए न, जरा घूमकर बस्ती को देख आएँ। तालाब भी दूर नहीं है, नहा भी लिया जाएगा। चाहिए न दीदी, जमींदारी परिदर्शन कर लें। लगता है, गाँव में सम्भ्रान्त लोग ज्यादा नहीं ही हैं, दामनि की बात नहीं। जायदाद अच्छी है, देखकर लोभ लगता है।'

राजलक्ष्मी ने हँसकर कहा, 'जानती हूँ, सन्यासियों का स्वभाव ही ऐसा होता है।'

हमारे साथ रसोइया ब्राह्मण तथा और भी एक नौकर आया था। वे रसोई की व्यवस्था में लगे थे। राजलक्ष्मी ने कहा, 'महाराज जी, इतनी अच्छी मछली को आप पर छोड़ने का भरोसा नहीं होता। नहा आऊँ, मैं ही पका लूँगी।' और वह हम लोगों के साथ चलने की तैयारी करने लगी।

रतन अब तक हमारी किसी बात या काम में साथ नहीं दे रहा था। हम लोग जब निकलने लगे, तो उसने बहुत ही धीर-गम्भीर स्वर में कहा, 'माँ जी तालाब या पोखरा, क्या तो इस मुए देश के लोग कहते हैं—आप उसमें न नहाएँ। बेतरह जोंक है—एक एक हाथ की।'

राजलक्ष्मी का चेहरा तुरन्त उतर गया—'अच्छा, इधर बेहिसाब जोंक है क्या रतन?'

रतन ने गर्दन हिलाकर कहा, 'जी माँजी, यही तो सुना।'

साधुजी फटकार उठे, 'जी हाँ, खूब सुन आए! कम्बख्त नाई ने सोच-विचार खासी तरकीब निकाली!' उसके मन के भाव और जात के बारे में साधु ने पहले ही पता लगा लिया था। हँसकर बोले, 'इसकी बातों में न आएँ दीदी, चलिए। जोंक है या नहीं, इसकी जाँच हम पर ही हो जाएगी।'

लेकिन साधुजी की दीदी एक कदम भी न बढ़ी, जोंक के नाम से ही अचल हो गई। कहा, 'न हो तो आज छोड़ ही दो आनन्द। नई जगह है। सब जाने-सुने बिना दुस्साहस करना ठीक नहीं। रतन तू उठ, कुएँ से दो घड़ा पानी यहीं ला दे।' मुझे हुक्म हुआ, 'तुम बीमार हो, इधर-उधर मत नहा लेना। घर ही दो लोटा पानी सिर पर डालकर आज काम चला लो।'

साधु ने हँसकर कहा, 'तो क्या उपेक्षा के लायक सिर्फ मैं ही हूँ दीदी कि मुझी को उस जोंक वाले पोखरे में भेजे दे रही हो?'

बात खास कुछ थी नहीं, मगर इतने ही में राजलक्ष्मी की दोनों आँखें छलछला उठीं। थोड़ी देर तक चुपचाप स्निग्ध दृष्टि से उसे मानो अभिषिक्त करके बोली, 'तुम आदमी के हाथ से बाहर जो हो, भाई! जिसने माँ-बाप की नहीं सुनी वह क्या एक अजानी अनचीन्ही बहन की बात रखेगा!'

साधु जाते-जाते सहसा रुक गए। बोले, 'यह अजानी अनचीन्ही तो न कहें

दीदी, आप लोगों को पहचानने के लिए ही तो घर से निकला हूँ, वरना जरूरत ही क्या थी ?' यह कहकर वे जरा तेजी से निकल पड़े—मैं भी उनके पीछे हो लिया।

दोनों ने अच्छी तरह घूम-घूमकर गाँव को देख लिया। छोटा ही था गाँव और हम लोग जिन्हें छोटे लोग कहते हैं, उन्हीं का था। वास्तव में दो-एक घर बरई और एक घर बढ़ई के सिवा गंगामाटी में ऐसा कोई न था, जिसके हाथ का पानी चलता हो। डोम और बावरी ही थे सब। बावरी बेंत का काम और मजदूरी करते तथा डोम सूप-डलिया बनाते और पोड़ामाटी में उन्हें बेचकर अपना गुजारा चलाते। गाँव के उत्तर जो नाला था, उसके उस पार था पोड़ामाटी गाँव। पता चला, वह गाँव काफी बड़ा है और उसमें ब्राह्मण-कायस्थों के काफी घर हैं। अपने कुशारी जी का घर भी वहीं है। खैर, दूसरे की बात फिर होगी, फिलहाल अपने गाँव की जो हालत नजर आई, उससे आंसू से आँखें धुंधली हो उठीं। अपने घरों को बेचारों ने भरसक छोटा ही बनाया था, तो भी उतने छोटे घरों को भी पूरी तरह छाने लायक काफी पुआल इस सोने के बंगाल में उन्हें नसीब नहीं हुआ! एक धूर भी जमीन किसी के पास नहीं थी, केवल सूप-डलिया बुनकर दूसरे गाँव में उसे पानी के मोल बेचकर उनके दिन कैसे गुजरते हैं, मैं सोच नहीं सका। लेकिन तो भी इन अछूतों के दिन इसी तरह चल रहे हैं और शायद ऐसे ही इतने दिन सदा चले हैं, पर किसी ने कभी इसका ख्याल तक नहीं किया। जैसे रास्ते का कुत्ता पैदा होकर जैसे-तैसे कुछ वर्षों तक जीकर कहीं कैसे मर जाता है, इसका कोई लेखा-जोखा नहीं रखता—वैसे ही इन अभागों का भी इससे ज्यादा कोई दावा देश पर नहीं। इनके दुःख इनकी दीनता, इनकी सब प्रकार की हीनता अपने और दूसरों के लिए इतनी सहज और स्वाभाविक हो गई है कि मनुष्य के पास मनुष्य की इतनी बड़ी लांछना से कहीं भी किसी के मन में जरा भी शर्म नहीं।

मगर मैं यह नहीं जानता था कि साधु मेरे चेहरे पर गौर कर रहे हैं। वे अचानक बोल उठे, 'देश की असली तसवीर यही है भैया, लेकिन मायूस होने की बात नहीं। आप सोच रहे हैं, शायद यह सब इन्हें दुःख दम पीड़ा देते हैं, मगर बिल्कुल नहीं।'

मैं क्षुब्ध और बहुत ही चकित होकर बोला, 'यह कैसी बात हुई साधुजी ?'

साधु ने कहा, 'हम लोगों की तरह आप अगर तमाम घूमते-फिरते होते तो समझते कि मैंने सचमुच सच ही कहा है, दुःख को दरअसल भोगता कौन है, मन

ही तो ? मगर मन को हमने इनमें रहने कहाँ दिया है ? बहुत दिनों के निरन्तर दबाव से मन को हमने निचोड़कर बिल्कुल निकाल दिया है। अब तो ये खुद ही इससे ज्यादा चाहने को अन्याय स्पर्द्धा समझते हैं। अलबत्! हमारे बाप-दादे सोच-विचारकर कैसा यन्त्र ईजाद कर गये थे!' इतना कहकर साधु नितान्त निष्ठुर जैसे ठठाकर हँस पड़े। मैं उनकी हँसी में साथ न दे सका और उनकी बात का ठीक-ठीक मतलब न समझने के कारण लज्जित भी हुआ।

इस साल फसल अच्छी नहीं हुई, पानी की कमी से हेमन्त का धान लगभग आधा सूख गया और इसी बीच अभाव की हवा बहने-सी लगी थी। साधु बोले, 'भैया, चाहे जिस बहाने से ही हो, भगवान ने जब आपको आपकी प्रजा के बीच भेज ही दिया है तो अचानक चल मत दीजिए, कम-से-कम इस साल तो यहाँ रह लीजिए। ऐसा तो नहीं सोचता कि आप लोग विशेष कुछ कर सकेंगे, लेकिन नजरों से भी रियाया के कष्ट का हिस्सा लेना अच्छा है, उससे जमींदारी के पाप का बोझा कुछ हद तक हलका होता है।'

मैंने एक लम्बी उसाँस भरकर सोचा, जमींदार और रियाया, दोनों ही अपनी हैं, लेकिन जैसे पहले कोई जवाब नहीं दिया, वैसे ही इस बार भी चुप रह गया।

छोटे-से गाँव का चक्कर काटकर नहा-धोकर जब लौटा तो बारह बज चुके थे। कल की तरह आज भी हम दोनों को भोजन के लिए बिठाकर राजलक्ष्मी पास ही बैठी। रसोई उसने खुद ही बनाई थी, लिहाजा रोहू का माथा और दही की मलाई साधुजी के हिस्से पड़ी। साधुजी थे तो वैरागी, परन्तु सात्विक और असात्विक, आमिष और निरामिष, किसी चीज में उनका विराग नहीं दिखाई पड़ा, बल्कि उन्होंने ऐसे प्रचण्ड अनुराग का परिचय दिया जो घनघोर दुनियादार के लिए भी दुर्लभ है। अच्छी-बुरी रसोई के समझदार के नाते अपना कोई नाम भी न था, और न समझाने का कोई आग्रह ही रसोईदारिन ने जाहिर किया।

साधु को जल्दी नहीं थी—बहुत ही धीरे-धीरे खाते। चबाते हुए बोले, 'दीदी, जायदाद वास्तव में बड़ी अच्छी है, छोड़कर जाने में माया होती है।'

राजलक्ष्मी बोली, 'छोड़कर जाने के लिए तो हम तुम्हें तंग भी नहीं कर रहे हैं।'

साधु ने मुस्कराकर कहा, 'साधु फकीर को इतना प्रश्रय हर्गिज न दें, दीदी; धोखा खाएँगी। खैर जो भी हो, गाँव अच्छा है; एक भी ऐसा आदमी नजर नहीं

आया, जिससे पानी छुआ जाए ! एक भी ऐसा नहीं मिला, जिसके छप्पर पर साबित पुआल पड़ा हो।—मुनियों का आश्रम हो गया !'

एक ओर इन अछूतों के घर का आश्रम से जो उत्कट सादृश्य था, उसे सोचते हुए एक क्षीण-सी हँसी हँसकर राजलक्ष्मी ने मुझसे कहा, 'सुना, सच ही क्या तो इस गाँव में सिर्फ छोटी कौम के लोगों का ही वास है—एक लोटा पानी की भी किसी से उम्मीद नहीं। लगता है, ज्यादा दिन यहाँ रहना न हो सकेगा।'

साधु जरा हँसे, मैं लेकिन चुप रहा। क्योंकि राजलक्ष्मी जैसी दयामयी नारी भी किस संस्कारवश इतनी बड़ी मर्मभेद बात मुँह से निकाल सकी, मैं यह जानता था। साधु की हँसी मुझे छू गई, पर चुभी नहीं। इसी से क्षोभ जरूर नहीं, मगर मेरा मन उस राजलक्ष्मी को ही लक्ष्य करके भीतर-ही-भीतर कहने लगा, लक्ष्मी, मनुष्य का कर्म ही केवल अस्पृश्य और अपवित्र होता है, मनुष्य नहीं। ऐसा न होता तो आज प्यारी से लक्ष्मी के आसान पर नहीं विराज सकती। और ऐसा सिर्फ इसीलिए सम्भव हो सका, क्योंकि मैंने मनुष्य को मात्र मनुष्य की देह समझने की भूल कभी नहीं की। मेरा यह कसौटी बचपन से बहुत बार हो चुकी थी। लेकिन जबान खोलकर उसे यह कहने का उपाय न था—कहने की अब प्रवृत्ति भी नहीं थी अपनी।

भोजन करके दोनों उठे। हमें पान देकर राजलक्ष्मी शायद स्वयं भी कुछ खाने गई। लेकिन लगभग घण्टेभर बाद लौटकर वह खुद भी साधुजी को देखकर जैसे आसमान पर से गिर पड़ी, वैसे ही मैं भी अचरज में आ गया। देखता क्या हूँ, इस बीच वह तो वे बाहर जाकर आदमी ले आए हैं और दवा वाले उस वजनी बक्से को उसके सिर पर लादकर जाने को तैयार खड़े हैं।

कल तो यही हुआ था, लेकिन आज उसे हम लोग बिल्कुल भूल गए थे। सोच भी नहीं सका था कि इस प्रयास में राजलक्ष्मी के इतने आदर-जतन की उपेक्षा करके साधुजी अनिश्चित कहीं जाने को इतनी जल्दी तैयार हो जाएँगे। स्नेह की जंजीर इतनी आसानी से नहीं टूटने की—राजलक्ष्मी को शायद मन में यही आशा थी, वह भय से व्याकुल होकर बोल उठी, 'तुम क्या जा रहे हो आनन्द ?'

साधु बोले, 'हाँ दीदी—चलूँ। अभी ही न निकल पड़ने से पहुँचने में बहुत रात हो जाएगी।'

'वहाँ कहाँ रहोगे, कहाँ सोओगे ? अपना तो वहाँ कोई है नहीं ?'

'पहले वहां पहुंच तो लूं दीदी !'

'लौटोगे कब ?'

'यह तो अभी नहीं कहा जा सकता। काम की झोंक में आगे न निकल जाऊं तो किसी दिन लौट भी सकता हूं।'

राजलक्ष्मी का चेहरा पहले तो फक् हो गया फिर सिर को एक बार जोर से हिलाकर रुंधे स्वर से बोल उठीं, 'किसी दिन लौट भी सकते हो ? नहीं, यह हर्गिज न होगा !'

क्या न होगा, यह साफ समझ में आया। इसीलिए साधुजी जरा फीकी हंसी हंसकर बोले, 'जाने की वजह तो बता ही चुका हूं, दीदी !'

'बता चुके हो ? अच्छा तो जाओ।'—इतना कहकर राजलक्ष्मी रुआंसी-सी हो वेग से कमरे के अन्दर चली गई। जरा देर के लिए साधुजी रुके रह गए। उसके बाद मेरी ओर ताकते हुए शर्माए-से बोले, 'मेरा जाना बहुत जरूरी है।'

मैंने सिर हिलाकर सिर्फ यह कहा, 'जानता हूं।' इससे ज्यादा कहने को कुछ था नहीं। क्योंकि मैंने बहुत देखकर यह जाना है कि स्नेह की गहराई समय की स्वल्पता से नहीं मापी जा सकती, और कविगण इस चीज की कविता के लिए शून्य कल्पना ही नहीं करते—दुनिया में वास्तव में यह होता है। इसीलिए एक के जाने की जरूरत जितनी सत्य है, दूसरी के केवल स्वर की मनाही भी उतनी ही सत्य है या नहीं, इस पर मेरे मन में जरा भी सन्देह का उदय नहीं हुआ। मैं सहज ही समझ गया इसके लिए शायद हो कि राजलक्ष्मी को बेहद पीड़ा उठानी पड़े।

साधुजी बोले, 'मैं चलता हूं। उधर का काम खत्म हो जाए, तो आ भी सकता हूं फिर, लेकिन अभी यह कहने की जरूरत नहीं।'

मैंने वही मान लिया। कहा, 'वैसा ही होगा।'

साधुजी क्या तो कहने जा रहे थे कि कमरे की ओर ताककर एक बार निश्वास छोड़ते हुए जरा हंसे, उसके बाद बोले, 'यह बंगाल भी अजीब देश है। इसकी घाट-बाट में मां-बहनें हैं—क्या मजाल कोई इन्हें टालकर जा सके ?' यह कहकर वे धीरे-धीरे बाहर निकल पड़े।

उनकी बात मुझसे सुनकर भी दीर्घ निश्वास छूटा। लगा बात ठीक है ! देश की तमाम मां-बहनों की वेदना ने जिसे दुखाकर घर से बाहर निकाला है,

उसे एक बहन का नेह, दही की मलाई और रोहू का माथा पकड़कर कैसे रख सकता है ?

चार

साधुजी तो मजे में चले गए। उनकी विरह-वेदना रतन को कैसे लगी, यह पूछा जरूर नहीं गया, शायद बहुत मारक नहीं लगी, लेकिन दूसरी तो रो-धोकर कमरे में चली गई और तीसरा रह गया मैं। साधुजी से पूरे चौबीस घण्टे की घनिष्टता भी नहीं हो पाई थी, तो भी मुझे भी लगा कि हमारे अनारम्य संसार में वे एक बहुत बड़ा छिद्र कर गए। यह बुराई अपने आप मिट जाएगी या वे फिर किसी दिन दया का भारी बक्सा लिए इसकी मरम्मत को साक्षात् ही आ पहुँचेंगे—जाते हुए कुछ बता नहीं गए। इसके लिए मुझे कोई वचन्नी न दी। अनेक कारणों से और खास करके कुछ दिनों से ज्वरग्रस्त रहने के कारण देह और मन की ऐसी ही एक निस्तेज और निरालम्ब स्थिति हो गई थी कि सब प्रकार से अपने को एकमात्र राजलक्ष्मी के हाथों सौंपकर दुनिया की सभी अच्छाई-बुराई से छुटकारा पा लिया था। इसलिए किसी भी बात के लिए स्वतन्त्र रूप से सोचने की मुझे आवश्यकता भी न थी, शक्ति भी नहीं थी। फिर भी मनुष्य के मन की चंचलता का अन्त नहीं। तकिए के सहारे बाहर के कमरे में अकेले बैठा था, बिखरी-बिखरी-सी कितनी बातें दिमाग में आ रही थीं, इसकी कोई हद नहीं; सामने के आँगन में मन्द होता हुआ प्रकाश रात के आने का संकेत करते हुए अनमने मन को मानो रह-रहकर झकझोर जाता था, लग रहा था, जीवन में जितनी भी रातें आईं-गईं, उनसे आज का इस अनागत रात की अजानी मूर्ति मानो किसी अनदेखी नारी के घूँघट ढके मुखड़े-सी रहस्यमयी है। फिर भी उस अपरिचिता के स्वभाव-नियम कुछ भी जाने बिना उसके अन्त तक पहुँचना ही पड़ेगा—बीच रास्ते में उसका कोई विचार ही नहीं चलने का। और, फिर दूसरे क्षण मानो असमर्थ चिन्ता की सारी शृंखला ही टूटकर बिखरी जा रही थी। मन की जब यह दशा थी, तभी बगल के दरवाजे को खोलकर राजलक्ष्मी अन्दर आई। आँखें कुछ-कुछ लाल, सूजी हुईं। धीरे-धीरे मेरे पास

आकर बोली, 'सो गई थी।'

मैंने कहा, 'तो ताज्जुब क्या! जो भार, जो थकावट तुम ढोती चल रही हो, और कोई होता तो टूट ही पड़ता और मैं होता तो रात दिन आँखें ही न खोलता—कुंभकर्ण की नींद लेता।'

राजलक्ष्मी हँसकर बोली, 'लेकिन कुम्भकर्ण को मलेरिया नहीं था। खैर, तुम तो दिन में सोए नहीं?'

मैंने कहा, 'नहीं। मगर अब नींद आ रही थी। शायद थोड़ा सोऊँ भी। क्योंकि कुम्भकर्ण को मलेरिया नहीं था, ऐसा भी तो वाल्मीकि मुनि कहीं नहीं लिख गए हैं।'

वह परेशान होकर बोली, 'अब सोओगे, कुवेला में, रहम करो, फिर भला बुखार से छुटकारा है? उहूँ, सोना अब न होगा। अच्छा आते समय आनन्द क्या और भी कुछ कह गया?'

मैंने पूछा, 'तुम किस तरह की बात की आशा करती हो?'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'यही कि कहाँ कहाँ जाएगा या'

यही 'या' ही असल सवाल था। मैंने कहा, 'कहाँ-कहाँ जाएगे इसका तो एक तरह का आभास दे गए हैं, लेकिन इस या के बारे में कुछ नहीं कह गए। मैं तो उनके लौटने की सम्भावना नहीं देखता।'

राजलक्ष्मी चुप रही। मैं लेकिन कौतूहल नहीं रोक सका। पूछा, 'अच्छा, इस आदमी को क्या तुमने सचमुच ही पहचाना है। जैसा कि एक दिन मुझको पहचाना था?'

वह मेरी ओर जरा देर ताकती रही और कहा, 'नहीं।'

मैंने कहा, 'सच कहो, कभी, किसी भी दिन नहीं देखा?'

अबकी वह मुस्कराकर बोली, 'तुमसे मैं सत्य नहीं कह सकती। बहुत बार मुझसे बड़ी भूल हो जाती है। ऐसे में बहुतेरे अपरिचितों के बारे में लगता है कि इसे न ही देखा है, शक्ल जैसे पहचानी-सी है—कहाँ देखा है, यही याद नहीं आता हो सकता है, आनन्द को भी कहीं देखा हो।'

वह कुछ देर चुप रहा। फिर बोली, 'आज तो आनन्द चला गया, लेकिन अगर वह कभी लौटा, तो उसे माँ बाप के पास भेज दूँगी, यह मैं तुमसे कहे देती हूँ।'

मैंने कहा, 'तुम्हे इसकी गर्ज क्या पड़ी है ?'

वह बोली, 'ऐसा नौजवान सदा भटकता फिरेगा, यह सोचते हुए भी मेरे कलेजे मे मानो शूल चुभता है। अच्छा, दुनिया तो तुमने भी छोडी थी—सन्यासी होने मे सच्चा आनन्द कुछ है ?'

मैंने कहा, 'मैं सच्चा सन्यासी नही बना, इसलिए उसके अन्दर की सही बात तुम्हे नही बता सकूंगा। मगर वह किसी दिन लौटे तो यह उसी से पूछना।'

राजलक्ष्मी ने पूछा, 'अच्छा, घर मे रहकर क्या धर्म लाभ नही होता ? ससार छोडे बिना भगवान नही मिलते ?'

सवाल सुनकर हाथ जोडते हुए मैंने कहा, 'मैं इनमे से किसी बात के लिए परेशान नही हूँ लक्ष्मी, मुझसे ऐसे कठिन प्रश्न तुम मत करो—मुझे फिर बुखार आ सकता।'

राजलक्ष्मी हँसी, उसके बाद करुण कण्ठ से बोली, 'लेकिन लगता है, दुनिया म आनन्द को तो सब कुछ है—फिर भी तो वह धर्म के लिए इसी उमर मे सब कुछ छोडकर निकल पड़ा—परन्तु तुम तो ऐसा नही कर सके ?'

मैंने कहा, 'नही, और भविष्य म कर सकूंगा, वह भी नही लगता।'

राजलक्ष्मी बोली, 'क्यो नही लगता ?'

मैंने कहा, 'इसका मुख्य कारण यह है कि जिसे छोडना है, मेरा वह ससार कहाँ है और कैसा है, मुझे मालूम नही और जिसके लिए छोडना है, उस परमात्मा पर भी मुझे रत्तीभर लोभ नही। अब तक उनके बिना ही कट गया और बाकी के थोडे दिन भी नही अटकेंगे, यही भरोसा है। फिर तुम्हारे ये आनन्द भाई भी गेरुआ के बावजूद ईश्वर के लिए ही निकले हैं, मुझे यह विश्वास नही। इसकी वजह यह है कि साधु-सग मैंने भी कई बार किया है, उनमे से किसी ने भी दवा की पेटी ढोते चलने को ईश्वर प्राप्ति का साधन स्वरूप नही बताया है। फिर उसके खाने-पीने के ढग को तो अपनी आँखो देखा।'

राजलक्ष्मी कुछ क्षण मौन रहकर बोली, 'तो क्या वह नाहक ही घर ससार छोडकर कष्ट झेलने के लिए निकल पड़ा है ? सबको तुम अपने ही जैसा समझते हो ?'

बोला, 'नही, बहुत बड़ा अन्तर है। वह भगवान के लिए चाहे न निकला

हो जिनके लिए दर-दर फिर रहा है, वह उसके आस ही पास है यानी उसका देश। अतः उसका घर-द्वार छोड़कर निकलना ठीक-ठीक संसार त्याग करना नहीं है। साधुजी ने महज एक छोटे-से संसार को छोड़कर एक बड़े संसार में प्रवेश किया है।'

राजलक्ष्मी मेरे मुँह की ओर टुकुर-टुकुर ताकती रही, शायद समझ नहीं पाई। उसके बाद बोली, 'जाने के समय क्या तुमसे कुछ कह गया?'

मैंने गर्दन हिलाकर कहा, 'नहीं, खास कुछ नहीं।'

सत्य को थोड़ा-सा छिपाया क्यों, यह मैं खुद भी नहीं जानता। लेकिन साधुजी की विदाई के समय की बात उस समय भी मेरे कानों में गूँज रही थी। जाने के समय की उनकी वह बात—यह बंगाल भी अजीब देश है! इसकी घाट-बाट में माँ-बहनें हैं, क्या मजाल कोई उन्हें टालकर जा सके!

राजलक्ष्मी उदास मुँह लिए चुप बैठी रही। मेरे भी मन में दिनों की बहुतेरी भूली घटनाएँ धीरे-धीरे झाँक जाने लगीं। मन-ही-मन कहने लगा, अलबत्! साधुजी, तुम हो चाहे जो भी, इतनी कम उम्र में ही तुमने इस कंगाल देश को बखूबी पहचाना है—नहीं तो वास्तविक रूप का पता आज इस आसानी से इन कुछ शब्दों में नहीं दे सकते! जानता हूँ, बहुत दिनों की बहुत-सी त्रुटियों, बहुत-सी चूकों ने मातृभूमि के सर्वांग में कीचड़ लगाई है, फिर भी जिसको इस सत्य की कसौटी का मौका मिला है, वही जानता है कि यह कितना बड़ा सत्य है।'

ऐसे ही चुपचाप जब दस-पन्द्रह मिनट बीत गए तो राजलक्ष्मी ने सिर उठाकर कहा, 'अगर उसके मन का यही उद्देश्य है तो एक-न-एक दिन उसे घर लौटना ही पड़ेगा, मैं कहे देती हूँ। इस देश में दूसरों की भलाई करने वालों की दुर्गति का शायद उसे पता नहीं है—इसका स्वाद थोड़ा-बहुत मैं जानती हूँ। मेरी ही तरह कभी संशय, बाधा, कड़वी बातों में उसका सारा हृदय ओछेपन से लबालब हो उठेगा, तब उसे भाग खड़े होने की राह नहीं मिलेगी।'

मैंने हामी भरते हुए कहा, 'यह कुछ नामुमकिन नहीं। लेकिन मेरा ख्याल है, इन कष्टों की उसे जानकारी जरूर है।'

राजलक्ष्मी बार-बार सिर हिलाकर कहने लगी—'नहीं, कभी नहीं। जानने पर कोई उस राह पर जा नहीं सकता, मैं कहती हूँ।'

इस बात का कोई जवाब न था। पकू की ज़बानी सुना था, उसकी ससुराल मे इससे बहुत-से साधु-संकल्प और पुण्यकर्म का अपमान हुआ था। उस निष्काम परोपकार की पीड़ा बहुत दिनों तक इसके मन मे घुलती रही थी। यद्यपि देखने की एक और दिशा थी, लेकिन उस गुप्त वेदना की जगह को छू देने की इच्छा न हुई, इसीलिए चुप रह गया। लेकिन राजलक्ष्मी जो कह रही थी, वह झूठ न था। मन में सोचने लगा, ऐसा होता क्यों है? एक ही शुभ चेष्टा को दूसरा ऐसे सन्देह की निगाह से क्यों देखता है? उन्हें निष्फल बनाकर मनुष्य के सांसारिक दुखों का भार हलका करने क्यों नहीं देता? सोचा, साधुजी होते का फिर अगर कभी वापस आएँ तो इस पेचीदे मसले के हल की जिम्मेदारी उन्हीं को दूँगा।

उस रोज सवेरे से ही पास ही कहीं से शहनाई की आवाज आ रही थी। इतने में रतन को आगे करके पीछे-पीछे कई आदमी अहाते के अन्दर आ खड़े हुए। रतन ने सामने आकर कहा, 'माँ जी, ये लोग नजराना लेकर आए हैं। आओ भई, दे जाओ।' उसने एक प्रौढ़-से आदमी को इशारा किया। वह आदमी रंगा कपड़ा पहने था, गले में नये काठ की माला। बड़े ही संकोच से वह आगे आया। बरामदे के नीचे से ही उसने बबुए के नये पत्ते पर एक रुपया और सुपारी राजलक्ष्मी के चरणों तले रखकर माटी में सिर रखकर प्रणाम करते हुए बोला, 'माँ जी, आज मेरी बिटिया की शादी है।'

राजलक्ष्मी ने रूखी-सूखी भेंट को उठाकर कहा, 'लड़की की शादी में यही देना होता है, क्यों?'

रतन ने कहा, 'नहीं माँजी, जिसकी जैसी हैसियत। यह बेचारा डोम है, इससे ज्यादा कहाँ पाएगा, यही तो कितने कष्ट से....'

मगर निवेदन समाप्त होने से पहले ही रुपया डोम का है, यह सुनकर राजलक्ष्मी ने झट रख दिया और कहा, 'तो फिर छोड़ो, इतना भी देने की ज़रूरत नहीं, तुम बिटिया की शादी करो जाकर....'

इनकार से, बेचारा बेटी का बाप और उससे भी तो ज्यादा रतन मुसीबत में पड़ा। वह तरह-तरह से समझाने की कोशिश करने लगा कि यह सम्मान स्वीकार किए बिना काम नहीं चलेगा। कमरे के अन्दर से ही मैं यह समझ गया था कि राजलक्ष्मी वह रुपया और सुपारी क्यों नहीं लेना चाह रही थी और मुझे यह भी

मालूम था कि रतन भी क्यों इतना अनुरोध कर रहा था। बहुत सम्भव है, देना शायद और ज्यादा पड़ता होगा, इसीलिए कुशारी जी के चंगुल से बचने के लिए इन लोगों ने यह युक्ति निकाली थी और 'हुजूर' आदि सम्बोधन के बदले रतन ही अगुआ होकर अर्जी दाखिल कर रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि वह उसे पूरा भरोसा देकर लाया होगा। उनके इस संकट को आखिर मैंने ही दूर किया। उठकर आया और रुपये को उठाते हुए कहा, 'मैंने स्वीकार किया, तुम लोग घर जाकर ब्याह का काम-धाम करो।'

रतन का चेहरा गर्व से दमक उठा और अछूत के प्रतिग्रह के दायित्व से छुटकारा पाकर राजलक्ष्मी के मानो जान-में-जान आई। खुश होकर बोली, 'यह अच्छा ही हुआ कि जिनका था, उन्होंने ही अपने हाथ से लिया।'—यह कहकर वह हँसी।

कृतज्ञता से भरकर मधु डोम ने हाथ जोड़कर कहा, 'हुजूर एक पहर रात के अन्दर लग्न है, दया करके अगर चरणों की धूल दें।' करुणा-भरी नजरों से वह मुझे और राजलक्ष्मी को देखने लगा।

मैं राजी हो गया। राजलक्ष्मी खुद भी जरा हँसकर शहनाई की आवाज के अन्दाज से बोली, 'वहीं शायद तुम्हारा घर है मधु ? अच्छा, अगर समय मिला तो मैं भी आकर देख जाऊँगी।' रतन की ओर मुखातिब होकर बोली, 'मेरे बड़े बक्स को खोलकर देख तो रतन, मेरी नई साड़ियाँ लाई गई हैं या नहीं। जा उस बच्ची को एक साड़ी दे आ। मिठाई यहाँ कुछ नहीं मिलेगी, क्यों ? बताशा मिलेगा ? वही सही। उधर से कुछ बताशे भी खरीद लाना। हाँ, तुम्हारी बिटिया की उम्र क्या है मधु ? दुलहे का घर कहाँ है ? लोग कितने खाएँगे ? गाँव में तुम लोग कितने घर हो ?'

मालकिन के एक साथ इतने प्रश्नों के उत्तर में मधु ने बाअदब और विनय-पूर्वक कहा, उससे पता चला, उसकी बिटिया की उम्र नौ साल के लगभग है, दुल्हा युवक है, तीस-चालीस से बड़ा न होगा—घर यहाँ से पाँच कोस पर किसी गाँव में है—वहाँ इनका समाज बड़ा है, लोग जात-पेशा नहीं करते, खेती-बारी करते हैं। लड़की सुख में ही रहेगी। लेकिन आज ही रात को डर है, क्योंकि बारात में कितने ही लोग आएँ और वे कहाँ कौन-सा फसाद खड़ा कर देंगे, सवेरा होने से पहले अन्दाजा लगना मुश्किल है। वे लोग सम्पन्न हैं, कैसे इज्जत-आबरू

बचाकर यह शुभ कार्य सम्पन्न हो, इसी चिन्तासे मधु कातर हो रहा है। विस्तार से सब कुछ बताकर अन्त में कहा, 'गुड़-चूड़ा मौजूद है, दो-दो बड़े बताशे देने का भी इन्तजाम है, लेकिन इस पर भी कोई बखेड़ा हो जाए, तो हजूर को ही बचाना पड़ेगा।'

राजलक्ष्मी ने कौतुक के साथ दिलासा देते हुए कहा, 'बखेड़ा नहीं होगा मधु, मैं आशीर्वाद देती हूँ, तुम्हारी बिटिया का विवाह निर्विघ्न होगा। खाने का तुमने इतना सामान जुटाया है, तुम्हारे समधी के साथ के लोग खा-पीकर सुखी-सुखी घर लौटेंगे।'

मधु ने झुककर प्रणाम किया और माथ के दो आदमियों के साथ चला गया; लेकिन उसकी शक्ल से ऐसा लगा कि इस आशीर्वाद से उसे खास भरोसा नहीं हुआ—रात के लिए बेटी के बाप के मन में बड़ा उद्वेग रहा।

मधु को आश्वासन दिया था कि चरणों की धूल दूंगा, मगर सचमुच ही जाना पड़ेगा, ऐसी सम्भावना हममें से किसी के मन में न थी। साँझ के कुछ देर बाद बत्ती के सामने बैठकर राजलक्ष्मी आय-व्यय का लेखा सुना रही थी, मैं लेटा-लेटा कुछ सुन रहा था—लेकिन कुछ देर से पास के ब्याह वाले घर का शोरगुल कुछ अजीब प्रकार-सा सुनाई पड़ रहा था। एकाएक सिर उठाकर राजलक्ष्मी हंसती हुई बोल उठी, 'डोम के यहाँ की शादी है, मारपीट एक जरूरी अंग तो नहीं है उसका?'

मैंने कहा, 'ऊँची जात वालों की नकल की हो तो विचित्र कुछ नहीं। तुम्हें याद हैं वे सब बातें?'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'हूँ।' उसके बाद कुछ क्षण कान खड़े करके सुनती रही और एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोली, 'सच है, इस मुए देश में हम लोग जिस प्रकार से लड़कियों को लुटा देते हैं, इसमें क्या इतर, क्या भद्र, सब समान हैं। उन लोगों के चले जाने के बाद मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कल सुबह उस नौ साल की लड़की को जो जिस अजाने परिवार में खींच ले जाएँगे सो फिर कभी आने तक न देंगे शायद। इनका नियम ही ऐसा है। चार छः गंडे रुपये में आज बेटी को बेच देगा। एक बार भेज दो, जबान से इतना कहने का भी उपाय न रहेगा। अहा, बच्ची बेचारी वहाँ कितना रोएगी—ब्याह का वह जानती क्या है, कहो?'

ऐसी दुर्घटनाएँ तो जन्म से जाने कितनी देखता आ रहा हूँ, एक प्रकार से आदी भी हो गया हूँ—अब क्षोभ जाहिर करने की भी इच्छा नहीं होती। सो केवल मौन रहा।

जवाब न पाकर वह बोली, 'अपने देश में छोटी-बड़ी सभी जात के लोगों में ब्याह केवल ब्याह ही नहीं, यह धर्म है, इसीलिए, नहीं तो···'

सोचा, कहूँ—इसे अगर धर्म ही समझा है, तो इतनी नालिश किस बात की? और जिस धर्म-कर्म से प्रसन्न होने के बदले मन ग्लानि के भार से काला होता जाता है, उसे धर्म के रूप में स्वीकार ही कैसे किया जाए?

लेकिन मेरे कहने के पहले राजलक्ष्मी खुद ही फिर बोल उठी, 'लेकिन ये सब कायदे-कानून जो बना गए हैं, वे त्रिकालदर्शी ऋषि थे; शास्त्र-वाक्य न तो मिथ्या हैं, न अमंगल कारक हैं—हम समझते ही क्या और कितना हैं!'

बस, जो कहना चाह रहा था, वह फिर कहने से रह गया, इस संसार में सोचने की जितनी भी वस्तुएँ थीं, त्रिकालदर्शी ऋषियों ने सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान—तीनों कालों के लिए बहुत पहले ही सोचकर स्थिर कर दी हैं—नये सिरे से सोचने के लिए दुनिया में कहीं कुछ बाकी नहीं। इसे राजलक्ष्मी से ही नया नहीं सुना, बहुतों से बहुत बार सुन चुका हूँ और बराबर ही चुप रह गया हूँ। मैं जानता हूँ कि इसका जवाब देने में आलोचना पहले जरा गर्म और फिर व्यक्तिगत कलह से बहुत कटु हो उठती है। त्रिकालदर्शियों की उपेक्षा नहीं करता, राजलक्ष्मी की नाईं मैं भी उनकी बहुत भक्ति करता हूँ—इतना ही सोचता हूँ, दया करके वे अगर इस अंग्रेजी-शासन के बारे में न सोच गए होते तो उन्हें भी बहुतेरी कठिन चिन्ताओं के भार से छुटकारा मिल जाता और हम भी आज वास्तव में जी पाते।

पहले ही कह आया हूँ, राजलक्ष्मी मेरे मन की बातों को आईने की तरह साफ देख पाती थी, कैसे देख पाती थी, नहीं कह सकता। लेकिन अभी दीये के धुँधले प्रकाश में उसने मेरे चेहरे की तरफ नहीं देखा, फिर भी मेरी एकान्त चिन्ता के दरवाजे पर ही उसने आघात किया। बोली, 'तुम सोच रहे हो, यह बेकार का तूल देना है—भविष्य के कायदे-कानून कोई पहले ही ठीक नहीं कर सकता; मगर मैं कहती हूँ, कर सकता है। अपने गुरुदेव के श्रीमुख से मैंने सुना है, उनसे यह काम नहीं बन पाता तो सजीव मन्त्रों को भी नहीं देख पाते। मैं

पूछती हूँ, इतना तो तुम मानते हो कि हमारे शास्त्रीय मन्त्रों में प्राण है? वे जीवन्त हैं?'

मैंने कहा, 'हाँ।'

राजलक्ष्मी बोली, 'तुम न भी मान सकते हो, लेकिन तो भी यह सत्य है। सत्य न होता तो अपने यहाँ खिलौनों वाला ब्याह है यह, वही दुनिया का सर्वोत्तम विवाह-बन्धन नहीं होता! आखिर यह उन्हीं सजीव मन्त्रों के जोर से होता है। उन्हीं ऋषियों की कृपा से! हाँ, अनाचार और पाप कहाँ नहीं होता, सभी जगह होता है, लेकिन अपने यहाँ के सतीत्व की ही मिसाल क्या तुम्हें और कहीं मिल सकती है?'

मैं बोला नहीं। इसीलिए कि उसकी दलील नहीं थी, विश्वास था। इतिहास का सवाल होता तो मैं उसे दिखा सकता कि संसार में ऐसे सजीव मन्त्रहीन देश और भी हैं, जहाँ सतीत्व का आदर्श आज भी इतना ही ऊँचा है। अभया का उदाहरण पेश करते हुए कह सकता था कि यही बात है तो तुम्हारे जीवन्त मन्त्र नर-नारी को एक आदर्श में बाँध क्यों नहीं पाते? मगर इन बातों का प्रयोजन नहीं था। मैं जानता था कि उसकी भाव-धारा कुछ दिनों से किधर को बह रही है।

दुष्कर्म की पीड़ा को वह भली तरह जानती है। जिसे सम्पूर्ण हृदय से उसने प्यार किया है, उस पर कलुष की आँच लाए बिना इस जीवन में उसे कैसे पाए, वह सोच नहीं सकती। कमजोर दिल और प्रबल धर्मवृत्ति—ये दो परस्पर विरोधी प्रवाह कैसे और किस संगम पर मिलकर उसके दुखी जीवन में तीर्थ-से हो उठे, ढूँढकर वह इनका कोई किनारा नहीं पाती। लेकिन मैं पाता हूँ। अपने को जब से सम्पूर्णतया दान कर दिया है, दूसरों का गोपन आक्षेप हर पल मेरी नजरों में आता है। बिल्कुल स्पष्ट तो नहीं, फिर भी मानो मैं देख पाता हूँ कि उसकी जो कामना अब तक तीखे नशे-सा उसके पूरे मन को उन्मत्त चंचल किए हुए थी, आज वह मानो स्थिर होकर उसके सौभाग्य, उसकी प्राप्ति का लेखा लेना चाहती है। इस हिसाब में जोड़ क्या है, नहीं मालूम, पर उसे अगर आज शून्य के सिवाय और कुछ नहीं दिखाई दे, तो मैं फिर कहाँ जाकर कैसे अपने तार-तार जीवन-जाल की गाँठें बाँधने बैठूँगा, यह चिन्ता बहुत बार मेरे मन में आ चुकी है। सोचकर कुछ हासिल नहीं हुआ, केवल इतना ही निश्चित जानता हूँ कि सदा जिस पथ पर

चलता रहा हूँ, जरूरत आ पड़ेगी तो फिर उसी पर चलना शुरू कर दूँगा। अपने सुख और सुविधा के लिए किसी दूसरे की समस्या को जटिल नहीं बनाऊँगा, मगर सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह थी, कि जिस सजीव मन्त्र के चलते थोड़ी ही देर पहले अपने यहाँ विप्लव हो गया, उसी प्रसंग पर बिल्कुल बगल के मकान में मल्ल-युद्ध शुरू हो गया था, यह खबर हम दोनों में से कोई नहीं जानता था।

एकाएक रोशनी लिए शोर-गुल करते हुए पाँच-सात जने एकबारगी प्रांगण में ही आ खड़े हुए और व्याकुल स्वर से आवाज दी, 'हुजूर! बाबूजी!'

मैं घबड़ाकर बाहर निकला। राजलक्ष्मी भी अचरज से उठकर मेरे पास आकर खड़ी हो गई। नालिश सभी एक साथ ही और एक ही स्वर में करना चाह रहे थे। रतन की डाँट-डपट के बावजूद कोई अन्त तक चुप न हो सका। खैर, बात समझ में आई। कन्यादान रुका पड़ा है—मन्त्र भूल हो रही है, यह कहकर वर-पक्ष के पुरोहित ने कन्या-पक्ष के पुरोहित का फूल-जल उठाकर फेंका है और उसका मुँह दबा दिया है। सच, कितना बड़ा जुल्म है यह? पुरोहितों के बहुतेरे कारनामे होते रहते हैं, लेकिन एक दूसरे गाँव से आकर अपने समान-धर्मी किसी का फूल-जल फेंक देना और जबर्दस्ती उसका मुँह दबाकर स्वतन्त्र और सजीव मन्त्रों के उच्चारण में बाधा देना—ऐसा जुल्म तो कभी नहीं सुना।

राजलक्ष्मी हठात् सोच नहीं सकी कि क्या करे! लेकिन रतन अन्दर था, बाहर निकलकर उसने जोर से डपटते हुए कहा, 'अब तेरे पुरोहित क्या?' यहाँ आने के बाद से रतन को ऐसा कोई नहीं मिला, जिसे वह तुम कहे। वह बोला, "डोम का क्या तो ब्याह और क्या पुरोहित! यह क्या ब्राह्मण, कायस्थ, नाई का ब्याह है कि ब्राह्मण-पुरोहित आएँ!'—यह कहकर उसने मेरे और राजलक्ष्मी की ओर गर्व के साथ ताका। यहाँ याद दिला देना जरूरी है कि रतन जात का नाई है।

मधु डोम खुद नहीं आ पाया था। वह कन्यादान के लिए बैठा था। उसका सम्बन्धी आया था। उसकी बातों से यह समझ में आया कि गरचे उनमें ब्राह्मण नहीं है, फिर भी राखाल पण्डित को ब्राह्मण ही समझिए—क्योंकि उसके गले में जनेऊ है और दशकर्म कराता है। यहाँ तक कि वह उन लोगों के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीता। इतनी बड़ी सात्विकता के बाद विरोध की गुंजाइश नहीं। यानी इसके बाद भी असल ब्राह्मण से अगर कुछ भेद रह जाता है तो वह नहीं के बराबर।

खैर, जो भी हो, उनकी बेसब्री और विवाह मण्डप के शोरगुल से मुझे आना पड़ा। राजलक्ष्मी से कहा, 'तुम भी चलो न, घर में अकेली क्या करोगी ?'

राजलक्ष्मी ने पहले तो सिर हिलाया और अन्त में कौतूहल को न दबा पाने के कारण मेरे साथ लग गई। जाने पर देखा, मधु के सम्बन्धी ने गलत नहीं बताया, बात काफी बढ़ गई थी। एक ओर बरात के तीस-बत्तीस आदमी दूसरी तरफ कन्या-पक्ष वाले भी उतने ही। बीच में ओरावर और मोटे शिबू पण्डित ने दुबले और कमजोर राखाल पण्डित का हाथ कसकर पकड़ रखा था। हम लोगों को देखकर उसने हाथ छोड़ दिया। हम आदर एवं चटाई पर बिठाए गए। आसन ग्रहण करके हमने शिबू पण्डित से यों अचानक हमले की वजह पूछी तो उसने कहा, 'हुजूर, यह कम्बख्त मन्तर का नाम नहीं जानता और अपने को कहता है पण्डित! आज तो यह ब्याह ही भ्रष्ट कर देता?' राखाल ने मुँह बनाकर कहा, 'हाँ देता! पाँच-पाँच गाँव में रोज श्राद्ध-ब्याह कराता हूँ और मैं मन्तर नहीं जानता!' सोचा, यहाँ भी वही मन्त्र! घर में तो राजलक्ष्मी के तर्क का मौन ही जवाब दिया, 'लेकिन यहाँ अगर वास्तव में बीच-बचाव करना हो तो मुसीबत होगी। अन्त में यही तय पाया कि मन्त्र शिबू ही पढ़ाएगा, पर कहीं अगर भूल होगी तो शिबू को आसन छोड़ना पड़ेगा। राखाल राजी हो गया। पुरोहित के आसन पर बैठा। कन्या के पिता के हाथ में कुछ फूल देकर और वर-वधू के हाथ इकट्ठे कराकर उसने जो वैदिक मन्त्र पढ़ा, वह मुझे अ भी याद है। मैं जीते-जागते हूँ या नहीं, नहीं मालूम, और मन्त्र के बारे में कोई जानकारी न रहने के बावजूद यह सन्देह होता है कि वेद में ऋषिगण ठीक-ठीक मन्त्र की सृष्टि नहीं कर गए हैं।

राखाल पण्डित ने दुलहे से कहा, कहो, 'मधु डोमाय कन्याय नम।'

दुलहे ने दोहराया, 'मधु डोमाय कन्याय नम।'

कन्या से कहा, 'कहो, भगवती डोमाय पुत्राय नम।'

छोटी लड़की, बोलने में गलती न कर बैठे, यह सोचकर मधु उसके बदले मन्त्र कहने जा रहा था कि शिबू पण्डित दोनों हाथ उठाकर अपने वज्रगर्जन से सबको चौंकाते हुए बोल उठा, 'यह मन्तर ही नहीं है। ब्याह ही नहीं हुआ यह।' पीछे से एक सिसकी पाकर पलटकर देखा, राजलक्ष्मी मुँह में आँचल ठूंसकर जी-जान से हँसी रोकने की कोशिश कर रही है और वहाँ जितने लोग थे, सब उद्ग्रीव

हो उठे है। राखाल शर्माया-सा कुछ कहना चाहता था, लेकिन किसी ने उस पर ध्यान ही नही दिया, एक स्वर से सभी शिबू पण्डित से निहोरा करने लगे, 'पण्डित जी, यह मन्त्र आप ही पढा दें, नही तो यह ब्याह, ब्याह ही न होगा समझिए—सब नष्ट हो जाएगा। चार आना दक्षिणा उनको, बारह आना आप ही ले लीजिएगा।'

97-143

अपनी उदारता दिखाते हुए इस पर शिबू ने कहा, 'इसमे राखाल का कसूर नही है, मेरे सिवा असल मन्त्र इस इलाके में कोई जानता ही नही। मुझे ज्यादा दक्षिणा नही चाहिए, मैं यही से मन्त्र कहता हूँ, राखाल उन सबो को पढाए।' यह कहकर उस शास्त्रज्ञ पण्डित ने मन्त्र पढना शुरू किया और हारा हुआ बेचारा राखाल भलेमानस सा वर-वधू को पढाने लगा।

शिबू ने कहा, 'कहो, मधु डोमाय कन्याय भूर्ज्यपत्र नम ।'

दूलहे ने आवृत्ति की, 'मधु डोमाय कन्याय भूर्ज्यपत्र नम ।'

शिबू ने कहा, मधु, अब तुम कहो—'भगवती डोमाय पुत्राय सम्प्रदान नम ।'

बेटी के साथ मधु ने इसी को दुहराया। सब चुपचाप, खामोश। लोगो के भाव से यह लगा कि शिबू सरीखा शास्त्रज्ञ आदमी इसके पहले इस इलाके मे नही आया।

शिबू ने दूलहे के हाथ मे फूल देकर कहा, 'विपिन, तुम कहो—जब तक जीवन तब तक अन्न-वस्त्र प्रदान स्वाहा।'

विपिन ने रुक-रुककर बड़े कष्ट से बडी देर मे इस मन्त्र का उच्चारण किया।

शिबू ने कहा, 'वर-कन्या दोनो मिलकर कहो, युगल मिलन नम ।'

वर और कन्या, दोनो की तरफ से इसे मधु ने दुहराया। इसके बाद जोरो की रामधुन के साथ वर-वधू को घर के अन्दर ले जाया गया। मेरे चारो तरफ गुन-गुनाहट शुरू हो गई। सबने एक मत से स्वीकार किया कि हाँ, शास्त्रवाला पण्डित है! अनवत मन्तर पढाया! राखाल पण्डित अब तक सबको ठगकर ही खाया करता था।'

मैं शुरू से ही गम्भीर था और अन्त तक अपनी वह गम्भीरता कायम रखकर ही राजलक्ष्मी का हाथ पकडकर घर लौट आया। कह नही सकता, वहाँ वह कैसे अपने को जब्त किए बैठी थी—घर आकर तो मारे हँसी के दम घुटने की नौबत।

बिछावन हर लुढ़कते हुए वह बार-बार यही कहने लगी, 'बेशक महामहोपाध्याय हैं। राखाल इन्हें ठगकर ही खाया करता था।'

पहले तो मैं भी हंसी न रोक सका, उसके बाद बोला, 'महामहोपाध्याय दोनों ही हैं—और अब तक इसी तरह से तो इनकी मां और दादी की शादी होती आई है! राखाल को जो कह लो, गिबू के मन्त्र भी तो ऋषिविश्वास-से नहीं लगे, मगर तो भी तो इनका कोई मन्त्र बेकार नहीं गया! इनका दिया हुआ विवाहबन्धन तो आज भी वैसा ही मजबूत, वैसा ही अटूट है!'

हंसी रोककर राजलक्ष्मी सहसा सम्भलकर उठ बैठी और चुपचाप एकटक मेरी ओर देखती हुई जाने कितना क्या सोचने लगी।

पाँच

सुबह जगा तो पता चला, कुशारी जी दिन में भोजन के लिए कह गए हैं। और यही आशंका थी। पूछा, 'अकेली मुझी को क्या?'

राजलक्ष्मी ने हंसकर कहा, 'नहीं, मैं भी हूं।'

'जाओगी?'

'जरूर।'

उसके इस निःसंकोच उत्तर से अवाक् रह गया। यह जाना तो वस्तु है, यह हिन्दू धर्म का क्या है और समाज का इस पर कितना निर्भर करता है, राजलक्ष्मी यह जानती है और इसे वह जिस निष्ठा से मानती आई है, मैं भी यह जानता हूँ, फिर भी यही उसका जवाब था। कुशारी जी के बारे में ज्यादा कुछ नहीं जानता, लेकिन उन्हें बाहर से देखकर जितना भर जाना जा सका है, उससे ऐसा लगा है कि वे आचार-परायण ब्राह्मण हैं और यह भी निश्चित है कि राजलक्ष्मी का इतिहास उन्हें नहीं मालूम, मालकिन के नाते ही न्योता दिया है—लेकिन राजलक्ष्मी आज वहां जाकर कैसे क्या करेगी, मैं सोच ही न सका। अथच, मेरे सवाल को समझते हुए भी जब उसने कुछ नहीं कहा, तो उसकी छिपी कुण्ठा ने मुझे भी निर्वाक् कर दिया।

समय पर बैलगाड़ी आ पहुँची। मैं तैयार होकर निकला, तो पाया कि

राजलक्ष्मी गाडी के पास खडी है।

पूछा, 'चलोगी नहीं ?'

वह बोली, 'चलने को ही तो खड़ी हूँ।'—यह कहकर गाडी के अन्दर बैठ गई।

रतन साथ चलेगा, वह मेरे पीछे था। उसके चेहरे से ताड गया कि वह मालकिन का साज-सिंगार देखकर बेहद अचम्भे मे आ गया है। अचरज मुझे भी हुआ था, लेकिन जैसे वह कुछ नही बोला, वैसे ही मैं भी चुप रहा। घर मे ज्यादा गहने वह कभी भी नही पहनती थी, कुछ दिनो से वह भी घट रहा था, किन्तु आज दिखाई पडा, आज उसके बदन पर लगभग कुछ है ही नही। जो हार सदा गले मे रहा करता था, वही हार हाथो मे कडे। ठीक याद नही, फिर भी जैसे याद आया कल रात तक जो चूडियाँ उसकी कलाई मे थी, उन्हें भी उतार दिया था। पहनावे की साडी भी मामूली-सी, शायद वही थी जिसे नहाने के बाद पहना था। गाडी पर सवार होकर मैंने धीरे से कहा, 'देखता हूँ, एक-एक करके सब कुछ छोड दिया। सिर्फ मैं ही बाकी रह गया हूँ।' मेरी ओर देखकर जरा हँसती हुई वह बोली, 'ऐसा भी तो हो सकता है कि उसी एक मे सब कुछ रह गया है। इसीलिए जो फालतू थे, एक एक कर झडते आ रहे हैं।' इतना कहकर उसने पीछे मुडकर देखा, रतन साथ-साथ चल रहा है या नही, उसके बाद गाडीवान भी न सुन सके, ऐसी धीमी आवाज मे बोली, 'ठीक तो है, वही आशीर्वाद करो न तुम। तुमसे बडा तो मेरा कुछ नही है, जिसके बदले सहज ही तुम्हे भी दे सकूँ, वही आशीर्वाद तुम दो।'

मैं चुप रहा। बात एक ऐसी दिशा मे चली गई, जिसका जवाब देने की मजाल ही नही थी मुझमे। उसने भी और कुछ न कहा, मोटे से तकिये को खीचकर सिकुड-सिमटकर मेरे पैरो के पास लेट गई। गगामाटी से पोडामाटी जाने का एक बहुत ही सीधा रास्ता है। सामने के सूखे पानी पर बाँस की जो सकरी पुलिया है, उस पर से जाने से दसेक मिनट मे ही पहुँचा जा सकता है, लेकिन बैलगाडी से घूम-घामकर जाने मे दो घण्टे लग जाते हैं। इस लम्बे रास्ते मे हम दोनो मे फिर कोई बात ही नही हुई। मेरे हाथ को अपने गले के पास खीचकर सोने के बहाने वह खामोश पडी रही।

दोपहर के बाद कुशारी जी के दरवाजे पर आकर गाडी रुकी। कुशारी जी ने

पत्नी सहित बाहर निकलकर हमारा स्वागत किया। और शायद बहुत ही सम्मानित अतिथि के नाते बाहर बैठक में न बिठाकर एकबारगी अन्दर लिवा गए। थोड़ी ही देर में यह मालूम हो गया कि शहर से बहुत दूर इन गाँवों में पर्दे का कठोर शासन नहीं है। क्योंकि हम लोगों के शुभ आगमन की खबर फैलते-न-फैलते जो बहुत-सी स्त्रियाँ चाची, मौसी आदि सम्बोधन करती हुई एक-एक दो-दो करके आकर तमाशा देखने लगीं, वे सब अबलाएँ नहीं थीं। राजलक्ष्मी को घूँघट काढ़ने की आदत नहीं थी, वह भी मेरी ही तरह सामने के बरामदे पर एक आसन पर बैठी थी, इस अपरिचित महिला के सामने भी उन औरतों ने कोई संकोच नहीं अनुभव किया। लेकिन खुशनसीबी यह थी कि बातें करने की उत्सुकता उनके बजाय मुझसे ही दिखाई जाने लगी। मकान मालिक व्यस्त थे, ब्राह्मणी का भी यही हाल, केवल घर की एक विधवा राजलक्ष्मी के पास बैठकर धीमे-धीमे एक अच्छा-सा पंखा लेकर झलने लगी। और, मैं कैसा हूँ, बीमारी क्या है, कब तक ठहरूँगा, जगह पसन्द आ रही है या नहीं, अपने से जमींदारी की देख-रेख न करने से चोरी होती है या नहीं, कोई नया बन्दोबस्त करने की सोचता हूँ या नहीं—इन सार्थक और निरर्थक प्रश्नों और उत्तर की फाँकों में मैं कुशारी जी की सांसारिक अवस्था पर गौर करने लगा। घर में कमरे बहुत-से थे और सब मिट्टी के, फिर भी लगा, कुशारी जी की हालत तो अच्छी है ही, शायद कुछ विशेष अच्छी। घर के अन्दर आते वक्त बाहर के चण्डीमण्डप में धान की मोरी एक देखता आया था, अन्दर वैसी मोरियाँ और भी दो-एक दिखाई पड़ीं। ठीक सामने शायद वह रसोईघर ही होगा, उसी के उत्तर एक चालिए में दो ढेंकियाँ। ऐसा लगा, कुछ ही पहले वहाँ काम बन्द हुआ है। महताबी नीबू के पेड़ के नीचे धान उबालने के साफ-सुथरे कई चूल्हे और उसी साफ जगह में छाँह तले दो मोटे-ताजे बछड़े आराम से सो रहे थे। उनकी माताएँ कहाँ हैं, न देख पाया मगर समझ में आया, अन्न की तरह कुशारी जी के यहाँ दूध की भी कमी नहीं है। दक्खिन वाले बरामदे पर दीवाल से सटे माटी के छः-सात बड़े-बड़े घड़े धरे थे। गुड़ होगा उनमें या क्या होगा, मालूम नहीं, लेकिन उनका जतन देखकर ऐसा नहीं लगा कि वे खाली हैं या अवहेलना की चीज हैं। बाकी कुछ खूँटियों में सन समेत ढेरें झूल रहे थे। अब यह अन्दाज करना असंगत न था कि घर में रस्सी या डोरे की जरूरत काफी पड़ती है। कुशारी जी की स्त्री शायद हमारे ही स्वागत के काम में अन्यत्र जुटी थीं; कुशारी जी भी एक

झलक दिखाकर अन्तर्धान हो गए थे—अचानक व्यस्त-से आए तथा अपनी गैर-हाजरी की एक और ही प्रकार से कैफियत देते हुए बोले, 'जी, अब जरा आह्निक चार-कराके ही आऊं, और तब बैठूं। पन्द्रह सोलह साल का हट्टा-कट्टा सुन्दर-सा एक लड़का आँगन में खड़ा खड़ा बड़े ध्यान से हम लोगों की बातें सुन रहा था, उस पर नजर पड़ते ही कुशारी जी बोले, 'बेटा हरिपदो नारायण का अन्न अब तक तैयार होगा, जरा भोग लगा दे। अब आह्निक में ज्यादा देर नहीं लगेगी। आज नाहक ही आप लोगों का कष्ट दिया, बड़ी देर हो गई।'—मेरी ओर देखकर बोले और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही फौरन गायब हो गए।

अब यथासमय यानी यथासमय के बहुत बाद दोपहर के भोजन के आसन लगने की खबर मिली। जी में जी आया। न केवल इसलिए कि समय जरूरत से ज्यादा हो गया, बल्कि इसलिए कि आगन्तुकों के प्रश्नों के तीर से पिण्ड छूटा, मैंने चैन की सांस ली। खाना तैयार है, यह सुनकर वे लोग कुछ क्षण के लिए हमें फुर्सत देकर अपने-अपने घर चली गईं। लेकिन खाने के लिए अकेला मैं ही बैठा। कुशारी जी साथ नहीं बैठे पास में आकर बैठे। इसकी वजह उन्होंने विनय और गर्व के साथ खुद ही बताई जनेऊ के समय से भोजन के समय जो मौन रहना शुरू किया सो आज भी चल रहा है, लिहाजा आज भी वे सूने कमरे में अकेले ही खाने बैठते हैं। मैंने एतराज भी न किया और विस्मित भी न हुआ, लेकिन राजलक्ष्मी के बारे में जब सुना कि उसका कोई व्रत है, आज नहीं खाएंगी, तो आश्चर्य में पड़ गया। इस छल से मन-ही-मन कुढ़ गया और समझ नहीं पाया कि इसकी जरूरत क्या थी, लेकिन राजलक्ष्मी तुरन्त मेरे मन की बात ताड़ गई और बोली, 'इसके लिए तुम दुखी न होओ, मैं आज भोजन नहीं करूंगी, यह इन सबों को मालूम था।'

मैंने कहा, 'बस मुझे ही यह मालूम नहीं था, और यही था तो तकलीफ करके आने की क्या जरूरत थी?'

इसका उत्तर राजलक्ष्मी ने नहीं, कुशारी जी की पत्नी ने दे दिया। बोलीं, 'इनसे यह तकलीफ मैंने कबूल कराई है। मुझे मालूम था कि ये यहां नहीं खाएंगी, फिर भी यह लोभ न संभाल सकी कि जिनकी कृपा से दाने नसीब होते हैं उनके चरणों की धूल हमारे यहां पड़े। क्यों बिटिया?'—यह कहकर उन्होंने राजलक्ष्मी की ओर देखा। राजलक्ष्मी बोली, 'इसका जवाब आज नहीं, आपको फिर कभी दूंगी।' वह हँसी।

मैं लेकिन ताज्जुब से नजर उठाकर कुमारी-पत्नी की ओर देखने लगा। गाँव में, खासकर इतनी दूर के गाँव में किसी स्त्री के मुख से ऐसी सहज सुन्दर बातों की कल्पना ही नहीं की थी, लेकिन अभी भी ग्रामीण-अंचल की इससे भी ज्यादा आश्चर्यमयी एक और नारी का परिचय पाना बाकी है, यह स्वप्न में भी न सोचा था। खाना परोसने का भार अपनी विधवा बेटी पर छोड़कर कुमारी-पत्नी हाथ में ताड़ का पत्ता लिए मेरे सामने बैठी थी। मुझसे उम्र में काफी बड़ी होगी, शायद इसीलिए माथे पर कपड़े के सिवा मुंह पर कोई आवरण नहीं था। यह मन में ही नहीं आया कि वह मुखड़ा सुन्दर है या असुन्दर, केवल इतना ही लगा कि वह साधारण बंगाली माताओं जैसा ही स्नेह और करुणा से परिपूर्ण है। दरवाजे के पास गृहस्वामी स्वयं खड़े थे, बाहर से बेटी ने पुकार कर कहा, 'बाबूजी, आपकी थाली लग गई है।' बेला बहुत हो चुकी थी और सम्भवत इसी खबर का वह बेसब्र इन्तजार कर रहे थे—फिर भी एक बार उधर और एक बार मेरी तरफ ताककर बोले, 'जरा रुक जा बिटिया, बाबूजी का खाना —'

पत्नी तुरन्त टोककर बोली, 'नहीं, तुम जाओ। खाना नष्ट न करो, ठण्डा हो जाने से तुम्हारा भोजन न होगा, मैं जानती हूँ।'

कुमारी को सकोच हो रहा था। बोले, 'नष्ट क्या होगा, बाबूजी को खा ही लेने दो न।'

गृहिणी बोली, 'मेरे रहते भी अगर भोजन में त्रुटि होगी, तो वह तुम्हारे खड़े रहने से भी नहीं मिट सकती। तुम जाओ, क्यों बेटे?'—उन्होंने मेरी ओर देखा। मैंने भी हँसकर कहा, 'हाँ, त्रुटि बढ ही सकती है। आप जाइए कुमारी जी, भूखे खड़े रहने से किसी पक्ष को सुविधा न होगी।' इसके बाद वे यूँ भी किए बिना चले गए, लेकिन ऐसा लगा कि सम्मानित अतिथि के भोजन करने की जगह से उपस्थित न रहने के सकोच को साथ ही लेते गए, लेकिन मुझसे यहीं बहुत बड़ी चूक हो गई थी, यह कुछ ही देर में समझना बाकी न रहा। कुमारी जी के चले जाने के बाद उनकी स्त्री ने कहा, 'अरवा चावल का भात खाते हैं, ठण्डा हो जाने पर खाया ही नहीं जाता; मगर तो भी कहती हूँ, जो अन्नदाता है, पहले उन्हें भोजन कराये बिना घर में स्वयं खा लेना भी कठिन है।'

मैं इस बात से अन्दर-ही-अन्दर लज्जा अनुभव करने लगा। कहा, 'अन्नदाता मैं नहीं हूँ, और यह सब भी हो तो वह इतना काम है कि बाद पड़ जाने से आपको

पता भी न चलता।'

कुशारी जी की स्त्री कुछ देर चुप रही। लगा, उनका चेहरा मानो धीरे-धीरे बड़ा मलिन हो आया। उसके बाद बोली, 'आपकी बात एकदम गलत नहीं है, ईश्वर ने हमें कुछ कम नहीं दिया है, लेकिन अब ऐसा लगता है, इतना उन्होंने नहीं ही दिया होता, तो उनकी दया इससे ज्यादा ही प्रकट होती शायद, पर मेरे बही तो एक विधवा बेटी है—इन धान-भरी बोरियों, दूध भरे कड़ाहों और घड़े-घड़े गुड़ का हम क्या करेंगे ? इनका उपभोग करने वाले जो थे, वे सब तो हमें छोड़कर ही चले गए।'

बात ऐसी कुछ न थी, किन्तु कहते-कहते ही उनकी दोनों आँखें छलछला उठीं और होंठ फूल गए। समझ गया, इन कुछ शब्दों में बड़ी गहरी पीड़ा छिपी है। सोचा, या तो इनके किसी योग्य बेटे की मृत्यु हो गई है और अभी-अभी जिस लड़के को देखा, उसको सहारा मानकर निराश माता-पिता को कोई सान्त्वना नहीं मिल रही है। मैं चुप रह गया, राजलक्ष्मी भी कुछ न बोली, केवल उनके हाथ में लेकर मेरी ही तरह मौन बैठी रही, लेकिन हमारी भूल उनकी बाद वाली बात से दूर हुई। अपने आपको सम्हालकर उन्होंने फिर कहा, 'लेकिन हम लोगों के समान उनके भी तो आप ही लोग अन्नदाता हैं। मैंने उनसे कहा कि मालिक को कष्ट कहने में शर्म की बात नहीं—निमन्त्रण के बहाने एक बार दोनों को अपने घर लाएँ, रो-धोकर उनसे कह देखें, अगर वे कोई किनारा कर दें।' इतना कहकर उन्होंने आँचल से आँखें पोंछीं। समस्या बड़ी पेचीदी हो उठी। राजलक्ष्मी की ओर निहारा, वह भी मेरी ही तरह दुविधा में पड़ गई थी—फिर भी हम दोनों पहले ही की तरह मौन रहे। कुशारी जी की स्त्री अब धीरे-धीरे अपने दुःख का इतिहास कहने लगीं। अन्त तक सुनने के बाद किसी की जबान पर कोई शब्द नहीं आया। हाँ, इस बात में सन्देह नहीं रह गया कि यह बात बताने के लिए इतनी ही बड़ी भूमिका चाहिए थी। राजलक्ष्मी दूसरे के यहाँ अन्न ग्रहण नहीं करेगी, फिर भी न्योता देकर बुलाना और कुशारी जी को अलग हटाने का यह मनसूबा—इसमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता था। खैर, जो भी हो, अपने आँसू और विस्फुट वाक्यों से कुशारी जी की स्त्री ने ठीक कितना जो बताया, नहीं कह सकता, एक तरफ सुनकर यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसमें सच्चाई कितनी है, लेकिन हमें पच बदकर उन्होंने जिस समस्या के निबटारे का निहोरा किया, वह जितनी ही

आश्चर्यजनक थी, उतनी ही मधुर, उतनी ही कठोर।

दुःख के इतिहास का उन्होंने वर्णन किया, उनका सारांश यही था कि घर में उनके खाने-पहनने की कोई कमी न होने के बावजूद न केवल यह गिरस्ती ही उनके लिए विष बन गई है, बल्कि लाज के मारे वे दुनिया को अपना मुंह नहीं दिखा सकते और इन सारी बातों की जड़ है उनकी देवरानी सुनन्दा। उनके देवर यदुनाथ न्यायरत्न ने भी कुछ कम दुश्मनी नहीं की है, मगर उनकी असली शिकायत सुनन्दा के ही खिलाफ है। यह सुनन्दा और उसका स्वामी भी चूंकि हमारी ही प्रजा है, इसलिए जैसे भी हो, उन्हें कायदे-कानून में लाना ही होगा। घटना संक्षेप में यों है। सास-ससुर जब स्वर्गवासी हुए तो ये इस घर की बहू नहीं थीं। यदुनाथ तब सिर्फ छ-सात साल का बालक था। उसे पालने-पोसने का भार इन्हीं के कन्धों पर पड़ा और उस दिन तक ये भार को ढोती आईं। मौरूसी जायदाद के रूप में मिट्टी का एक घर, दो-तीन बीघा ब्रह्मोत्तर जमीन और कई एक घर यजमान मिले। इतने ही के भरोसे इनके पति को संसार-सागर में कूदना पड़ा। आज जो आप सुख-सुविधा, प्राचुर्य देख रहे हैं, यह सब इनकी अपनी कमाई से है। देवरजी ने कोई सहायता नहीं की, सहायता कभी उनसे मांगी भी नहीं गई।

मैंने कहा, 'अब शायद वे बहुत ज्यादा दावा कर रहे हैं?'

कुमारी जी की स्त्री ने गर्दन हिलाकर कहा,'दावा किस बात का बाबू साहब, यह सब कुछ तो उसी का है। सब कुछ वही लेता अगर सुनन्दा ने बीच में आकर मेरे सीने के संसार को छार नहीं कर दिया होता।'

मैंने ठीक-ठीक समझ नहीं पाकर अचरज से पूछा, 'लेकिन आपके ये लड़के।'

वे भी पहले समझ नहीं सकीं, बाद में समझ आने पर कहा, 'ओ, विनय के बारे में कह रहे हैं? वह हमारा लड़का नहीं है, वह एक छात्र है। देवरजी के टोल में पढ़ता था, अभी भी पढ़ता है, रहता हमारे पास है।' इन शब्दों के साथ विनय के प्रति हमारी अनभिज्ञता को दूर करते हुए वे कहने लगीं,'किस तकलीफ से देवर जी को पाला है, भगवान ही जानते हैं और बस्ती के लोग भी कुछ-कुछ जानते हैं। लेकिन वह आज सबकुछ भूल गया है, सिर्फ हम लोग नहीं भूल सके।'—उन्होंने अपनी आंखों के कोने पोंछे और कहा, 'जाने दीजिए, वह लम्बी कहानी है। मैंने देवरजी का जनेऊ कराया, उन्होंने उसे शिबू तर्कालंकार के पास पढ़ने के लिए मिहिरपुर भेज दिया। अकेले उसे मेजबर में रह नहीं सकी, इसलिए मैं खुद भी

जाकर मिहिरपुर में बहुत दिन रही—आज यह बात भी उसे याद नहीं आती। खैर, इस तरह से कितने ही वर्ष बीत गए। देवरजी का पढ़ना खत्म हुआ, उसे संसारी बनाने के लिए ये उनके लिए लड़की खोजते फिरने लगे, ऐसे में कहा नहीं, सुना नहीं, अचानक एक दिन शिबू तर्कालंकार की बेटी सुनन्दा को ब्याहकर घर ले आया। मुझसे न कहा न सही, अपने बड़े भाई से राय तक न पूछी।'

मैंने धीरे-धीरे पूछा, 'राय न लेने की खास कोई वजह थी क्या?'

वे बोलीं, 'बेशक थी। वे लोग हमारे स्व-घर के न थे, कुल-शील मान में भी वही छोटे थे। उन्हें इतना गुस्सा हुआ। दुःख और लज्जा से कई महीने भर किसी से बोले तक नहीं, मैं लेकिन नाराज न हुई। सुनन्दा का चेहरा देखकर शुरू से ही मानो गल गई। फिर जब यह सुना कि उसकी माँ चल बसी और उसके बाप उसे मेरे देवर को सौंपकर सन्यासी होकर चले गये, तो उस बच्ची को पाकर मुझे खुशी दूनी हुई, यह समझा नहीं सकती मैं, लेकिन उस समय यह किसने सोचा था कि वह कभी इसका ऐसा बदला देगी?'—यह कहकर वे जोरों से रो पड़ीं। समझ गया पीड़ा यहीं पर ज्यादा तीखी है, लेकिन चुप ही रहा। राजलक्ष्मी ने अब तक कोई बात नहीं की थी—अब धीरे से पूछा, 'इस समय वे लोग कहाँ हैं?'

जवाब में सिर हिलाकर उन्होंने जो कुछ कहा, उससे यह पता चला कि वे लोग आज भी इसी गाँव में हैं। इसके बाद देर तक कोई बात नहीं हुई। उन्हें आश्वस्त करने में कुछ समय लगा, लेकिन असली बात अभी तक ठीक से समझ ही में न आई। इधर मेरा भोजन लगभग समाप्त हो आया था, क्योंकि उस रुलाई-धुलाई में भी मुझे ऐसी कोई रुकावट नहीं पड़ी। एकाएक आँखें पोंछकर वे सीधी होकर बैठीं और मेरी थाली की ओर देखकर बोलीं, 'रहने भी दीजिए, सारी कहानी कहने चलूँ तो खत्म भी नहीं होने की, आप लोगों को धीरज नहीं रहेगा। जिन लोगों ने हमारी सोने-सी बसी गृहस्थी आँखों देखी है, केवल वही समझ सकते हैं कि छोटी बहू हमारा क्या सत्यानाश कर गई है। मैं संक्षेप में वही लंकाकाण्ड सुनाऊँगी।

'जिस जायदाद पर हमारा सब कुछ निर्भर है, वह कभी एक ताँती की थी। कोई साल भर पहले अचानक एक दिन सवेरे उसकी विधवा स्त्री अपने नाबालिग लड़के को लेकर हाजिर हुई। गुस्से में कितना क्या कहा, ठिकाना नहीं, शायद उसका कुछ भी सत्य नहीं, शायद हो कि उसका सब झूठा ही हो—छोटी बहू नहा-

कर रसोई में जा रही थी, यह सब सुनकर वह मानो पत्थर हो गई। माँ-बेटे चले भी गए, लेकिन छोटी बहू की वह दशा नहीं मिटी। मैंने आवाज दी, अरी सुनन्दा, खड़ी है तू देर नहीं हो रही है? लेकिन जवाब के लिए उसके चेहरे की तरफ जो ताका, तो मुझे डर लगा! उसकी निगाह में कैसी तो चमक छिटक रही थी, परन्तु साँवला मुखड़ा बिल्कुल फीका पड़ गया था—बदरंग। उस तातिन की बातों ने मानो उसके बदन के खून को बूँद-बूँद करके सोख लिया हो। उसने तुरन्त मेरी बात का जवाब नहीं दिया। आहिस्ते से मेरे करीब आकर बोली, दीदी, इस तातिन की जायदाद तुम लोग लौटा नहीं दोगी? उसके छोटे-से नाबालिग लड़के का सर्वस्व लेकर उसे आजीवन राह का भिखारी बनाकर रखोगी?

'मैंने चकित होकर कहा, सुन लो बात इसकी। कन्हाई चक्कर की सारी सम्पत्ति कर्ज में बिक गई, उन्होंने खरीदी है। भला खरीदी हुई चीज कौन किसे लौटा देता है बहू?

छोटी बहू ने कहा, लेकिन जेठजी को इतने रुपये कहाँ से मिले?

मैंने गुस्से से कहा, यह तू अपने जेठजी से पूछ, जिन्होंने जायदाद खरीदी है। यह कहकर मैं आह्निक करने चली गई।'

राजलक्ष्मी ने कहा, 'ठीक तो है। जो सम्पत्ति नीलाम में बिक गई है, उसे छोटी बहू लौटाने को क्यों कहती है।'

कुशारी जी की स्त्री ने कहा, 'जी हाँ, आप ही कहिए!' लेकिन यह कहने के बावजूद उनके चेहरे पर मानो शर्म की एक काली छाया-सी पड़ी। बोली, 'नीलाम में ही ठीक नहीं बिकी न, यही बात है। असल में हम लोग उनके पुरोहित वंश के हैं। मरते समय कन्हाई सारा भार इन्हीं को दे गया, मगर उस समय तो इन्हें यह पता नहीं था कि सम्पत्ति के साथ यह काफी कर्ज भी छोड़ गया।'

उनकी बात सुनकर मैं और राजलक्ष्मी, दोनों जने कैसे तो सन्न रह गए। कोई गन्दी-सी चीज मानो लमहे में मेरे मन के अन्दर की एकबारगी मलिन बना गई। शायद कुशारी जी की स्त्री ने इसे गौर नहीं किया। बोलीं, 'मैं जप-पाठ समाप्त करके दो घण्टे के बाद लौटी तो देखा, सुनन्दा वहीं ठीक उसी तरह बैठी है। एक इंच भी नहीं हिली! ये कचहरी से लौटते ही वाले हैं, देवरजी बिनू को लिए खलियान गया था, लौट ही रहा होगा, बिना नहाकर आ चला पूजा पर बैठेगा—मेरे क्रोध की सीमा न रही। कहा, तू क्या आज रसोई में जाएगी ही नहीं?

उस बदमाश तातिन की फटी बातें लिए ही बैठी रहेगी ?

'सुनन्दा ने सिर उठाकर कहा, नहीं दीदी, वह जायदाद अपनी नहीं, उसे आप लोग लौटा न देंगे तो मैं रसोई में नहीं जाऊँगी। उस नाबालिग लड़के के मुँह का कौर छीनकर मैं पति-पुत्र को भी नहीं खिला सकती, ठाकुर का भोग भी नहीं तैयार कर सकती। इतना कहकर वह अपने कमरे में चली गई। सुनन्दा को मैं पहचानती थी। यह भी जानती थी कि वह झूठ नहीं बोलती, अपने अध्यापक सन्यासी पिता से उसने बचपन से ही शास्त्र पढ़ा है, मगर उस समय तक यह नहीं मालूम था कि स्त्री होकर भी वह ऐसी पाषाण कठोर हो सकेगी। मैं जल्दी-जल्दी रसोई करने चली। पुरुष घर लौटे। मालिक जब खाने बैठे तो सुनन्दा दरवाजे के पास जाकर खड़ी हुई। मैंने दूर ही से हाथ जोड़कर कहा, सुनन्दा, माफ कर बहन, उन्हें खा लेने दे। उसने इतनी-सी विनती भी न मानी। गड़प करके वे खाने ही बैठे थे कि पूछा, ताती वाली जायदाद क्या आपने रुपया देकर ली थी ? ससुरजी तो कुछ छोड़ नहीं गए थे, यह मैंने आप ही लोगों से कई मरतबे सुना है, तो फिर इतने रुपये कहाँ से मिले आपको ?

'जो कभी बात नहीं करती थी, उसके मुँह से यह प्रश्न सुनकर पहले तो वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए, फिर बोले, इन बातों का मतलब क्या है बहू ?

'सुनन्दा ने जवाब दिया, इसका मतलब कोई अगर जानता है, तो वे हैं आप। आज ताती की घरवाली अपने बेटे को लेकर आई थी, उसकी सारी बातों को आपके सामने दोहराना फिजूल है—आपसे कुछ भी छिपा नहीं। वह जायदाद आप अगर उसे वापिस नहीं कर देंगे, तो अपने जीते जी इस महापाप का अन्न मैं अपने पति पुत्र को खाने नहीं दूँगी।

मुझे ऐसा लगा, या तो मैं सपना देख रही हूँ या सुनन्दा को भूत लगा है। जिस जेठ की वह देवता से ज्यादा भक्ति करती है, उन्हीं को ऐसा कहना ! वे भी कुछ देर वज्र के मारे-से बैठ रहे, उसके बाद आग-बबूला होकर बोल उठे, जायदाद पाप की हो या पुण्य की—वह मेरी है, तुम्हारे स्वामी-पुत्र की नहीं। तुम्हें न पोसाए तो जी चाहे जहाँ जा सकती हो। लेकिन बहू, आज तक मैं तुम्हें गुणवती जानता था, ऐसा कभी नहीं सोचा था। उसके बाद वे थाली छोड़कर उठ गए। उस रोज फिर किसी के मुँह में न अन्न पड़ा न पानी। मैं रोती-पीटती देवर जी के पास गई, कहा, देवरजी, तुमको तो मैंने अपनी गोद में पाला है—

उसका यह प्रतिफल ! देवरजी की आँखें आँसुओं से डबडबा आईं। वह बोले, भाभी, तुम्हीं मेरी माँ हो। भैया पिता के समान हैं लेकिन तुम लोगों ने जो किया है, वह धर्म है। मेरा भी विश्वास है, सुनन्दा ने एक भी बात गलत नहीं कही है। सन्यास लेते वक्त मेरे ससुर उसे आशीर्वाद दे गए थे, बेटी, सच ही अगर धर्म से प्यार हो तो वही तुम्हें राह दिखाएँगे। मैं उसे इतनी-सी उम्र से जानता हूँ भाभी, उसने कभी भूल नहीं की है।

'हाय रे जला नसीब ! कलमुँही ने भीतर-ही-भीतर उसे भी इतना वश में कर लिया था—आज मेरी आँखें खुलीं। भादों की संक्रांति का दिन, बादल घिरा आसमान, रह-रहकर झमझमा पानी पड़ रहा था—लेकिन अभागिन ने रातभर के लिए भी हमारी बात न रखी, बच्चे का हाथ थाम घर से निकल गई। ससुर के जमाने की हमारी एक प्रजा—दो साल हुए मर-खपकर जा चुकी थी, उन्हीं का टूटा-फूटा घर किसी तरह से अब तक खड़ा रह गया था—स्यार-कुत्ते साँप-मेंढक के साथ उस दिन उसने उसी में जाकर पनाह ली। मैं आँगन की कीच में लोटकर रो पड़ी, कही सत्यानाशी, यही अगर तेरे जी में था तो तू इस संसार में आई ही क्यों थी ? बिनू तक को साथ ले चली, तूने क्या यह प्रतिज्ञा ही की है कि ससुर के खानदान का नाम तक नहीं रहने देगी ? कोई जवाब नहीं दिया। मैंने कहा, खाएगी क्या ? वह बोली, ससुर तो तीन बीघा ब्रह्मोत्तर जमीन रख गए हैं, उसका आधा अपना है। उसकी बात सुनकर सिर पीटकर मर जाने की इच्छा हुई। कहा, अरी अभागी, उससे एक दिन भी नहीं चलेगा ? तू खाए बिना मर ही चाहे, मगर मेरा बिनू ? बोली, एक बार कन्हाई के बेटे की सोच देखो दीदी। उसकी तरह एक जून खाकर भी अगर बिनू जिन्दा रहे तो वही बहुत है।

'वे चले गए। सारा घर हाहाकार करके रोने लगा। उस रात घर में रोशनी नहीं जली, रसोई नहीं चढ़ी, रात में वे देर से लौटे और तमाम रात उस खूँटी से ओठंग कर बिताई। शायद मेरा बिनू सोया नहीं, शायद मेरा मुन्ना भूख से छटपट कर रहा है। भोर होते-न-होते राखाल के हाथ बछड़ा सहित गाय भिजवा दी, मगर राक्षसी ने बैरंग वापस भेज दिया। कहला भेजा, बिनू को मैं दूध नहीं पिलाना चाहती, उसे मैं बिना दूध के जिन्दा रहने का पाठ पढ़ाना चाहती है।'

राजलक्ष्मी से सिर्फ एक लम्बा निःश्वास छूट पड़ा, उस दिन की सारी वेदना और अपमान की स्मृति ने उमड़कर कुशारी जी की स्त्री का गला रुद्ध कर दिया और मेरे हाथ में दाल-भात सूखकर चमड़ा बन गया। कुशारी जी की खड़ाऊँ की आवाज सुनाई पड़ी। उनका भोजन समाप्त हो गया। आशा है उनका मौनव्रत अटूट रहा और उनके सात्विक भोजन में कोई विघ्न नहीं हुआ लेकिन उन्हें शायद इधर का मजरा मालूम था, इसीलिए मेरी खोज लेने नहीं आए। मकान मालकिन ने आँखें पोंछकर, नाक झाड़कर, गला साफ करके कहा, 'उसके बाद गाँव-गाँव, घर-घर हर जबान पर जो बदनामी फैली, उसकी क्या कहूँ! ये बोले, दो दिन बीतने दो, कष्ट की मार से वे आप ही लौट आएँगे। मैंने कहा, तुम उसे नहीं पहचानते, वह टूट सकती है, झुक नहीं सकती। हुआ भी यही। एक-एक करके आठ महीने बीत गए, लेकिन उन्हें झुका नहीं सके। सोचते-सोचते और आड़-ओट में रोते-रोते ये मानो काठ हो जाने लगे। वह बच्चा इनकी जान था और देवरजी को ये पुत्र से ज्यादा प्यार करते थे। जब सहा नहीं गया तो एक आदमी से कहला भेजा, नाती के बच्चे को कुछ तकलीफ न हो, मैं इसका उपाय करूँगा, लेकिन उस डाईमारी ने जवाब दिया, उनका सारा वाजिब पावना चुका देने के बाद ही वापिस आऊँगी—छटाँकभर भी कहीं बाकी रह जाएगा, तो नहीं आने की। इसका मतलब अपनी निश्चित मृत्यु।'

मैंने गिलास के पानी में हाथ डालकर पूछा, 'इस समय उनका गुजारा कैसे चलता है?'

कुशारी जी की स्त्री कातर होकर बोली, 'इसका जवाब हमें देने को न कहिए। कोई यह चर्चा करता है तो मैं कान में उँगली डालकर भाग खड़ी होती हूँ। लगता है, दम अटक जाएगा। इन आठ महीनों से इस घर में मछली नहीं आती, दूध-घी की कड़ाही चूल्हे पर नहीं चढ़ती। सारे घर पर वह मानो एक दारुण अभिशाप रखकर चली गई है—' यह कहकर वे चुप हो गईं और बड़ी देर तक हम तीनों जने स्तब्ध बैठे रहे।

घण्टेभर बाद जब फिर गाड़ी पर सवार हुए तो कुशारी जी की पत्नी ने सजल स्वर में राजलक्ष्मी के कानों में कहा, 'बेटी, वे आपकी ही प्रजा हैं। हमारे ससुर की जिस जमीन का उन्हें सहारा है, वह गंगामाटी में पड़ती है।'

राजलक्ष्मी ने सिर हिलाकर कहा, 'अच्छा।'

गाड़ी खुल जाने पर वे बोलीं, 'बेटी, आपके घर से ही दिखाई पड़ता है। नाले के इस ओर जो टूटा-सा मकान दीखता है, वही।'

राजलक्ष्मी ने उसी तरह सिर हिलाकर कहा, 'अच्छा।'

गाड़ी धीरे से चल पड़ी। देर तक मैं कुछ बोला ही नहीं। देखा, राजलक्ष्मी अनमनी-सी कुछ सोच रही है। उसका ध्यान तोड़कर कहा, 'लक्ष्मी, जिसे लेना नहीं, जो चाहता नहीं, उसे मदद करने जाने जैसी विडम्बना संसार में दूसरी नहीं।'

मेरी ओर एक नजर देखकर जरा हँसती हुई वह बोली, 'यह मुझे मालूम है। तुमसे और कुछ न मिला हो चाहे, यह शिक्षा मिली है।'

छः

अपने मन की छान-बीन करने पर पता लगता है, जिन कुछ नारी-चरित्रों ने मेरे हृदय पर गहरी लकीर खींची है, उनमें से एक है कुशारी जी के छोटे भाई की वह विद्रोही पत्नी। अपने लम्बे जीवन में मैं सुनन्दा को आज भी नहीं भूल सका हूँ। राजलक्ष्मी किसी को इतनी जल्दी और इस आसानी से अपना बना ले सकती है कि एक दिन सुनन्दा ने जो मुझे भैया कहकर पुकारा था, उसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं। यह न होता तो इस अद्भुत चरित्र को जानने का मुझे कभी मौका नहीं मिलता। अध्यापक यदुनाथ तर्कालंकार के दो-तीन टूटे-फूटे-से घर हमारे घर से पश्चिम में वँहार के एक छोर पर साफ दिखाई पड़ते थे—जब से यहाँ पहुँचे, तभी से वे घर हमें दिखाई पड़ते रहते हैं, सिर्फ इतनी जानकारी नहीं थी कि वहाँ एक विद्रोहिणी ने अपने पति-पुत्र के साथ डेरा डाला है। बाँसवाली पुलिया को पार करके उजाड़ वँहार से दसेक मिनट का रास्ता—बीच में वहाँ कोई पेड़-पौधा नहीं—दूर तक साफ दिखाई पड़ता। आज सुबह नींद टूटी और खिड़की से जब उन श्रीहीन टूटे-फूटे मकानों पर नजर पड़ी, तो मैं एक अननुभूत पीड़ा और आग्रह से देर तक उन्हें देखता रह गया। और, जिस चीज को बहुत बार बहुत मौकों में देखकर भूलता रहा हूँ, वही याद आ गई कि दुनिया के किसी भी चीज के सिर्फ बाहर को देखकर कुछ कहने का उपाय नहीं। कौन

कह सकता है कि यह टूटा हुआ मकान कुत्ते-गीदड़ों का अड्डा नहीं है? कौन अनुमान करेगा कि उन उजड़े-से मकानों में कुमारसम्भव, रघुवंश, शकुन्तला, मेघदूत का पठन-पाठन होता है, शायद हो कि स्मृति और न्याय की मीमांसा और विचार में छात्रों से घिरे एक नवीन अध्यापक वहाँ मग्न रहते हैं? किसे पता होता कि उन्हीं घरों में बंगाल की एक युवती धर्म और न्याय की मर्यादा के लिए स्वेच्छा से अथाह कष्ट झेल रही है? दक्खिन के झरोखे से आँगन में नजर गई तो लगा, वहाँ कुछ हो रहा है—रतन इनकार कर रहा है और राजलक्ष्मी उसे डाँट रही है। लिहाजा आवाज उसी की तेज थी। मैं जाकर बाहर खड़ा हुआ कि वह कुछ अप्रतिभ-सी हो गई। बोली, 'नींद टूट गई? जरूर टूटेगी। रतन, तू जरा अपना गला धीमा कर भैया, वरना मैं तो तुमसे पार नहीं पाती अब।'

ऐसी शिकवा-शिकायतों का न केवल रतन, घर भर के हम सभी लोग आदी हो गए थे, लिहाजा जैसे रतन चुप रह गया, वैसे मैं भी कुछ न बोला। मैंने देखा, एक बड़ी-सी टोकरी में चावल-दाल, घी, तेल आदि और वैसे ही दूसरे छोटे बर्तन में और भोज्य-सामग्रियाँ सजाकर रक्खी गई हैं; लगा, उनके परिमाण और ढोने के सामर्थ्य के बारे में ही रतन इनकार कर रहा था। अनुमान सही निकला। राजलक्ष्मी मुझे पच बदकर बोली—'जरा इसकी बात सुन लो। इतनी सी चावल-दाल यह ढोकर नहीं ले जा सकेगा! यह तो मैं ले जा सकती हूँ रतन!' यह कहकर उसने मजे में टोकरी को उठा लिया।

जहाँ तक वजन का सवाल है, आदमी के लिए यहाँ तक कि रतन के लिए भी उसे ले जाना कठिन न था, मगर कठिन था दूसरा काम। इससे उसकी मर्यादा नष्ट होगी—पर शर्म से मालकिन के आगे वह इसी बात को कबूल नहीं कर पा रहा था; उसका चेहरा देखकर मैं बड़ी आसानी से यह बात ताड़ गया। हँसकर कहा—'आदमी की तुम्हें कमी क्या पड़ी है, रैयत भी हैं—उन्हीं में से किसी के द्वारा भेज दो, रतन यों ही साथ जाए।'

रतन सिर झुकाए खड़ा रहा। राजलक्ष्मी ने एक बार मेरी तरफ और एक बार रतन की तरफ ताककर खुद भी हँसते हुए कहा—'कम्बख्त ने आध घण्टे तक हुज्जत की, मगर यह नहीं कहा, ये छोटे काम रतन बाबू के लिए नहीं हैं। जा, किसी को बुला ला।'

रतन चला गया तो मैंने पूछा—'सुबह-सुबह जगते ही यह सब?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'खाने की चीज सवेरे ही भेजनी चाहिए।'

'मगर भेजी कहाँ जा रही है ? और वजह भेजने की ?'

राजलक्ष्मी—'वजह है, आदमी खाएगा और भेजा जा रहा है ब्राह्मण के यहाँ।'

पूछा—'ये ब्राह्मण हैं कौन ?'

राजलक्ष्मी मुस्कराती हुई कुछ देर तक चुप रही। सम्भवत वह सोचने लगी नाम बताए या नहीं, लेकिन तुरन्त ही बोली—'देकर बताना नहीं चाहिए पुण्य कम हो जाता है। तुम मुँह-हाथ धोकर कपड़े बदल लो, तुम्हारी चाय तैयार हो गई है।'

दस बज रहे होंगे, बाहर वाले कमरे में तख्त पर बैठकर चूँकि कोई काम नहीं था इसलिए एक पुराने साप्ताहिक का विज्ञापन पढ़ रहा था कि एक अन-पहचानी आवाज से मुड़कर देखा; देखा आगन्तुक अपरिचित ही है। बोले—'नमस्कार बाबू साहब।'

मैंने भी हाथ उठाकर नमस्कार किया। कहा—'बैठिए।'

ब्राह्मण बेचारा बड़ा ही फटेहाल—पैरों में जूता नहीं, बदन पर कुरता नहीं, सिर्फ एक मैली चादर, पहनावे का कपड़ा भी मैला, जिस पर दो-तीन जगह गाँठ बँधी। गाँव के भले आदमी के वस्त्रों की गरीबी अचरज की भी चीज नहीं, सिर्फ उसी पर उनकी सामाजिक अवस्था का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। बाँस के मोढ़े पर सामने बैठते हुए वे बोले—'मैं आपकी एक गरीब प्रजा हूँ, मुझे पहले ही आना चाहिए था—बड़ी भूल हो गई।'

मुझे जमींदार समझकर कोई मुझसे बात करने आता तो मैं मन से जितना सज्जित होता, उतना ही खीझता; और खास करके ये लोग निवेदन-आवेदन लेकर आया करते, जिन बद्धमूल उत्पातों और अत्याचारों के प्रतिकार की प्रार्थना करते, उन पर मेरा कोई वश ही नहीं था। इनके प्रति भी मैं खुश न हो सका; कहा—'देर से आने के लिए आप दुखी न हों, क्योंकि आप कतई आते ही नहीं, तो भी मैं बुरा न मानता—अपना ऐसा स्वभाव नहीं; लेकिन आपके आने का प्रयोजन ?'

ब्राह्मण ने लज्जित होकर कहा—'बेवक्त आकर मैंने शायद आपके काम में खलल डाला—मैं फिर कभी आऊँगा।' यह कहकर वे उठ खड़े हुए।

मैंने खीझकर कहा—'मुझसे आपको क्या जरूरत है, कहिए ?' मेरी इस खीझ को वे सहज ही ताड़ गए। जरा चुप रहकर शान्त भाव से बोले—'मैं मामूली आदमी हूँ, जरूरत भी निहायत मामूली है। माँजी ने मुझे याद किया है, शायद उन्हें कोई जरूरत हो, मुझे अपनी कोई जरूरत नहीं।'

जवाब कठोर होने हुए भी सत्य था और मेरे सवाल की तुलना में असगत भी न था। लेकिन यहाँ आने के बाद से ऐसा जवाब सुनाने वाला कोई था नहीं, इसीलिए उनके जवाब से सिर्फ चकित ही नहीं, क्रोधित हो उठा, क्योंकि स्वभाव मेरा यों रूखा भी नहीं, दूसरी जगह इस बात से कुछ ख्याल भी न होता। लेकिन ऐश्वर्य चीज इतनी बुरी है कि उधार का होने के बावजूद उसके अपव्यवहार का प्रलोभन आदमी सहज ही नहीं छोड़ सकता। सो पहले से ज्यादा रूखा जवाब ही जबान पर आ गया था, परन्तु उसकी फाँस निकलने के पहले ही देखा, बगल का दरवाजा खुल गया और पूजा अधूरी ही छोड़कर राजलक्ष्मी आसन से उठ आई। दूर से ही सम्मान के साथ प्रणाम करके बोली—'इतने में ही चल मत दीजिए, बैठिए। आपसे बहुत बातें करनी हैं।'

ब्राह्मण फिर से बैठते हुए बोले—'माँजी, आपने तो मेरी बहुत दिनों तक की फिक्र दूर कर दी, इसमें मेरे पन्द्रह दिन के भोजन का मसला हल हो गया, मगर आजकल तो अकाल है व्रत-त्यौहार कुछ है नहीं। इसीलिए हैरान होकर ब्राह्मणी ने पूछा था।'

राजलक्ष्मी ने हँसकर कहा—'आपकी ब्राह्मणी ने केवल व्रत-त्यौहार की ही दिन-तिथि सीख रखी है, उनसे कहें कि पड़ोसी की खोज-पूछ का काल-विचार मुझसे सीख जाएँ।'

वे बोले—'तो इतना बड़ा सीधा क्या '

प्रश्न को वे पूरा न कर सके, या तो जानकर ही पूरा न किया, मगर मैं इभी ब्राह्मण के अपूर्ण वाक्य का पूरा मतलब समझ गया, लेकिन मुझे भय हुआ, मेरी ही तरह बिना समझे राजलक्ष्मी भी शायद एक कठोर बात सुनेगी। भलेमानस का एक तरह का परिचय अभी भी यद्यपि अजाना था, लेकिन और एक तरफ का परिचय पहले ही पा चुका था, लिहाजा यह ख्वाहिश न हुई कि मेरे ही सामने फिर उसकी पुनरावृत्ति हो। भरोसा सिर्फ यही था कि सामने सामने कोई भी राजलक्ष्मी को कभी निरुत्तर नहीं कर दे सकता था। ठीक वही हुआ। इस मद्दे

प्रश्न से भी वह सहज ही कतराकर निकल गई और हँसकर बोली—'तर्कालंकारजी, मैंने सुना है, आपकी ब्राह्मणी बड़ी क्रोधी हैं— बे-बुलाए पहुँच जाने से शायद नाराज हो जाएँ, नहीं तो इस बात का जवाब उन्हीं को दे आती।'

अब मैंने समझा कि यही यदुनाथ कुशारी हैं। अध्यापक ठहरे, गृहिणी के मिजाज का जिक्र आते ही अपना मिजाज खो बैठे। ठठाकर हँसते हुए कमरे को गुँजाकर बोले—'नहीं माँजी, क्रोधी क्यों होने लगीं, बेहद सीधी हैं। हम गरीब हैं, आप जाएँगी तो हम आपका उपयुक्त सम्मान नहीं कर सकेंगे—वही आएँगी। फुर्सत पाने पर मैं ही उन्हें साथ ले आऊँगा।'

राजलक्ष्मी ने पूछा—'तर्कालंकारजी, आपके छात्र कितने हैं?'

उन्होंने कहा—'पाँच। इस इलाके में छात्र ज्यादा मिलने की गुंजाइश है कहाँ—अध्यापन का काम नाम का है।'

'सबको खाना-कपड़ा देना पड़ता है?'

'नहीं। विजय तो बड़े भैया के ही पास रहता है, एक का घर इसी बस्ती में है। तीन मेरे पास रहते हैं।'

राजलक्ष्मी जरा चुप रही फिर बेहद कोमल स्वर से बोली, 'इस कठिन समय में यह कुछ सहज काम तो नहीं है।'

इसी कंठस्वर की जरूरत थी वरना स्वाभिमानी अध्यापक के नाराज हो उठने में कोई बाधा ही न थी। मगर, इस बार उनका ध्यान उधर को गया ही नहीं। बड़ी आसानी से घर की दुःख, दरिद्रता को कबूल कर बैठे। बोले—'कैसे चल रहा है, इसे हम स्वामी-स्त्री ही जानते हैं; लेकिन फिर भी तो भगवान का उदय-अस्त नहीं रुकता! और फिर उपाय भी क्या है! पढ़ना-पढ़ाना तो ब्राह्मण का ही काम है। आचार्यों से जो कुछ पाया है, वह तो धरोहर है, कभी-न-कभी उसे तो लौटाना ही है।' वे कुछ देर चुप रहे और फिर बोले—'पहले यह जिम्मेदारी देश के जमींदारों की थी, अब समय बिलकुल बदल गया है। उनका वह अधिकार भी न रहा, वह जिम्मेदारी भी न रही। प्रजा का खून चूसने के सिवाय अब उनका कोई कर्तव्य नहीं। उन्हें जमींदार समझने में ही अब घृणा होती है।'

राजलक्ष्मी ने हँसकर कहा—'लेकिन वैसों में से कोई अगर इसका प्रायश्चित करना चाहे, तो अड़चन मत डालिएगा!'

तर्कालंकारजी शर्मिन्दा होकर खुद भी हँसे। बोले—'बेमना होकर आपकी बात ही याद न रही। खैर, लेकिन अड़चन क्यों डालने लगा ? सच ही तो यह आप लोगों का कर्त्तव्य है।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'हम लोग पूजा-अर्चा करते हैं, परन्तु एक भी मन्त्र शायद शुद्ध शुद्ध नहीं पढ़ सकते—यह आप ही लोगों का कर्त्तव्य है, इसकी भी लेकिन याद दिला दूँ।'

वे हँसकर बोले—'वैसा ही होगा माँजी।' और देरी का ख्याल करके वे उठ पड़े। राजलक्ष्मी ने भूमिष्ठ होकर दण्डवत् किया। मैंने भी किसी तरह से नमस्कार का शिष्टाचार निबाह लिया।

उनके चले जाने पर राजलक्ष्मी ने कहा—'आज तुम्हें जरा सबेरे-सबेरे खा-पी लेना होगा।'

'क्यों भला ?'

'दोपहर को जरा सुनन्दा के यहाँ जाना है।'

कुछ चकित-सा होकर पूछा—'मगर मुझे क्यों घसीटोगी ? तुम्हारा वाहन रतन तो है ही ?'

उसने सिर हिलाकर कहा—'उस वाहन से अब काम नहीं चलता। तुम्हें साथ लिए बिना अब मैं एक कदम नहीं बढ़ने की कहीं।'

मैंने कहा—'खैर। वही सही।'

सात

पहले ही कह चुका हूँ, सुनन्दा ने एक दिन मुझे भैया कहा था, उसे नितान्त आत्मीय के रूप में पाया था। विस्तार में यह न बताऊँ, तो अविश्वास का कोई कारण नहीं है, लेकिन शायद हो कि हमारे प्रथम परिचय के इतिहास पर यकीन करना कठिन हो। बहुतों को यह अद्भुत-सा लगेगा, हो सकता है बहुत से लोग सिर हिलाकर कहें, यह सब किस्सा-कहानी में ही चल सकता है। कहेंगे, हम भी बंगाली ही हैं, बंगाल में ही पले-बढ़े, लेकिन साधारण गृहस्थघर में ऐसा होता है, यह तो नहीं देखा कभी। बात सही है, लेकिन जवाब में यही कह सकता हूँ कि

मैं भी यहीं का हूँ और एक से अधिक सुनन्दा इस देश में मुझे भी नहीं दिखाई पड़ी। फिर भी वह सत्य है।

राजलक्ष्मी अन्दर गई, मैं उनकी टूटी दीवार के पास खड़ा यह ढूंढने लगा कि कहां थोड़ी-सी छांह मिलेगी, इतने में सत्रह-अठारह साल के एक छोकरे ने आकर कहा—'आइए, अन्दर आइए।'

'तर्कालंकारजी कहां हैं?' आराम कर रहे हैं शायद?'

'जी नहीं, वे पैंठ गए हैं। मांजी है, आइए।' यह कहकर वह आगे बढ़ा और मैं बहुत हिचकते हुए ही उसके पीछे हो लिया। कभी इस घर का सदर दरवाजा कहीं रहा जरूर होगा, लेकिन इस समय तो उसकी निशानी भी कहीं नहीं। पहले के ठेकेदार से अन्दर दाखिल होकर मैंने उसकी मर्यादा का बेजा उल्लघन नहीं किया। प्रागण में पहुंचकर सुनन्दा को देखा। उन्नीस-बीस साल की सांवली-सी युवती, इस घर की तरह ही भूषण विहीन। सामने के मकरे बरामदे में बैठकर मुरमुरे भूंज रही थी, राजलक्ष्मी के आने के साथ ही उठ खड़ी हुई थी शायद। मेरे लिए फटे कम्बल का एक आसन डाल दिया और नमस्कार किया। बोली—'बैठिए।' उस छोकरे से कहा—'अजय, चूल्हे में आग है। जरा तम्बाकू चढ़ा।' राजलक्ष्मी पहले ही बिना आसन के बैठ गई थी, उसकी ओर जरा शर्म से मुस्कराकर देखती हुई बोली—'आपको लेकिन पान नहीं दे पाऊंगी; मेरे घर पान नहीं है।'

हम लोग कौन हैं, अजय शायद यह जान गया था। गुरु-पत्नी की बात सुनकर वह बहुत परेशान-सा होकर बोला—'नहीं है: लगता है, पान अचानक आज खत्म हो गया है मां?'

होंठ दबाकर उसकी ओर एक क्षण देखकर सुनन्दा ने कहा—'अचानक आज खत्म हो गया है या सिर्फ अचानक ही एक दिन था अजय?' यह कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और राजलक्ष्मी से बोली—'पिछले रविवार को छोटे महन्त जी के आने की बात थी, सो एक पैसे का पान खरीदा गया था। यह कोई दस दिन की बात है। बस! अजय हमारा इसी से अचम्भे में पड़ गया है कि पान अचानक खत्म कैसे हो गया? वह फिर हँस पड़ी। अजय बड़ा अप्रतिभ होकर कहने लगा—'वाह, यह बात है! वही हुआ तो क्या, खत्म ही हो गया तो क्या'

राजलक्ष्मी ने मुस्कराते हुए सदय स्वर में कहा—'ठीक ही तो है बहन, यह

पुरुष ठहरा, पर क्या जाने कि तुम्हारी गिरस्ती की कौन-सी चीज खत्म हो गई है।'

एक ही को अपने अनुकूल पाकर अजय कहने लगा—'देखिए तो भला! मगर माँ सोचती हैं'

सुनन्दा वैसी ही हँसती हुई बोली—'जी, माँ सोचती हैं। नहीं दीदी, घर की गृहिणी अजय ही है वह सब जानता है। वह सिर्फ यही स्वीकार नहीं कर सकता है कि यहाँ कोई कष्ट है, बाबूगिरी तक।'

'क्यों नहीं स्वीकार कर सकता! वाह, बाबूगिरी कोई अच्छी चीज है! वह तो हम' और बात खत्म किए बिना ही अजय शायद मेरे लिए तम्बाकू लाने ही चल दिया। सुनन्दा बोली ब्राह्मण पण्डित के यहाँ हर्रें ही बहुत हैं, खोजने पर एकाध सुपारी भी शायद मिल जाए। मैं देखती हूँ।' वह जाने लगी कि राजलक्ष्मी ने उसका आँचल थाम लिया—'बहन, हर्रें मुझे बर्दाश्त न होगी और सुपारी की भी जरूरत नहीं। तुम स्थिर होकर मेरे पास बैठो, बातें करूँ।' राजलक्ष्मी ने एक प्रकार से जबर्दस्ती ही उसे पास में बिठा लिया।

आतिथ्य के दायित्व से छुट्टी पाकर जरा देर के लिए दोनों चुप हो रहीं। इस मौके से मैंने और एक बार सुनन्दा को देख लिया। पहले ही जी में आया, वास्तव में यह गरीबी दुनिया में कितनी अर्थहीन, बशर्ते कि कोई उसे कबूल न न करे! हमारे साधारण परिवार की यह लड़की, बाहर से जिसमें कोई विशेषता नहीं, न तो रूप, न कपड़ा-गहना, घर में जिधर नजर डालिए अभाव की छाया—मगर वह महज छाया ही है, छाया से ज्यादा कुछ नहीं—यह बात भी तुरन्त समझ में आती है। अभाव ने कष्ट को इस स्त्री ने मानो आँख के इशारे से ही मना करके दूर हटा रक्खा है। जोर करके अन्दर आ जाए, इतनी हिम्मत उसमें नहीं—जो कि कुछ ही महीने पहले उसे सब कुछ था—घर-द्वार, अपने बिराने—मजे की गिरस्ती, किसी चीज की कमी नहीं—सिर्फ एक कठोर अन्याय का उससे भी कठोर प्रतिवाद करने के लिए वह सब छोड़ आई—ऐसे छोड़ आई जैसे कोई फटे कपड़े का टुकड़ा छोड़ता हो, इस निश्चय में उसे एक पहर का भी समय नहीं लगा। और, इस कठोरता की कोई निशानी उसके किसी अंग में नहीं।

राजलक्ष्मी हठात् मुझसे बोल उठी—'मैंने सोचा था, सुनन्दा की उम्र काफी होगी। हाय ईश्वर यह तो निरी बच्ची है।'

अजय शायद अपने गुरु के हुक्के पर ही चिलम रखकर ले आ रहा था,

सुनन्दा ने उसे दिखाते हुए कहा—'बच्ची कैसे ! ये कितने बड़े-बड़े जिसके लड़के हों, उसकी उम्र कम हो सकती है !' यह कहकर वह हँसने लगी। बड़ी ही सुन्दर और खिली हुई हँसी। चूल्हे से आग खुद ही निकाले या नहीं, अजय के पूछने पर वह मजाक से बोल उठी—'पता नहीं किस जात के हो बेटे, जरूरत नहीं चूल्हा छूने की।' असल बात यह थी कि जलते चूल्हे से आग निकालना मुश्किल था, सो स्वयं आग निकालकर उसने चिलम रख दी और अपनी जगह पर आ बैठी। ममूली गँवई-स्त्री सुलभ हँसी मजाक से लेकर बात में, चीत में, आचरण में—कहीं भी कुछ खासियत पकड़ पाने की गुंजाइश नहीं, अथच इतने में उसका जो सामान्य परिचय मिला, वही कितना असामान्य है। थोड़ी ही देर में इस असाधारणता का कारण हम दोनों की निगाह में साफ हो गया। मेरे हाथ में हुक्का देते हुए अजय ने कहा—'माँ, तो उसे रख दूँ ?'

इशारे से सुनन्दा ने हामी भरी। उसकी दृष्टि का अनुसरण करके देखा, मेरे करीब ही काठ के पीढ़े पर एक मोटी-सी पोथी खुली पड़ी है। अब तक हममें से किसी ने उसे नहीं देखा। पोथी के पन्नों को सहेजते हुए अजय ने कहा—'उत्पत्ति प्रकरण तो आज भी खत्म नहीं हुआ माँ, अब कब होगा। यह अब नहीं ही होगा।'

राजलक्ष्मी ने पूछा—'यह कौन-सी पोथी है अजय ?'

'योगवाशिष्ठ।'

'तुम्हारी माँ मुरमुरे भूँज रही थी और तुम सुना रहे थे उन्हें ?'

'नहीं। मैं माँ से पढ़ता हूँ।'

अजय के इस सरल और संक्षिप्त उत्तर से सुनन्दा अचानक शर्म से तमतमा उठी। झट से बोल उठी—'पढ़ाने जैसा शऊर तो क्या है माँ को, नहीं दीदी, दोपहर को अकेली गिरस्ती का काम-काज करती हूँ, वे तो प्राय: रहते ही नहीं, ये लड़के किताबें लेकर अब कौन क्या पढ़ता रहता है, उसका बारह आना तो मैं सुन ही नहीं पाती। इसे क्या, कह दिया कुछ।'

अजय अपना योगवाशिष्ठ लेकर चला गया, राजलक्ष्मी गम्भीर चेहरा लिए स्थिर बैठी रही। कई क्षणों के बाद एक लम्बा निश्वास छोड़कर बोली—'पास में होती, तो मैं भी तुम्हारी चेली बन जाती बहन। आना-जाना तो कुछ है ही नहीं, आह्निक पूजा के शब्द ही अगर ठीक-ठाक उच्चारण कर पाती।'

मन्त्रों के उच्चारण के बारे में उसका सन्दिग्ध आक्षेप मैं बहुत सुन चुका हूँ, आदत हो गई थी, लेकिन पहली बार सुनकर भी सुनन्दा ने कुछ नहीं कहा, केवल मुस्कराई जरा। पता नहीं, उसने क्या सोचा। शायद यह सोचा हो, जो अर्थ नहीं समझती, प्रयोग जिसे नहीं मालूम, उसकी अर्थहीन आवृत्ति की शुद्धता का इतना ध्यान क्यों? शायद हो कि यह उसके लिए भी नया हो हमारे यहाँ की स्त्रियों के मुँह से ऐसे सकरुण लोभ और मोह की बात उसने बहुत सुनी हो, सो उसके उत्तर देने या प्रतिकार करने की जरूरत ही नहीं समझती। या ऐसा कुछ नहीं भी हो सकता है, केवल स्वभाविक विनय के नाते ही चुप रही। फिर भी यह सोचे बिना तो नहीं रह सका कि अपनी इस अपरिचित अतिथि को अगर उसने निहायत मामूली स्त्री के समान छोटी समझा हो तो किसी दिन बड़े अफसोस के साथ उसे अपना मत बदलना पड़ेगा।

पलक मारते ही राजलक्ष्मी ने अपने को सम्हाल लिया। मुझे मालूम है कि कोई हाँ करे तो वह उसके मन की बात समझ लेती है, वह फिर मन्त्र-तन्त्र की ओर ही न गई, जरा ही देर मे घर-गिरस्ती की बातें शुरू कर दीं। उनकी धीमी-धीमी सारी आलोचना मेरे कान मे भी न पहुँची, कान देने की कोशिश भी न की बल्कि तर्कालंकार के हुक्के पर अजय की चढ़ाई हुई चिलम को फूँकने मे जुट गया।

ये दोनों स्त्रियाँ अस्पष्ट और धीमी आवाज मे जीवन-यात्रा की किस जटिल समस्या का समाधान करने लगी, वही जानें, परन्तु पास ही हाथ मे हुक्का लिए बैठे-बैठे मुझे लगने लगा, आज एकाएक कठिन प्रश्न का उत्तर मिल गया। हम लोगों के खिलाफ एक भद्दी शिकायत है कि हम लोगों ने स्त्रियों को बहुत हीन बनाकर रक्खा है। इस सख्त काम को कैसे जो किया जाए और उसका प्रतिकार कहाँ है, मैंने इसे बहुत तरह से सोचने की कोशिश की है, मगर आज अपनी आँखों से सुनन्दा को इस तरह से न देखा होता तो सन्देह शायद सदा रह ही जाता। अपने यहाँ और बाहर स्त्री स्वाधीनता बहुत प्रकार की देखी। बर्मा मे कदम रखते ही इसका नमूना नजर आया था, वह भी भूलने का है भला! तीन बर्मी सुन्दरियाँ एक मुस्टण्ड मर्द को ईख से पीट रही हैं, खुली सड़क पर यह देखकर पुलक से रोमांचित और पसीने पसीने हो उठा था। मुग्ध आँखों से इसे देखकर अभया ने कहा था, श्रीकान्त बाबू, हमारी बंगाली बहनें अगर ऐसी—। मेरे चाचा एक बार दो मारवाड़ी औरतों पर नालिश करने गए थे—क्या तो उन औरतों ने

रेलगाड़ी पर चाचाजी का नाक-कान ऐंठ दिया था। यह सुनकर मेरी चाचीजी ने दुःख के साथ कहा था, काश, बंगालियों के घर-घर इसका चलन होता। चलन होता तो चाचाजी जरूर इसका प्रबल विरोध करते, मगर इसी से जो नारी-जाति की हीनता का प्रतिकार होता, यह भी तो निस्सन्देह नहीं कहा जा सकता। यही कहाँ और कैसे होता है, सुनन्दा के टूटे घर में फटे आसन पर बैठकर चुपचाप और निःसहाय अनुभव कर रहा था। केवल 'आइए'—इस एक शब्द के स्वागत के सिवाय उसने मुझसे दूसरी बात नहीं की, राजलक्ष्मी से भी कोई बहुत बड़ी आलोचना चल रही थी, सो भी नहीं—लेकिन अजय के झूठे आडम्बर के जवाब में हँसकर जो उसने बताया कि इस घर में पान नहीं है, खरीदने की जुरंत नहीं है—यहाँ यह वस्तु दुर्लभ है। उसकी सारी बातों के बीच यह बात मेरे कानों में गूंज रही थी। उसके संकोचहीन इस परिणाम में गरीबी की सारी शर्म ने कहाँ जो मुँह छिपाया, फिर उसका पता ही न चला। पलभर ही में यह मालूम हो गया कि यह टूटा घर, घर के गए-बीते सामान, दुःख-दरिद्रता—आभूषणविहीन यह लड़की इन सबसे बहुत ऊपर है। देने के नाम पर अध्यापक पिता ने बड़े जतन से बेटी को विद्या और धर्म दान करके ससुराल भेजा था। उसके बाद अब वह जूता-मोजा पहनेगी कि घूँघट उठाकर रास्ते पर घूमेगी या अन्याय के विरोध में पति-पुत्र को लेकर टूटे मकान में रहेगी—यहाँ मुरमुरे भूँजेगी या योगवाशिष्ठ पढ़ाएगी, यह सोचना ही बेकार है। स्त्रियों को हमने हीन बनाया या नहीं, यह तर्क फिजूल है, लेकिन इधर से अगर उन्हें वंचित किया हो तो उसका फल भोगना निश्चित है। अजय ने 'उत्पत्ति प्रकरण' का जिक्र न छेड़ दिया होता तो सुनन्दा की पढ़ाई की बात हम जान भी न पाते। मुरमुरे भूँजने से लेकर उसके सहज हँसी-मजाक में कहीं भी योगवाशिष्ठ की भाँस ने उभर नहीं झाँका; लेकिन स्वामी की गैर-मौजूदगी में अजाने अतिथि के स्वागत में भी उसे कोई हिचक न हुई। सूने घर में सोलह-सत्रह साल के एक नौजवान की वह इस आसानी से माँ बन बैठी है कि शासन और सन्देह की रस्सी से उसे बाँधने की बात भी कभी उसके पति के मन में शायद नहीं आई, यद्यपि इसी पहरे के लिए घर-घर कितने पहरेदारों की सृष्टि हो गई!

तर्कालंकार जी लड़के को साथ लेकर पैठ गए हुए थे। उनसे मिलकर जाने की इच्छा थी, लेकिन इधर समय भी अधिक होता जा रहा था। उस गरीब

बेचारी के भी जाने कितना काम-काज पड़ा होगा, यह सोचकर राजलक्ष्मी उठ खड़ी हुई और विदा माँगती हुई बोली—'आज तो अब चलती हूँ अगर तग न आओ तो फिर आऊँगी।'

मैं भी उठ खड़ा हुआ। बोला—'बात करूँ, मुझे भी ऐसा कोई नहीं, मो इजाजत दें तो कभी कभी आया करूँ।'

सुनन्दा ने जबान से कुछ नहीं कहा, सिर्फ हँसकर सिर हिलाया। रास्ते में राजलक्ष्मी ने कहा—'लड़की बहुत ही अच्छी है जैसा स्वामी, वैसी स्त्री। ईश्वर ने अच्छी जोड़ी मिलाई है।'

मैंने कहा—'हाँ।'

राजलक्ष्मी बोली—'मैंने इनके उस घर की चर्चा आज नहीं छेड़ी। कुमारी जी को अभी तक ठीक-ठीक पहचान नहीं सकी हूँ, लेकिन ये दोनों जने खूब हैं।'

मैंने कहा—'हो सकता है। आदमी को वश में लाने की क्षमता तो तुम में गजब की है, कोशिश कर देखो न, इनमें अगर फिर से मेल करा सको।'

राजलक्ष्मी होठ दबाकर जरा हँसती हुई बोली—'हो सकती है क्षमता लेकिन उसका सबूत तुम्हें यहाँ मे करना नहीं है।'

मैंने कहा—'हो भी सकता है। लेकिन कोशिश करने का जब अवसर नहीं मिला तो इस पर तर्क करना फिजूल है।'

राजलक्ष्मी उसी तरह हँसती हुई बोली—'अच्छा, अच्छा। यह मत सोचो कि दिन लद गया।'

दिनभर आज कैसी बदली सी थी। तीसरे पहर का सूरज मेघ के एक काले टुकड़े में दब गया इसलिए हमारे सामने का आसमान रंगीन हो उठा था। उसकी गुलाबी आभा ने सामने के धूसर मैदान और पास के बाँसों की झाड़ी तथा इमली के दो एक पेड़ों पर मानो सोना मल दिया था। राजलक्ष्मी के अन्तिम अनुयोग का कोई जवाब नहीं दिया, लेकिन भीतर का मन बाहर की दिशाओं के समान ही मानो रंग उठा था। चुपके से एक बार उसकी ओर देख लिया, होठों की हँसी अभी बिल्कुल मिट नहीं पाई थी, पिघले सोने की-सी आभा में यह जाना-चीन्हा हँसता-सा मुखड़ा बड़ा ही अपूर्व-सा लगा। शायद हो कि यह सिर्फ असमान का ही रंग न हो, शायद हो कि जो जोत एक दूसरी स्त्री से मात्र मैं हो सँजोकर लिए जा रहा था, वही अनोखी चमक इसके अन्दर भी खेलती फिर रही हो। रस्ते

में हमारे सिवाय और कोई नहीं था। उसने सामने की तरफ उँगली उठाकर कहा—'तुम्हारी छाया क्यों नहीं पड़ी, कहो तो?' मैंने निहारा। देखा, दायीं तरफ हम दोनों की धुंधली-सी छाया एक हो गई है। मैंने कहा—'चीज हो, तो छाया पड़ती है—शायद वह अब रही नहीं।'

'पहले थी?'

'गौर तो नहीं किया, ठीक याद नहीं।'

राजलक्ष्मी हँसकर बोली—'मुझे याद है, नहीं थी। इत्ती-सी उम्र से यह देखना सीखा था।' इसके बाद तृप्ति की सांस लेकर बोली—'आज का दिन मुझे बड़ा भला लगा। लगता है, इतने दिनों के बाद मुझे एक सखी मिली।' यह कहकर उसने मेरी तरफ देखा। मैंने कुछ कहा नहीं, लेकिन मन-ही-मन यह निश्चित समझा कि उसने सच ही कहा।

घर पहुँचा, मगर पाँव की धूल धोने का भी अवकाश नहीं मिला, शान्ति और तृप्ति दोनों ही साथ-साथ गायब हो गईं। देखा, आँगन में दस-पन्द्रह आदमी बैठे हैं। हमें देखकर सब अदब से खड़े हो गए। रतन शायद अब तक भाषण कर रहा था, उसका चेहरा उत्तेजना और गहरे आनन्द से दमक रहा था, वह निकट आकर बोला—'माँजी, मैं जो बारम्बार कहता था, ठीक वही हुआ।'

राजलक्ष्मी ने अधीर होकर कहा—'क्या कहा था, मुझे याद नहीं फिर से कह।'

रतन ने कहा—'नवीन को पुलिस हाथ में हथकड़ी और कमर में रस्सी डालकर पकड़ ले गई।'

'पकड़ ले गई? कब! क्या किया उसने?'

'उसने मालती का खून ही कर डाला।'

'एँ!'—उसका चेहरा सफेद हो गया।

लेकिन बात खत्म होने से पहले ही वह लोग एक साथ बोल उठे—'नहीं माँजी, एकबारगी खून नहीं किया—पीटा खूब जरूर है, पर जान से मार नहीं डाला है।'

रतन ने आँखें रँगाकर कहा—'तुम सबको क्या मालूम? उसे अस्पताल भेजना होगा, मगर मिल नहीं रही है। गई कहाँ? तुम लोगों को भी हथकड़ी लग सकती है, पता है?' सुनकर सबका चेहरा सूख गया। कोई-कोई खिसक पड़ने की

भी युक्ति करने लगा। रतन को कड़ी निगाहों से देखकर राजलक्ष्मी ने कहा—'तू अलग हट जा। जब पूछूँगी, तब बताना।' भीड़ में मालती का बूढ़ा बाप फीका चेहरा लिए खड़ा था; हम सभी उसे पहचानते थे। इशारे से करीब बुलाकर उसने पूछा—'क्या हुआ है, सच-सच बताओ तो विश्वनाथ। छिपाने या झूठ बताने से मुसीबत में पड़ सकते हो।'

विश्वनाथ ने जो कहा मुख्तसर में यों है कल रात से मालती अपने पिता के ही घर थी। आज दोपहर को वह पोखरे से पानी लाने गई थी। उसका स्वामी नवीन जाने कहाँ छिपा था। उसे अकेली पाकर उसने बेतरह पीटा, यहाँ तक कि सिर फोड़ दिया। मालती रोती-पीटती पहले तो यहाँ आई, लेकिन चूँकि हम लोगों से भेंट न हुई, इसलिए कुमारी जी की खोज में कचहरी में पहुँची। कुमारी जी भी न मिलें, सो सीधे थाने चली गई, चोट के निशान दिखाकर पुलिस को साथ ले आई और उसे पकड़वा दिया। वह उस समय घर पर ही था, खुद से रसोई बना रहा था, भाग निकलने का मौका नहीं मिला। दरोगा साहब ने लात मारकर उसका सारा भात बिखेर दिया और उसे बाँध ले गए।

माजरा सुनकर राजलक्ष्मी आगबबूला हो उठी। वह मालती को भी पसन्द नहीं करती थी, नवीन से भी वैसी प्रसन्न न थी, लेकिन उसका सारा गुस्सा मुझ पर आ पड़ा। बोली—'मैंने तुमसे हजार बार कहा कि इन नीचों के मामले में मत पड़ा करो। लो, अब सम्हालो, मैं कुछ नहीं जानती।' और वह बिना किसी तरफ ताके तेज़ी से अन्दर चली गई। कहती गई, 'इस कमबख्त नवीन को फाँसी हो, वही ठीक है और वह हरामजादी मर गई हो तो बला गई जानो।'

कुछ देर के लिए हम पशु-से हो गए मानो। डाँट सुनकर जी में होने लगा कि बीच में पड़कर कल जो इनका मामला निबटा दिया था, वह ठीक नहीं किया। न किया होता तो आज शायद यह नौबत नहीं आती—मगर मेरी नीयत अच्छी थी। सोचा था, प्रेम लीला का जो छिपा स्रोत ओट में बहता हुआ टोले को गँदला कर रहा है, उसे खोल दें तो ठीक रहेगा। अब लगता है, मैंने गलती की। लेकिन इससे पहले सारा मामला विस्तार से कहने की जरूरत है। मालती नवीन डोम की स्त्री तो है, लेकिन जब से यहाँ आया हूँ, देख रहा हूँ कि सारी डोम टोलों में वह एक दहकती चिनगारी-सी है। जाने कब किस परिवार में आग लगा देगी, इस भय से किसी भी स्त्री के मन में चैन नहीं। मालती जितनी खूबसूरत है, उतनी ही चपल

भी। कपाल पर टिकुली, बालों में नीबू का तेल डालकर सँवारती है चौड़ी कोर की मिल की साड़ी, राह-बाट में गले तक सरक-सरक जाता घूँघट। इस वाचाल युवती को मुँह पर कुछ कहने की किसी को हिम्मत नहीं, लेकिन पीठ पीछे गाँव की स्त्रियाँ जो विशेषण उसके नाम के साथ लगातीं, वह, लिखने लायक नहीं। शुरू में शायद मालती नवीन के यहाँ नहीं रहना चाहती थी अपने मैके में ही रहा करती थी, कहती थी, वह मुझे खिलाएगा क्या? इसी दुःख में बेचारा नवीन घर छोड़कर चला गया था। किसी शहर में प्यादागिरी करता रहा। सालभर हुआ, लौटकर आया है। आते समय स्त्री के लिए चाँदी की पहुँची, महीन सूती साड़ी, रेशमी फीता, एक बोतल गुलाब जल, और टीन का बक्स लेता आया। इन उपहारों के बल से वह स्त्री को घर ही नहीं लिवा गया था, बल्कि उसके हृदय को भी जीत लिया था। लेकिन सुनी हुई बातें हैं ये। इसके बाद जाने फिर क्यों मैं स्त्री पर उसे सन्देह हुआ, घाट के रास्ते में छिपकर निगरानी करने लगा और उसके बाद जो सब होने लगा, मुझे ठीक मालूम नहीं। आने के बाद से ही देखता रहा हूँ, उनके हाथ और मुँह की लड़ाई कभी बन्द ही नहीं रही! सरपुटीमल की घटना भी यही पहली नहीं, और भी दो-एक बार हो चुकी है—अभी बीवी का सिर फोड़ देने के बाद भी नवीन मजे में अपना खाना खाने जा रहा था; उसने सोचा तक नहीं कि स्त्री पुलिस से उसे पकड़वा देगी। कल सुबह ही सबह प्रभाती के समान जब मालती की आवाज आसमान को फाड़ने लगी तो काम काज छोड़कर राजलक्ष्मी ने कहा—'घर के बगल में रोज-रोज यह [illegible] बर्दाश्त नहीं होता—नहीं तो कुछ रुपये-पैसे देकर इस अभागिन को यहाँ से दूर हटा दो।'

मैंने कहा—'कमबख्त नवीन भी कुछ कम पाजी नहीं। कुछ करना-धरना नहीं, बाल सँवारना और मछली मारना; कुछ पैसा हाथ में आया नहीं कि ताड़ी पी और शुरू कर दी मार-पीट। कहना फिजूल है, यह सब वह शहर से सीख आया था।'

'को बड़ छोट कहत अपराधू'—कहकर राजलक्ष्मी अन्दर चली गई। कहती गई—काम-धन्धा करे भी कब? यह हरामजादी समय दे तब तो!

वास्तव में रोज-रोज का यह हंगामा बर्दाश्त से बाहर हो गया था। इनके गाली-गलौज और मारपीट के विषय में विचार पहले भी कर चुका था, मगर कोई नतीजा नहीं निकला। सोचा, दोनों को आज उन्हें बुलवा कर आखिरी फैसला

कर दूंगा, मगर बुलवाने की नौबत नहीं आई। दोपहर को टोले के स्त्री-पुरुषों से घर भर गया। नवीन ने कहा—'बाबूजी, इसे अब मैं नहीं रखना चाहता, बदचलन है यह। वह मेरे घर से निकल जाए।'

मालती ने घूंघट के अन्दर से कहा—'मेरी लहठी-चूड़ी वह निकाल दे।'

नवीन बोला—'मेरी चांदी की पहुँची लौटा दे तू।'

कहना था कि मालती ने पहुँची निकालकर फेंक दी।

उसे उठाकर नवीन बोला— मेरा टिनवाला बक्स भी तू नहीं ले सकती।

मालती बोली—'चाहती भी नहीं।' आँचल से कुन्जी निकालकर उसने झट उसके पैरों के पास फेंक दी।

नवीन इसके बाद चोर के लिहाज से आगे बढ़ा और उसकी कलाई की लहठी-चूड़ियों को पटापट तोड़ दिया। बोला—'जा, तुझे विधवा बना दिया।'

मैं अवाक् हो गया। एक बूढ़े-से आदमी ने बताया, ऐसा न होता तो मालती का दूसरा ब्याह न होता—यों सब ठीक हो चुका है।

बातों-बातों में मामला और खुला। विश्वनाथ का बड़ा दामाद छः महीने से दौड़-धूप कर रहा था। हालत उसकी अच्छी है। विश्वनाथ को नकद बीस रुपये और मालती के पैरों चाँदी के छड़े तथा नाक में सोने का नथ देने का वादा किया है, वादा क्या, चीजें उसने विश्वनाथ के पास जमा भी कर दी हैं।'

कुल मिलाकर बात बड़ी भद्दी लगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ दिनों से एक घिनौना षड्यन्त्र चल रहा था और अनजान में शायद मैंने उसमें मदद पहुँचाई। नवीन ने कहा—'यही तो चाहता था मैं। अब शहर में मजे में नौकरी करूंगा—तेरी जैसी दर्जनों से शादी करूंगा। गंगामाटी का हरिमण्डल तो अपनी बिटिया के लिए खुद खुशामद कर रहा है—तू उसके पैरों के नाखून बराबर भी नहीं।' इतना कहकर चाँदी की वह पहुँची और बक्स की कुन्जी लेकर चला गया। उसके इस रौब के बावजूद उसका चेहरा देखकर ऐसा तो नहीं लगा कि उसकी नौकरी या हरिमण्डल की बिटिया—किसी की आशा ने उसके भविष्य को उज्ज्वल कर रखा है।

रतन ने कहा—'जी, माँजी ने कहा, इस वाहियात झमेले को यहाँ से हटाइए।'

मुझे लेकिन कुछ नहीं करना पड़ा। विश्वनाथ अपनी बिटिया के साथ उठ खड़ा हुआ, कहीं मेरे पैरों की धूल लेना चाहे—इस डर से मैं अन्दर चला गया। यह

सोचने की कोशिश की कि जो हुआ सो ठीक ही हुआ। दिल जब टूट गया है और उपाय भी है, तो रोज-रोज सिर फुड़ौअल की गिरस्ती से यह अच्छा है।

लेकिन अभी-अभी सुनन्दा के यहां से आने पर पता चला, कल का फैसला बिल्कुल ठीक नहीं हुआ। मालती पर से पति का सब दावा छोड़ देने पर भी मार-पीट का अधिकार नवीन ने नहीं छोड़ा। वह शायद उस टोले में जाकर तमाम दिन टोह में रहा और वह अकेली मिल गई तो यह हरकत कर बैठी। लेकिन वह औरत कहां गई ?

सूर्य अस्त हो गया। पश्चिम की खिड़की से बाहर की ओर देखते हुए सोच रहा था, मालती शायद पुलिस के डर से कहीं छिप गई है, नवीन को उसने पकड़वा दिया, यह अच्छा ही किया। उस कमबख्त को सजा मिली, यह लड़की चैन की सांस लेगी।

सन्ध्याप्रदीप हाथ में लिए राजलक्ष्मी कमरे में आकर ठिठक गई, लेकिन कुछ बोली नहीं। चुपचाप बाहर निकली। बगल के कमरे में चौखट पर पांव रखते ही किसी भारी चीज के गिरने की आवाज में वह चीख उठी। मैं दौड़ा गया। देखा, कपड़े की एक पोटली दो हाथ बढ़ाकर उसके पांव को पकड़कर उसी पर सिर कूट रही है। राजलक्ष्मी के हाथ का चिराग गिर गया था, पर जल ही रहा था। उठाया तो चौड़ी कोर वाली वही महीन साड़ी नजर आई।

मैंने कहा—'यह मालती है।'

राजलक्ष्मी बोली—'अभागिन। सांझ को छू 'दया ' न। यह क्या है ?'

चिराग की रोशनी में देखा, उसके सिर के जख्म से खून बह रहा है और राजलक्ष्मी का पैर रंग गया है। वह अभागि' पकड़कर रो पड़ी—'मांजी, बचाओ मुझे।'

राजलक्ष्मी कड़वे स्वर में बोली—'तुझे क्या हुआ है ?'

वह रोकर बोली—'दारोगा कह रहा है, सुबह ही उसका चालान कर देगा—और फिर उसे पांच साल की सजा हो जाएगी।'

मैंने कहा—'जैसी करनी, वैसी ही भरनी होनी चाहिए न !'

राजलक्ष्मी बोली—'उसे सजा ही हुई तो मुझे क्या ?'

उ...की मानो कलेजा फटकर रुलाई छूटी। बोली—'बाबू कहें, तो कहें, आप ऐसा न कहें मांजी—मैंने उसे उठाया हुआ कौर नहीं खाने दिया है।' वह फिर गिर

कूटने लगी। बोली—'इस बार भर हमें बचा दो माँजी। कहीं परदेश में भीख माँगकर गुजारा करूँगी, नहीं तो आप ही पोखरे में डूब मरूँगी।'

राजलक्ष्मी की आँखों से सहसा आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें चू पड़ीं। उसके घने खुले बालों में धीरे-धीरे हाथ रखकर रुँधे गले से बोली—'अच्छा, चुप हो जा तू, मैं देखती हूँ।'

देखना भी पड़ा। उसी रात को राजलक्ष्मी के बक्स से दो सौ रुपये जाने कहाँ गायब हो गए यह कहने की जरूरत नहीं, लेकिन सुबह से नवीन और मालती को किसी ने गंगामाटी में नहीं देखा।

आठ

उनके बारे में सबने सोचा, चलो, जान बची! राजलक्ष्मी को ऐसी मामूली बात पर ध्यान देने का समय नहीं था। दो ही चार दिन में वह उन्हें भूल गई; याद भी आती हो तो क्या सोचती है, वह जाने। लेकिन बस्ती से एक पाप गया, ऐसा बहुत से लोग सोचते थे। केवल रतन को खुशी नहीं हुई। आदमी होशियार है, सहज ही मन की बात जाहिर नहीं करता, लेकिन उसकी शक्ल से लग रहा था, उसने इसे कतई पसन्द नहीं किया। उसके पंच होने का कर्तृत्व करने का मौका जाता रहा, घर का इतना रुपया गया—इतना बड़ा एक मामला, रातोंरात कैसे गायब हो गया—कुल मिलाकर वह मानो अपने को ही अपमानित, यहाँ तक कि आहत समझने लगा। मगर फिर भी चुप रहा। घर की जो मालकिन थी, उन्हें तो किसी तरफ का ख्याल तक न था। दिन बीतने के साथ-साथ सुनन्दा से मन्त्र-मन्त्र के शुद्ध उच्चारण सीखने का लोभ उस पर सवार होने लगा। एक दिन भी वहाँ-जाने में नागा नहीं। वहाँ वह धर्मतत्त्व और ज्ञान किस परिमाण में हासिल कर रही थी, यह मैं कैसे जानूं? मैं उसका केवल परिवर्तन जान रहा था। यह जितना ही तेज था उतना ही अनसोचा। दिन का भोजन मेरा सदा से जरा देर में होता; राजलक्ष्मी शुरू से इस पर एतराज ही करती आई, समर्थन कभी नहीं किया। यह ठीक है, लेकिन अपनी वह भूल सुधारने की मुझे कभी चेष्टा भी नहीं करनी पड़ी, लेकिन आजकल किसी दिन ज्यादा देर हो जाती, तो मन-ही-मन

लज्जा अनुभव करता। वह कहती—'बीमार आदमी हो, खाने में तुम्हें इतनी देर क्यों। अपनी सेहत का ख्याल न सही, नौकर-चाकरों का तो ख्याल करो। तुम्हारे आलस से उन बेचारों की जो जान जाती है।' बातें ये पहले ही जैसी हैं, फिर भी पहले जैसी नहीं। इनमें स्नेह के प्रथम का वह सुर नहीं बजता—बजती है विरक्ति की ऐसी एक तीखी कटुता जिसे नौकर-चाकर क्या, मेरे सिवाय शायद उसका गूढ़ मर्म भगवान के कानों की पकड़ में नहीं आता। इसीलिए भूख नहीं भी लगती तो भी नौकर-चाकरों का ख्याल करके किसी तरह मैं नहा-खाकर उन्हें फुर्सत दे देता था। लेकिन इस अनुग्रह का उन नौकर-चाकरों को आदर था या नहीं, वही जानें, लेकिन यह देखता था कि इसके दस-पन्द्रह मिनट के बाद ही राजलक्ष्मी बाहर जा रही है। कभी रतन तो कभी दरबान साथ में जाता, कभी देखता वह अकेली ही चली जा रही है, किसी के लिए इन्तजार करने का समय नहीं। शुरू के दो-चार दिन उसने मुझको साथ चलने को कहा था, मगर उन्हीं कुछ दिनों में यह मालूम हो गया कि इसमें हम दोनों में किसी के लिए सुविधा नहीं है। हुई भी नहीं सुविधा। सो मैं धीरे-धीरे अपने सूने कमरे में आलस में और वह धर्म-कर्म, तन्त्र-मन्त्र की उद्दीपना में फँसे अलग होते जाने लगे। अपनी खुली खिड़की में से देखा करता, धूप में तपे बैहार होकर वह तेजी से चली आ रही है। अकेले सारी दोपहरी मेरी कैसे कटती है, इसे ख्याल करने का समय उसे नहीं था, यह मैं समझता था, फिर भी जब तक वह दिखाई पड़ती आँखों से अनुसरण किए बिना नहीं रह सकता। आगे-बाकी पगडण्डी पर उसकी खोनी हुई देहलता जब दूर में ओझल हो जाती—वह समय बहुत कर मेरी समझ में ही न आता—लगता, वह चिरपरिचित चाल मानो अभी खत्म नहीं हुई—वह चली ही जा रही है। सहसा होश हो आता। शायद आँखें पोंछकर फिर एक बार अच्छी तरह नजर दौड़ाकर फिर चुपचाप बिस्तर पर लेट जाता। कर्महीनता की असह्य थकावट से या तो कभी सो जाता या ताकता रहता। कुछ ही दूर पर बबूल के पेड़ों पर पोंडकी बोलती रहती और उसी से मिलकर डोमों के घर के पास की बसबिट्टी तपी हवा के झोंकों में व्यथा-भरे लम्बे निश्वास छोड़ने जैसी ऐसी एक आवाज करती कि कभी-कभी भ्रम हो आता, शायद मेरे ही कलेजे से उठ रही है। डर हो आता, ज्यादा दिन ऐसा अब सह नहीं सकूँगा। रतन होता तो पैर दबाए जाता कभी, पूछता, बाबूजी! तम्बाकू ले आऊँ? बहुत बार ऐसा हुआ कि

जगा रहकर भी कुछ नही बोला, नीद का बहाना किया, डर हुआ, मेरे चेहरे पर वह पीडा का आभास न देख ले। रोज की तरह उस दिन भी दोपहर को जब राजलक्ष्मी सुनन्दा के यहाँ चली गई तो एकाएक मुझे बर्मा की याद आ गई और अभया को चिट्ठी लिखने बैठा। इच्छा थी, जिस कम्पनी मे काम करता था, उसके बडे साहब को चिट्ठी लिखकर पूछूं। क्या पूछूं, क्यो पूछूं, पूछकर होगा क्या, इतना कुछ सोचा नही था—एकाएक ऐसा लगा कि खिडकी के सामने से जो औरत मुँह पर घूँघट डाले जल्दी से हट गई—वह पहचानी-सी है—वह मालती-सी है मानो। उठकर झांक देखने की कोशिश की मगर न दिखी। उसके आँचल की कोर हमारी दीवार के कोने पर ओझल हो गई।

महीनाभर के अरसे म उस डोम लडकी को सब भुला बैठे थे, एक मैं ही उसे भूल नही सका था। कह नही सकता क्यो, मेरे मन के एक कोने मे उस उच्छृंखल औरत की आँखो से उस दिन सांझ को जो आँसू बहा, उसका गीला दाग मिटा न था। सदा ख्याल आता, जाने वे दोनो कहाँ हैं। यह जानने की इच्छा होती कि गंगामाटी के बुरे प्रलोभन और गन्दी साजिश के घेरे से बाहर पति के पास उस लडकी का दिन कैसा बीत रहा है। इच्छा होती कि वे अब जल्दी यहाँ न आएँ। फिर से चिट्ठी को समाप्त करने बैठा, कुछ ही पक्तियाँ लिखी कि पैरो की आहट पाकर नजर उठाई। देखा, रतन है। उसके हाथ मे चिलम है। चिलम को गुडगुडी पर रखकर मेरे हाथ मे नल थमाते हुए बोला—'बाबूजी तम्बाकू पीजिए।'

मैंने सिर हिलाकर कहा—'अच्छा।'

रतन लेकिन तुरन्त वापस नही गया। कुछ देर चुप खडा रहकर फिर बोला, 'बाबूजी, यह कमबख्त रतन परमाणिक कब मरेगा, वह यही नही जानता!'

उसकी भूमिका से हम परिचित थे। राजलक्ष्मी होती तो कहती, जानने से लाभ क्या मगर कहना क्या चाहता है, सो बता। मैं लेकिन सिर्फ हँसा। रतन की गम्भीरता इससे जरा भी कम न हुई। बोला—'माँ से उस दिन कहा था न, माँजी, छोटे लोगो की बात मे न पडें। उनके आँसू से गलकर दो-दो सौ रुपये पानी मे न डालें। आप ही कहिए, कहा था या नही?' मैं जानता था कि उसने कहा नहीं है। हो सकता है, यह सद्भावना उसके मन मे हो, मगर खोलकर कहने का उसे क्यो, मुझे भी साहस न होता। मैंने पूछा—'माजरा क्या है रतन?'

रतन ने कहा—'माजरा वही, जो बराबर होता है।'

मैंने कहा—'लेकिन मालूम नहीं, तो खोलकर ही बता।'

रतन ने खोलकर ही बताया। शुरू से आखिर तक सुनते ही मन में क्या हुआ, कहना मुश्किल है। इतना ही याद है केवल कि उसकी कठोर कदर्यता और असीम बीभत्सता के भार से सारा हृदय एकबारगी कड़वा और विरस हो गया। कैसे क्या हुआ, इसका सारा तथ्य रतन अभी इकट्ठा नहीं कर पाया है, लेकिन जो सत्य उसने छानकर निकाला है, वह यह है कि फिलहाल नवीन जेल में है और मालती अपने बहनोई के उस धनी भाई से चुमौना करके यहीं रहने के लिए गंगामाटी लौट आई है। अपनी आँखों मालती को नहीं देखा होता तो यकीन करना ही मुश्किल था कि राजलक्ष्मी के रुपयों का सचमुच ही ऐसा सदुपयोग हुआ है।

उस रात मुझे खिलाने बैठी, तो राजलक्ष्मी ने यह बात सुनी। सुनकर आश्चर्य से सिर्फ बोली—'अरे, सच है रतन?' इस छोकरी ने उस दिन बड़ा तमाशा किया तो! रुपये के रुपये गए, कुबेरता में मुझको उसने नहला भी दिया!' 'लो, तुम्हारा खाना खत्म भी हो चुका? इससे तो न ही बैठो खाने....'

ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने की बेकार ही कोशिश मैं कभी नहीं करता। आज भी चुप हो रहा। हाँ, एक बात की जानकारी हुई। आज कई कारणों से मुझे भूख ही नहीं थी, नन्हा-सा ही खाया—इसीलिए आज उसका इधर ध्यान गया, लेकिन कुछ दिनों से लगातार मेरा खाना घटता जा रहा है, इस पर उसकी नजर नहीं गई। पहले इस बात में उसकी नजर इतनी पैनी थी कि जरा भी कम-बेश होने पर उसके सन्देह और शिकायत का अन्त नहीं रहता—लेकिन आज चाहे जिस कारण से ही हो, उस की इयेन-दृष्टि धुँधली पड़ गई है, इसलिए उसकी गहरी पीड़ा को भी लांछित करूँ ऐसा भी आदमी मैं नहीं हूँ। इसीलिए उमड़े हुए निश्वास को दबाकर चुपचाप उठ खड़ा हुआ।

मेरे दिन एक ही प्रकार से शुरू और एक ही भाव से खत्म होते। न कोई आनन्द, न कोई विचित्रता अथवा दुख या कष्ट की कोई नालिश भी नहीं। शरीर भी मोटामोटी अच्छा ही है। सवेरा हुआ फिर बेला चढ़ आई। नहा-खाकर अपने कमरे में जा बैठा। सामने वही खुली खिड़की और वैसा ही बाधा-हीन सूना मैदान। पत्रा में आज किसी व्रत का दिन था; राजलक्ष्मी को इसलिए आज भोजन

के समय का अपव्यय नहीं करना पड़ा। बँधे समय से कुछ पहले ही सुनन्दा के यहाँ चल पड़ी। आदत जैसी हो गई थी, शायद देर तक उसी भाँति ताकता रहा, अचानक याद आया, कल की दोनों चिट्ठियों को समाप्त करके तीन बजे से पहले डाक में भेज देना चाहिए। सो नाहक ही समय बर्बाद न करके उसी में जुट गया। खत्म करके चिट्ठियों को पढ़ने लगा तो जाने कहाँ टीस-सी होने लगी, क्या था, जिसे न लिखा होता तो अच्छा होता, ऐसा लगा। लेकिन चिट्ठी बड़ी मामूली-सी थी। उसमें चूक कहाँ है, बार-बार पढ़कर भी न जान सका। एक बात याद है मुझे। अभया की चिट्ठी में रोहिणी भैया को नमस्कार करके अन्त में लिखा, 'अरसे से तुम लोगों से भेंट नहीं हुई। कैसे हो, कैसे तुम लोगों के दिन कट रहे हैं, कल्पना के सिवाय इसे जानने की कोशिश नहीं की है। हो सकता है ठीक ही हो, न भी हो शायद, लेकिन तुम लोगों की जीवन-यात्रा को इस दिशा को एक दिन भगवान ने हाथों सौंपकर स्वेच्छा से उस पर यवनिका डाल दी थी, वह पर्दा अभी भी झूल ही रहा है, उसे उठाने की इच्छा भी नहीं की कभी। तुमसे मेरी घनिष्ठता ज्यादा दिनों की नहीं, पर जिस बेहिसाब दुःख से एक दिन हमारे परिचय का आरम्भ और एक दिन अन्त हुआ, उसे समय की माप से मापने की कोशिश हममें किसी ने नहीं की। जिस दिन भयंकर रूप से बीमारी के चंगुल में फँसा, उस दिन उस दूर विदेश में तुम्हारे पास जाने के सिवा मेरे लिए कोई जगह नहीं थी। तुमने कोई आगा पीछा नहीं किया, हृदय से बीमार का सेवा-जतन किया। लेकिन मैं यह नहीं कहता कि वैसी बीमारी में, उस प्रकार की सेवा करके और किसी ने कभी मेरी जान नहीं बचाई, पर आज इतनी दूर बैठा दोनों के फर्क का अनुभव कर रहा हूँ। सेवा, अवलम्ब, हृदय की निश्छल शुभकामना एवं निविड़ स्नेह में तुम दोनों में गहरी समानता है, लेकिन तुममें स्वार्थविहीन ऐसी एक कोमल निर्लिप्तता थी, ऐसा एक अनिर्वचनीय वैराग्य था, जिसने अपने आपको सेवा में ही निःशेष कर दिया। मेरे आरोग्य में अपनी जरा भी निशानी रखने को कहीं भी कदम नहीं बढ़ाया—तुम्हारी यही बात आज बार-बार याद आती है। या तो इसलिए कि बहुत ज्यादा स्नेह मुझे सहना नहीं, या कि इसलिए कि स्नेह का जो रूप एक तुम्हारी नजर में, भाव में मैंने देखा था, उसी के लिए आज मेरा सारा मन उन्मुक्त हो उठा है। फिर भी आमने-सामने एक बार तुम्हें देखे बिना कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ।' साहब वाली चिट्ठी भी लिख डाली। कभी सचमुच ही उन्होंने मेरा

बड़ा उपकार किया था। इसके लिए उन्हें बहुत ही धन्यवाद दिया है। प्रार्थना कुछ भी नहीं, मगर इतने दिनों के बाद अचानक मान न मान मैं तेरा मेहमान बनकर धन्यवाद देने के इस ढंग से खुद ही शर्म आन लगी। पत्र लिखकर लिफाफा बन्द किया। देखा, समय निकल गया। इतनी जल्दी की फिर भी डाक में डालना न बन सका। मन लेकिन इससे दुखी नहीं हुआ, चैन ही महसूस हुई। लगा, अच्छा ही हुआ, कल फिर एक बार पढ़ देखने का समय मिल जाएगा।

रतन ने आकर खबर दी, कुमारी जी की स्त्री आई हैं और कहते-न-कहते वे आ पहुँची। मैंने व्यग्र होकर कहा—'वे तो घर पर हैं नहीं, लौटने में साँझ हो जाएगी।'

'मालूम है।' यह कहकर खिड़की पर से एक आसन उतारकर आप ही जमीन पर बिछाकर बैठ गईं। कहा—'साँझ क्या, लगभग लौटने में रात ही हो जाती है।'

लोगों से सुन रखा था, इन्हें धनी स्त्री होने का बड़ा दम्भ है। किसी के घर जल्दी नहीं जाती। यहाँ के बारे में भी वही बात है, कम-से-कम अब तक उन्होंने घनिष्ठता बढ़ाने की उत्सुकता नहीं दिखाई। इतने दिनों में केवल दो ही बार यहाँ आई हैं। एक बार जमींदार के नाते आई थीं, दूसरी बार न्योते पर। आज अचानक क्यों आ पहुँची और यह जानने के बाद भी कि घर पर वे हैं नहीं, मैं समझ नहीं सका।

बैठने के बाद बोलीं—'छोटी बहू से तो आजकल अ[illegible] रही है।'

अनजान ही में उन्होंने दुखती नस दबा दी फिर भी बोला— 'जी हाँ, अक्सर जाती है वहाँ।' कुमारी जी की स्त्री ने कहा, 'अक्सर? रोज-रोज? प्रतिदिन! मगर छोटी बहू भी कभी आती है? एक दिन भी नहीं। सुनन्दा ऐसी लड़की ही नहीं कि मालिक की मर्यादा रखे!' यह कहकर उन्होंने मेरी तरफ ताका। मैं एक के जाने की बात ही सोचता रहा हूँ, दूसरी के आने की बात ही मेरे मन में नहीं आई, लिहाजा उनकी बात से एकाएक धक्का-सा लगा। मगर इसका जवाब क्या दूँ? इतना ही लगा कि इनके आने का मतलब कुछ साफ हुआ और यह भी जी में आया कि झूठा सकोच और शर्म छोड़कर कहूँ कि मैं बिलकुल असमर्थ हूँ, इसलिए इस लाचार को दुश्मन के लिए उभाड़ने से कोई लाभ नहीं। ऐसा कहता तो क्या होता, पता नहीं, पर नहीं कहने का फल यह देखा कि उनका रोष और

उत्तेजना पलभर में प्रदीप्त हो उठी और क्या क्या हुआ, कैसे हुआ—इसकी व्याख्या में वह अपने ससुर के वंश का कोई दस साल का इतिहास रोजनामचे की तरह अविरल बकती चली गई।

उनकी कुछ ही बातों के बाद से अनमना सा हो उठा था। कारण भी था। सोच लिया था एक ओर आत्मस्तुति, दया-दाक्षिण्य आदि शास्त्रोक्त जितने भी गुण मनुष्य के लिए सम्भव हैं, उनकी विस्तार से आलोचना होगी और दूसरी ओर इसके विपरीत जितना भी कुछ है, नाम धाम, सन्-तारीख और गवाहों के प्रमाण के साथ उसी की आवृत्ति होगी। इसके सिवाय कहने को और कुछ नहीं होगा। शुरू में था भी नहीं परन्तु सहसा उनकी आवाज के आकस्मिक परिवर्तन से मेरा ध्यान गया। कुछ विस्मित होकर ही पूछा—'क्या हुआ?' वे कुछ क्षण एकटक मेरी ओर देखती रहीं, उसके बाद लड़खड़ाती आवाज में बोल उठीं—'होने को बाकी क्या रहा बाबू? सुना, कल तो देवरजी हाट में खुद बैठे बैंगन बेच रहे थे!'

उनकी बात पर यकीन नहीं आया। मन ठीक रहा होता तो हँस ही देता। कहा—'अध्यापक हैं, उन्हें बैंगन ही कहाँ से मिल गया और हठात् बेचने ही क्यों गए?'

वे बोलीं—'उसी दईमारी के कारण। घर में ही बैंगन के कुछ पौधे फले थे, उसी का लेकर भेज दिया बेचने। इस तरह की दुश्मनी करेगी, तो हम गाँव में टिकेंगे कैसे?'

मैंने कहा—'मगर इसे आप दुश्मनी क्या कहती हैं? वे लोग तो आप लोगों के किसी मामले में नहीं पड़ते। जरूरतमन्द हैं, अपनी चीज बेचने गए हैं, इससे आपको क्या शिकायत?'

जवाब सुनकर कुमारी-पत्नी विह्वल की नाईं मेरी ओर देखकर कहने लगी—'आपका यही विचार है तो कुछ कहना नहीं, मालिक से कुछ फरियाद नहीं करना—मैं चली।'

अन्त में उनका गला बिलकुल बैठ सा गया, यह देखकर मैंने धीरे-धीरे कहा—'देखिए, अच्छा हो कि आप मालकिन से कहें, वे शायद इसे समझें और आपका कुछ उपकार भी करें।'

सिर हिलाकर वे बोल उठीं—'मैं अब किसी से कहना भी नहीं चाहती और किसी का मेरा उपकार करने की भी जरूरत नहीं।' इसके बाद कपड़े की कोर से

आंखें पोंछकर बोलीं—'पहले कुमारी भी कहा करते थे दो-एक महीना बीतने दो, आप ही लौट आएगा। उसके बाद फिर ढाढ़स देते हुए बोले, और भी दो-एक महीना जाने दो न, सुधर आएगा सब—मगर ऐसी झूठी आशा में साल गुजर गया, कल सुना, वह आंवल में फला बेंगन तक बचने गया, सो अब किसी का भरोसा नहीं रहा। वह दईमारी मारी गिरस्ती को बर्बाद कर देगी लेकिन इस घर में अब कदम नहीं रक्खेगी, बाबू, औरत इतना पाषाण हो सकती है, मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था।'

कहने लगी—'कुमारी जी उसे कभी नहीं पहचान पाए, मैं पहचान गई थी। पहले मैं इसके-उसके नाम से छिपाकर उसके यहां चीज भेजा करती थी, वे कहते थे, सुनन्दा जानकर ही चीजें लेती है, पर ऐसे तो उम्र होश नहीं आएगा। मैं भी सोचती थी, यही हो शायद। लेकिन एक दिन हमारी भटक टूटी। कैसे तो वह जान गई। जान गई तो जितना जो भेजा था सब एक आदमी के सिर पर लादकर मेरे आंगन में फेंक गई। कुमारी जी को तो भी होश नहीं आया आया मुझे।'

अब, इतनी देर के बाद मैंने उनके मन की बात समझी। सदय होकर पूछा, 'अब आप करना क्या चाहती हैं? अच्छा, वे क्या आपके खिलाफ कुछ कहते हैं, कोई शत्रुता करते हैं?'

वे एक बार फिर रो पड़ीं और कपाल पर हाथ मारकर कहा—'हाय रे नसीब! ऐसा होता, तब तो उपाय था। उसने तो हमें इस प्रकार से त्यागा है कि मानो कभी आंखों से भी हमें नहीं देखा, हमारा नाम भी नहीं सुना—इतनी कठोर, ऐसी पाषाण है वह! सुनन्दा हम दोनों को अपने मां-बाप से भी ज्यादा प्यार करती थी, लेकिन जब से सुना कि उसके जेठ*, जायदाद पाप से अर्जित है, उस दिन से उसका मन मानो बिल्कुल पत्थर हो गया। पति-पुत्र के साथ भूखों मरेगी, यह कबूल है; मगर इसकी फूटी कौड़ी नहीं लेने की। मगर इतनी बड़ी जायदाद क्या हम फेंक दे सकते हैं? दया-माया उसे तो छू नहीं गई बाल-बच्चों के साथ जान भी दे सकती है—हमसे तो मगर ऐसा नहीं हो सकता।'

क्या जवाब दूं, सोच नहीं पाया। धीरे से कहा—'अजीब है!' समय अधिक हो रहा था। चुपचाप गर्दन हिलाकर हामी भरती हुई कुमारी-पत्नी उठ खड़ी हुईं, लेकिन एकाएक दोनों हाथ जोड़कर बोल बैठीं—'सच कहती हूं बाबू, इनके बीच में पड़कर मेरा तो कलेजा फट जाना चाहता है। मैंने सुना है, आजकल मां जो की

बात बहुत मानती हैं—कुछ किया नहीं जा सकता है। मुझसे तो अब सहन नहीं होता।'

मैं चुप रहा। वे भी और कुछ नहीं कह सकीं। आँखें पोंछती हुई चुपचाप चली गईं।

नौ

परकाल की फिक्र में पराई चिन्ता के लिए शायद जगह नहीं होती, नहीं तो मेरे खाने-पहनने की चिन्ता राजलक्ष्मी छोड़ दे, इससे बड़ा आश्चर्य संसार में और क्या हो सकता है? गंगामाटी आए कितने दिन हुए, मगर इन्हीं कुछ दिनों में अचानक वह कितनी दूर हट गई! अब मुझसे खाने की पूछने के लिए महाराज आया करता, खिलाया करता रतन। एक तरह से जान ही बची वैसा नाकों दम नहीं होना पड़ता। बिगड़ी सेहत में अब ग्यारह बजे के अन्दर न खा लेने से तबीयत नहीं खराब होती। अब जैसा और जब जी चाहता है, खाता हूँ। हाँ रतन के बार-बार बढ़ावा देने और महाराज के दुखी हो होकर आग्रह करने से कम खाने का कोई मौका नहीं मिलता। वह बेचारा यही सोचता कि उसकी बनाई रसोई के कारण मुझसे खाया नहीं जाता। किसी प्रकार से इन लोगों को सन्तुष्ट करके बिस्तर पर आकर बैठता। सामने की खुली खिड़की और वही ऊपर की तेज गर्म हवा। लम्बी दोपहरी अब छायाहीन उस शुष्कता को देख-देखकर और नहीं कटना चाहती, तो एक बात सबसे ज्यादा मेरे मन में जगती, वह थी हम दोनों के सम्बन्ध की बात। चाहती तो वह मुझे आज भी है, इस लोक में मैं ही उसका एकान्त अपना हूँ, लेकिन लोकान्तर में मैं उसका उतना ही ज्यादा पराया हूँ। मैं उसके धर्म-जीवन का संगी नहीं, हिन्दू-ललना होने के नाते इसे वह नहीं भूली थी। दुनिया इतनी ही नहीं, इससे भी अतीत जो स्थान है, उसका पुण्य सिर्फ मुझी को प्यार करके नहीं जमाया जा सकता, यह सन्देह उसके मन में शायद खूब जमकर बैठ गया था।

वह इसी के पीछे पड़ गई और मेरे दिन इस तरह से बीतने लगे। कर्महीन, लक्ष्यहीन जीवन का आरम्भ श्रान्ति और अवसान अवसन्न ग्लानि से होता।

अपनी आयु को अपने ही हाथों हत्या करते चलने के सिवाय संसार में मेरे लिए करने को जैसे कुछ हो ही नहीं। रतन बीच-बीच में तम्बाकू दे जाता, समय होने पर चाय दे जाता—कहता कुछ नहीं, पर उसकी शक्ल देखने से लगता, वह भी मुझे दया की नजरों से देखने लगा है। कभी आकर कहता, बाबूजी, खिड़की बन्द कर दें, लू आती है। मैं कहता, रहने दो। जो मैं होता कितनों के स्पर्श और कितने अनचीन्हों के तप्त श्वास का हिस्सा पाता हूँ। शायद हो कि मेरे बचपन का साथी वह इन्द्रनाथ आज भी जिन्दा है और यह गर्म हवा अभी-अभी उसे छूकर आई हो। शायद हो कि मेरी तरह वह भी अपने बहुत दिनों के सुख-दुःख के साथी को याद कर रहा हो। और, हम दोनों की वह अन्नदा दीदी। सोचा करता, अब तक शायद उनके सभी दुःखों का अन्त हुआ हो। कभी यह भी मन आता, पास ही तो बर्मा है, हवा पर तो रोक नहीं, कौन कह सकता है समुद्र पार से यह उसका स्पर्श को मेरे पास नहीं ला रही है! अभया की याद आ जाती, तो मन से सहज ही हटना नहीं चाहती। रोहिणी भैया काम पर गए हैं, अपने छोटे-से डेरे का दरवाजा बन्द करके वह फर्श पर सिलाई लिए बैठी है। दिन को सरी ही नहीं वह सो नहीं सकती—इतने दिनों में किसी नन्हे शिशु के लिए कँथा या वैसे ही छोटे तकिए का खोल या ऐसा ही कोई गिरस्ती का काम।

छाती में तीर-सा चुभता। युग-युगान्तर का संस्कार युग-युगान्तर के भले-बुरे विचार का अभिमान मेरी भी धमनियों में बहता है। कैसे निश्छल होकर उसे 'दीर्घायु हो' कहकर आशीर्वाद करूँ? लेकिन शर्म और संकोच से मन जो एक-बारगी छोटा हो जाता।

काम में लगी हुई अभया के शान्त और प्रसन्न मुखड़े की छवि मैं मन में भी आँखों में देखा करता। बगल में सोया शिशु—मानो तुरन्त के खिले कमल-सा शोभा, सम्पद, गन्ध और शहद से टलमल कर रहा है! ऐसी अमृत वस्तु की क्या सचमुच ही दुनिया को जरूरत नहीं थी? क्योंकि मानव-समाज में मानव शिशु की मर्यादा नहीं, निमन्त्रण नहीं, स्थान नहीं है, दुर्गन्ध इसे ही क्या घृणा से दूर हटा देना होगा? कल्याण के ही पथ को अमंगल में निर्वासित करने से बड़ा धर्म मानव-हृदय का और नहीं है?

अभया को मैं पहचानता हूँ। सिर्फ यही पाने के लिए उसने अपने जीवन का कितना कुछ बलिदान किया है, इसे और कोई जाने न जाने मैं तो जानता हूँ।

संगदिल, बर्बरता पर नफरत करने और उनकी हँसी उड़ाने में ही तो सारे प्रश्नों का जवाब नहीं होता। भोग ! देह का शर्मनाक भोग ! नहीं है ! अभया को धिक्कार ही देना चाहिए।

बाहर की भुनसती हवा में मेरी आँखों के गर्म आँसू तुरन्त सूख जाते। बर्मा से लौटआने की बात याद आती। उस समय मौत के डर से भाई-बहन को, लड़का माँ बाप को जगह नहीं देता था। मृत्यु के समारोह की उद्दण्ड मृत्यु-लीला शहर भर में चल रही थी—ऐसे समय मृत्यु के दूत के कन्धे पर सवार होकर जब मैं उसके यहाँ पहुँचा तो नई बसाई गृहस्थी के मोह ने उसको मुझे अस्पताल में जरा भी तो दुविधा में नहीं डाला। वह बात तो मेरी इस कहानी की इन कुछ पंक्तियों से नहीं समझ में आ सकती—मगर मैं तो जानता हूँ, वह क्या है ! मैं जानता हूँ, अभया के लिए कठिन कुछ भी नहीं—मौत ? वह भी उसके लिए छोटी ही है। 'दैहिक भूख', 'जवानी की प्यास'—इन पुरानी और घिसी-पिटी बातों से अभया का जवाब नहीं हो सकता। सिर्फ बाहरी घटनाओं को पास-पास सजाकर दुनिया में हृदय का पानी नहीं नापा जा सकता।

नौकरी के लिए पुराने मालिक के पास दर्खास्त भेजी थी, नामजूर होने की आशा नहीं। लिहाजा फिर से मिलने का मौका आएगा। इस बीच दोनों ही ओर बहुत कुछ गुजरा। उनका भार मामूली नहीं है, परन्तु उसने उस भार को अपनी असाधारण सरलता और स्वेच्छा से जमा किया है और मेरा जमता रहा है उसकी ही असाधारण बेबसी और इच्छा-शक्ति की कमी से। कह नहीं सकता, उस दिन आमने-सामने इनकी शक्ल कैसी देखनी होगी।

दिनभर अकेलेपन से जी ऊब उठता, सन्ध्या होने पर जरा टहलने को निकल पड़ता। पाँच-सात दिनों से यह नियम-सा हो गया था। गईभरे जिस रास्ते से हम गंगामाटी आए थे, उसी रास्ते से बड़ी दूर तक निकल जाता। आज भी अनमना-सा चला जा रहा था, सहसा नजर आया, लाल धूल का पहाड़ खड़ा करता हुआ कोई घोड़ा दौड़ता आ रहा है। डर से रास्ता छोड़कर खड़ा हो गया। कुछ दूर बढ़कर घुड़सवार ने घोड़े को रोका। लौटकर मेरे पास आया। बोला—'आप श्रीकान्त बाबू हैं न ? मुझे पहचान रहे हैं ?'

मैंने कहा—'नाम तो मेरा यही है, मगर आपको तो नहीं पहचान सका।'

वह आदमी घोड़े पर से उतरा। पहनावे में फटी-पुरानी साहबी पोशाक, सिर

पर जरा-जीर्ण सोले का हैट उतारकर हाथ में लेते हुए बोला—'मैं सतीश भारद्वाज हूँ। थर्ड क्लास में प्रोमोशन नहीं मिला तो सर्वे स्कूल में पढ़ने चला गया, याद नहीं आता ?'

याद आ गया। खुश होकर बोला—'सो कहो, तुम वही मेढक हो। यह साहब बने इधर कहाँ ?'

मेढक ने हँसकर कहा—'साहब कुछ शौक से बना हूँ भाई, रेलवे कन्स्ट्रक्शन में सब-ओवरसीयर का काम करता हूँ, कुलियों को हाँकते ही जान गई, हैट न होता तो खैरियत थी ? अब तक वही मुझे हँका देते। सोरलपुर से लौट रहा हूँ—मील भर पर डेरा है। सैंथिया से जो नई लाइन बन रही है, उसी में काम करता हूँ। चलोगे मेरे यहाँ, चाय पी आओ ?'

नकारते हुए कहा—'आज रहने दो, मौका मिला तो फिर कभी।' मेढक ने बहुत-सी बातें पूछनी शुरू कीं—तबियत कैसी है, कहाँ रहता हूँ, यहाँ कैसे आया। बाल-बच्चे कितने हैं, वे कैसे हैं आदि-आदि।

जवाब में मैंने कहा—'तबीयत ठीक नहीं, रहता गंगामाटी में हूँ, जिस सूत्र से आया, वह बड़ा वैसा है। बाल-बच्चे नदारद, अतः उनके कुशल का सवाल ही नहीं।'

मेढक आदमी सीधा-सादा-सा है। मेरा जवाब ठीक समझ नहीं पाया, लेकिन दूसरों का मामला समझना ही पड़ेगा, ऐसा दुर्दमनीय आदमी वह नहीं। वह अपनी ही सुनाने लगा। सेहत के लिहाज से जगह अच्छी नहीं। साग-सब्जी मिल जाती है, मछली और दूध कोशिश से मिलती है, लेकिन लोग वैसे नहीं, संगी-साथी की कमी है, पर खास कोई तकलीफ नहीं—शाम के बाद गप-शप्पों से काम चल जाता है। साथ ही, साहब लोग बंगालियों से अच्छे हैं। ताड़ी की एक दुकान भी खोल दी गई है, जी चाहे जितनी पियो, मुझे तो खैर कुछ देना-लेना नहीं पड़ता, कन्स्ट्रक्शन में दो पैसे मिल जाते हैं—चाहो तो तुम्हारे लिए भी बड़े साहब से कह-कर कोई जगह दिला सकता हूँ—अपने सौभाग्य की ऐसी ही छोटी-बड़ी बातें, घोड़े की लगाम थामे दूर तक वह कहता हुआ मेरे साथ चला। बार-बार उसने पूछा कि मैं।.. कब उसके डेरे पर चरणों की धूल दे सकता हूँ और भरोसा दिया कि पोड़ामाटी में उसे प्रायः काम रहता है, लौटते हुए कभी मेरे यहाँ जरूर आएगा।

उस दिन घर लौटने में कुछ रात हो गई। महाराज ने आकर कहा, रसोई

तैयार है। हाथ-मुंह धोया, कपड़े बदले, खाने बैठा कि ऐसे मे राजलक्ष्मी का गला सुनाई पड़ा। अन्दर आकर वह चौखट के ही पास बैठ गई, मुस्कराकर बोली—'इनकार नहीं कर सकते हो, लेकिन कहे देती हूँ।'

मैंने कहा—नही, मुझे इनकार नही।'

'बिना सुने ही।'

बोला—'जरूरत समझो तो किसी वक्त कहना।'

राजलक्ष्मी का हँसता हुआ मुखड़ा गम्भीर हो गया। कहा—'अच्छा।'—एकाएक उसकी नजर मेरी थाली पर पड़ी। बोली, 'बड़े मजे से चावल खा रहे हो? जानते हो कि रात मे तुम्हे चावल नुकसान करता है—तुम क्या मुझे अपनी बीमारी ठीक नही करने दोगे?'

चावल मुझे कोई नुक्सान नही कर रहा था, लेकिन यह कहने से लाभ नही था। राजलक्ष्मी ने जोर से आवाज दी, 'महाराज!' वह करीब आया कि उसे मेरी थाली दिखाकर उससे भी तेज गले से कहा—'यह क्या है? मैंने तुमसे हजार बार कहा होगा, कि बाबू को रात मे चावल मत दिया करना—तुम्हारी एक महीने की तनखा जुर्माने मे काट लो।' जुर्माने मे रुपये की बात का कोई मतलब ही नही, इसे हर नौकर जानता है, लेकिन फटकार के लिहाज से अर्थ जरूर था। महाराज ने नाराज होकर कहा—'घी नही तो मैं क्या करूँ?'

'घी क्यो नही है, यह भी सुनूँ?'

उसने जवाब दिया—'आपको दो-तीन दिन बता दिया, घी नही है, किसी को भेजिए। आप न भेजें तो मेरा क्या कसूर है।'

गिरस्ती के लिए घी यही मिल जाता था, मगर मेरे लिए घी आता था सैंथियो के पास के किसी गाँव से। उसके लिए आदमी भेजना पड़ता था। इसलिए मँगाने की बात या तो राजलक्ष्मी के कानो मे पडी नही, या वह भूल गई। उसने पूछा—'घी कब से नही है?'

'लगभग पाँच-सात दिन से।'

'इन पाँच सात दिनो से इन्हे चावल ही खिला रहे हो?' उसने रतन को बुलाकर कहा—'हो सकता है, मैं भूल गई होऊँ, तो क्या तू नहीं मँगवा सकता था? सब मिलकर मुझे इस तरह मुश्किल मे डालोगे?'

अन्दर से रतन अपनी मालकिन से खुश नही था। रात-दिन घर से बाहर

रहने और खासकर मेरे प्रति उदासीन से उसकी कुढ़न का ठिकाना न था। मालकिन की शिकायत के जवाब में वह भले आदमी-सा बोला— 'माँजी, पहले पर आपने वैसा ध्यान नहीं दिया, इसलिए सोचा, दामी घी मँगाने की शायद जरूरत न हो। वरना पाँच-छः दिन में मैं बीमार आदमी को चावल दे सकता था, भला!'

राजलक्ष्मी के पास इसका कोई जवाब न था, इसलिए नौकर से ऐसा सुनने के बाद भी वह चुपचाप उठकर चली गई।

रात देर तक बिछावन पर छटपटाता रहा। अभी-अभी ही झपकी लगी होगी कि राजलक्ष्मी किवाड़ खोलकर अन्दर आई। आकर बड़ी देर तक मेरे पैरों के पास चुपचाप बैठी रही फिर आवाज दी—'सो गए क्या?'

मैंने कहा—'नहीं।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'तुम्हें पाने के लिए मैंने जो कुछ किया, उसका आधा भी करती तो आज तक शायद भगवान मिल गए होते। मगर तुमको नहीं पा सकी।'

मैंने कहा—'आदमी को पाना शायद हो कि और भी कठिन हो।

'आदमी को पाना?' राजलक्ष्मी एक क्षण स्थिर रहकर बोली— जो भी हो, प्रेम भी तो एक प्रकार का बन्धन ही है। लगता है, वह भी तुम्हें नहीं सोहाता, गड़ता है, बदन में।'

इस शिकायत का जवाब नहीं—यह शिकायत शाश्वत और सनातन है। आदिम नर-नारी से विरासत में मिले हुए झगड़े का निपटारा करने वाला कोई नहीं—इसका निपटारा जिस दिन हो जाएगा, संसार का सारा रस, सारी मधुरता उस दिन कड़वी और विष बन जाएगी। सो जवाब न देकर मैं चुप रहा।

मगर ताज्जुब यह कि जवाब के लिए राजलक्ष्मी ने जिद नहीं की। जीवन के इतने बड़े सर्वव्यापी प्रश्न को भी वह मानो आप-ही-आप पलभर में भूल गई। बोली—'न्यायरत्नजी एक व्रत की बात बता रहे थे—चूँकि कठिन है बहुत, इसलिए सब से बनता नहीं और ऐसी सुविधा भी कितने लोगों को नसीब होती है?'

अधूरे प्रस्ताव के बीच में मैं मौन रहा। वह कहती गई—'तीन दिन तक लगातार भूखा रहना पड़ता है—सुनन्दा की भी बड़ी इच्छा है—दोनों का व्रत साथ-साथ ही हो जाए, किन्तु…' और खुद ही हँसकर कहने लगी—'मगर तुम्हारी राय के बिना तो…'

मैंने पूछा—'मेरी राय न हो तो क्या होगा ?'

वह बोली—'तो नहीं होगा।'

मैंने कहा—'तो फिर इरादा छोड़ दो, मेरी राय नहीं है।'

'हटो, मजाक रहने दो।'

'मजाक नहीं, सच ही मेरी राय नहीं है। मैं मना कर रहा हूँ।'

राजलक्ष्मी के चेहरे पर मानो बादल घिर आया। जरा देर मग्न-सी रहकर बोली, 'लेकिन हमने तो एक प्रकार से तय कर लिया है। सामान खरीदने के लिए आदमी जा चुका है, कल हविष्य करके परसों से—वाह, अब मना करने से कैसे चलेगा ? सुनन्दा को मैं मुँह कैसे दिखाऊँगी ? उसके पति—वाह ! यह सिर्फ चालाकी है तुम्हारी। मुझे चिढ़ाने के लिए—नहीं यह नहीं होगा—कहो कि तुम्हारी राय है।'

मैंने कहा—'है, लेकिन मेरी राय की तुम कभी अपेक्षा तो नहीं करती, आज ही अचानक यह मजाक करने क्यों आई। मैंने यह दावा तो कभी किया नहीं कि मेरा आदेश तुम्हें मानना ही होगा ?'

राजलक्ष्मी ने मेरे पैरों पर हाथ रखकर कहा, 'अब ऐसा कभी न होगा, बस इस बार खुशी-खुशी मुझे हुक्म दो।'

मैंने कहा—'ठीक है, तुम्हें शायद सुबह ही जाना है, ज्यादा अब न जगो, सो रहो जाकर।'

राजलक्ष्मी गई नहीं, धीरे-धीरे मेरे पैरों पर हाथ फेरने लगी। जब तक नींद न आ गई, बार-बार मैं यही सोचता रहा कि स्नेह-स्पर्श अब नहीं है। ज्यादा दिन की तो बात नहीं, जिस दिन वह मुझे आरा स्टेशन से उठा ले गई थी, तब भी वह इसी तरह मेरे पैर सहलाकर मुझे सुलाना पसन्द करती थी। ऐसा ही चुपचाप। लेकिन लगता था, उसकी दसों उँगलियाँ दसहड्डियों की अकुलाहट लिए नारी-हृदय के सर्वस्व को मेरे दोनों पैरों पर उड़ेल दे रही हों। बाढ़ के पानी के समान आते समय भी मेरी राय नहीं माँगी, शायद हो कि जाते समय भी वैसे ही मेरा मुँह नहीं ताकेगी। मेरी आँखों से सहज ही आँसू नहीं आते। प्यार में कमीनापन करना भी मुझसे नहीं बनता। दुनिया में कुछ नहीं दे, किसी से कुछ पाया नहीं—'दो-दो' कहकर हाथ फैलाने में भी शर्म आती है। किताब में मैंने पढ़ा है, इसके लिए पीड़ा, मान-अभिमान, शिक्वा-शिकायत का अन्त नहीं—स्नेह को सुधा के गरल बन जाने

की कितनी ही कहानियाँ ! जानता हूँ, यह सब झूठ नहीं, लेकिन मेरे अन्दर सोया हुआ जो वैरागी था, वह फन्ना झाड़कर उठ बैठा—छि-छि करने लगा।

बड़ी देर बाद, मैं सो गया हूँ, यह सोचकर राजलक्ष्मी जब धीरे से उठ गई, तो वह जान भी न सकी कि मेरी उनींदी आँखों से आँसू बह रहे हैं। आँसू बहते ही गए, लेकिन आज की मुट्ठी से बाहर का धन कभी मेरा हो था, इसके लिए हाहाकार करते हुए अशान्ति की सृष्टि करने की इच्छा नहीं हुई।

दस

सवेरे जागते ही सुना, राजलक्ष्मी सवेरे ही नहाकर रतन को साथ लेकर चली गई है और यह भी सुना कि तीन दिन तक घर नहीं आ सकेगी। हुआ भी यही। यह नहीं कि वहाँ कोई विराट् व्यापार शुरू हो गया, लेकिन मैं खिड़की पर बैठा-बैठा ही इसका आभास पाता कि दस-पाँच ब्राह्मणों की अतिथि‍-सेवा हो रही है कुछ खान-पान का भी प्रबन्ध हुआ है। कौन-सा व्रत, अनुष्ठान कैसा और करने से स्वर्ग का रास्ता किस हद तक सुगम होता है, कुछ भी नहीं जानता था, जानने की इच्छा भी न थी। रतन रोज शाम के बाद लौट आता था। कहता—'आप एक बार भी नहीं गए बाबूजी ?'

मैं पूछता—'मेरे जाने की कोई जरूरत है ?'

रतन जरा मुश्किल में पड़ जाता। जवाब इस तरह से देता—'जी आपका बिल्कुल न जाना लोगों की निगाहों में तो खटकता है। कोई-कोई यह भी सोचते हों कि शायद इसमें आपकी राय नहीं है। कहा तो नहीं जा सकता।'

'नहीं, कहा तो कुछ नहीं जा सकता।' मैं पूछता—'और तुम्हारी मालकिन क्या कहती हैं ?'

रतन ने कहा—'उनकी तो आप जानते ही हैं, आपके न होने से उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, लेकिन करें तो क्या ! कोई पूछ बैठता है, तो कहती हैं बीमार रहते हैं, ज्यादा चलने-फिरने में तबीयत खराब हो जाती है। फिर, आकर होगा भी क्या ?'

मैंने कहा—'सो ठीक ही है। फिर तुम्हें तो मालूम ही है रतन, ऐसे पूजा-पाठ,

धरम-करम के मामले में मैं बेहद बेमेल-सा हो जाता हूँ। इसलिए ऐसे जग-यज्ञ के मामले में मेरे लिए ज़रा दुबके ही रहना ही ठीक है। है न ?'

रतन हामी भरता, 'जी हाँ।' मगर मैं समझता था राजलक्ष्मी की तरफ से, वह मेरी उपस्थिति—मगर छोड़िए इसे।

अचानक एक बहुत अच्छी खबर मिल गई। मालकिन की सुख-सुविधा के इन्तजाम के लिए कुशारी जी सपत्नीक वहाँ पहुँच गए हैं। 'रतन कह क्या रहा है तू, सपत्नीक ?'

'जी हाँ और बिना न्योते के।'

समझ गया, इसमें राजलक्ष्मी की कोई चाल है। ऐसा भी ख्याल आया, हो सकता है, राजलक्ष्मी ने इसीलिए व्रत घर पर नहीं करके वहाँ किया है।

रतन कहने लगा—'दिन को गोद में लेकर कुशारी जी की स्त्री ऐसे रोने लगी कि पूछिए मत! छोटी माँ ने अपने हाथों उनके पैर धुलाए, वे खाना नहीं चाह रही थीं, इसलिए उन्होंने स्वयं आसन बिछाकर उन्हें बिठाया और जैसे कोई छोटी बच्ची को खिलाए, इस तरह से उन्हें खिलाया। माँजी की आँखों से आँसू बहने लगे। यह दृश्य जो देखा तो कुशारी जी ढाढ़ें मार-मारकर रो पड़े। मुझे तो ऐसा लगता है बाबूजी, अब इस टूटे मकान की माया छोड़कर छोटी माँ अपने पुराने ही मकान में चली जाएँगी। कहीं ऐसा हुआ तो सारे गाँव के लोग प्रसन्न होंगे। और आपसे यह भी कहे देता हूँ कि यह कीर्ति अपनी ही माँजी की है।'

सुनन्दा को जितना भर पहचान पाता था, उससे आशान्वित हो न हो सका, पर राजलक्ष्मी से जो मुझे गिला शिकवा था, वह देखते ही देखते बहुत अर्थों में शरत् के मेघ सा छट गया और मेरी आँखों के सामने स्वच्छ हो आया।

इन दो भाइयों और बहुओं की जुदाई जहाँ सत्य भी नहीं, स्वाभाविक भी नहीं, मन में ज़रा चिनक आए बिना भी जहाँ इतना बड़ा दुराव आया है, उस दुराव को भरने लायक दिल और दिमाग जिसे है, उसके जैसा कलाकार और है कहाँ ? इसके लिए जाने कब से वह चुपचाप कोशिश करती आ रही थी। मैंने हृदय से आशीर्वाद दिया, जिसमें उसकी यह शुभकामना पूरी हो। कुछ दिनों से मेरे मन में जो भार जमा हो रहा था, वह बहुत कुछ हलका हो गया और आज का दिन मुझे बड़ा भला लगा। राजलक्ष्मी ने कौन-सा शास्त्रीय व्रत लिया है, मालूम नहीं, लेकिन आज उसकी तीन दिन की मीयाद पूरी हो जाएगी और कल उससे फिर भेंट होगी, वह

बात बहुत दिनों के बाद मानो नये सिरे से याद हो आई।

दूसरे दिन सबेरे राजलक्ष्मी आ नहीं सकी, लेकिन बड़े दुःख के साथ रतन की मारफत कहला भेजा कि नसीब की क्या कहूँ, मिल आने का भी वक्त नहीं—गाड़ी छूट जाएगी। पास ही कहीं वक्रेश्वर नाम का तीर्थ है, वहाँ शीतल देवता हैं, गरम पानी का कुण्ड है जिसमें नहाने से उसी का नहीं, मातृकुल, पितृकुल, श्वसुरकुल के तीन कोटि जन्मों के जहाँ हैं, सबका उद्धार हो जाएगा। जाने वाले साथी मिल गए हैं, गाड़ी तैयार खड़ी है, बस चल ही रहे हैं सब। कुछ जरूरी चीजें थीं, रतन ने दरबान से भिजवा दी। यह बेचारा बतलाता दौड़ा। पता चला, वहाँ से लौटने में पाँच-सात दिन लग जाएँगे।

और पाँच-सात दिन! आदत के ही कारण शायद, आज उसे देखने को उत्सुक हो उठा था। लेकिन रतन से उसके तीर्थ जाने की खबर पाकर निराशा, मान या क्रोध के बदले मेरा कलेजा एकाएक करुणा और पीड़ा से भर गया। प्यारी सचमुच ही मरकर खतम हो चुकी और उसी के लिए कर्मों के दुस्सह भार से राजलक्ष्मी के हृदय-मन से वेदना की जो धारा उमड़ी आ रही है, उसे शान्त करने की कोई राह उसे ढूँढे नहीं मिल रही है। यह जो अशान्त विक्षोभ है, अपने जीवन से निकल पड़ने की यह जो दिशाहीन व्याकुलता है, इसका क्या कोई अन्त नहीं? पिंजड़े में कैदी पक्षी की नाईं वह क्या सदा सिर कूट-कूट कर ही मरेगी? और, उस पिंजड़े के लोहे की छड़ जैसा मैं ही क्या सदा उसके छुटकारे की राह को रोके रहूँगा? संसार जिसे किसी भी तरह कभी बाँध नहीं सका, मुझ जैसे उसी आदमी के ही भाग्य में आखिर भगवान ने इतना बड़ा दुर्भाग्य लिख दिया है? वह मुझे हृदय से प्यार करती है, मेरे मोह को वह जीत नहीं सकी। इसका पुरस्कार देने के लिए क्या उसका सारा भविष्यत् मुझमें पर निगूढ़ होकर रहेगा?

मैंने मन-ही-मन कहा, मैं उसे छुटकारा दूँगा—उस बार की तरह नहीं, इस बार—एकान्त हृदय से, अन्तर का सारा शुभाशीर्वाद देकर सदा के लिए मुक्ति दूँगा। और, हो सका तो उसके लौट आने के पहले ही मैं यहाँ से चल दूँगा। किसी भी काम से, किसी भी बहाने, सम्पद-विपद के किसी भी आवर्तन से मैं अब उसके सामने नहीं आऊँगा। अपने नसीब ने ही एक दिन मुझे अपने इस संकल्प पर दृढ़ नहीं रहने दिया था, लेकिन अब मैं उससे कदापि हार नहीं मानूँगा।

मन में आया, नसीब ही है। कभी पटना से जब बिदा हुआ था, तो राजलक्ष्मी

दुमजले के छज्जे पर खड़ी थी। उस वक्त उसके होठों पर शब्द न थे, लेकिन उसके रुंधे हृदय की सजल पुकार तमाम राह मेरे कानों में गूंजती रही थी। मगर मैं लौटा नहीं। देश छोड़कर सुदूर विदेश चला गया था, पर जो रूप और भाषाहीन खिंचाव मुझे रात-दिन खींचता रहा, उसके आगे देश-विदेश का व्यवधान था कितना बड़ा? एक दिन आखिर लौट आया। बाहर के लोगों ने सिर्फ मेरी हार देखी, मेरे माथे पर की निर्मल सुन्दर जयमाला उन्हें नहीं दिखाई दी। यही होता है। मैं जानता हूँ, निकट भविष्य में फिर विदाई की घड़ी आ पहुंचेगी। उस रोज भी शायद वह उसी तरह मौन खड़ी रहेगी, पर मेरी अन्तिम विदाई की राह में उसका वह अनसुना गहरा आह्वान अब मेरे कानों में न पहुँचेगा।

मन में सोचा, रहने का निमन्त्रण शेष होने पर जब सिर्फ जाना ही रह जाता हो तो कितनी पीड़ा देने वाला होता है वह! और फिर उस पीड़ा का कोई हिस्सेदार भी नहीं, सिर्फ मेरे ही हृदय में गढ़ा खोदकर उस निन्दित वेदना को सदा अकेला रहना पड़ेगा। राजलक्ष्मी को प्यार करने का अधिकार मुझे संसार ने नहीं दिया; यह एकाग्र प्रेम, यह हँसना-रोना, मान-अभिमान, यह त्याग, यह गहरा मिलन, लोगों की नजरों में यह सारा कुछ जैसा व्यर्थ है, वैसा ही अर्थहीन है, बाहर वालों की दृष्टि में आसन्न विद्रोह का अन्तर्दाह। बार-बार यही बात मेरे मन में आने लगी कि एक का मार्मिक दुःख दूसरे के आगे जब उपहास की वस्तु बन जाता है, तो उससे बड़ी ट्रेजेडी संसार में दूसरी है क्या? लेकिन बात ऐसी ही है। इस लोक में रहते हुए जिसने लोकाचार नहीं माना, बगावत की; वह नालिश किसके पास करे? यह समस्या शाश्वत, सनातन है। सृष्टि के पहले दिन से आज तक यही प्रश्न बार-बार घूमता आया है और भविष्य के गर्भ में जहाँ तक आँखें जाती हैं, इसका हल नजर नहीं आता। यह अन्याय है, अवांछित है। मगर इतनी बड़ी सम्पदा, इतना बड़ा ऐश्वर्य ही मनुष्य के पास और क्या है? असाध्य नर-नारी के इस अवांछित हृदय-आवेश की मौन व्यथा के इतिहास पर ही युग-युग से जाने कितने पुराण, कितनी कहानी, कितने काव्य की आकाशचुम्बी इमारत खड़ी हुई है?

मगर आज अगर यह रुक जाए? मन-ही-मन सोचा, रहने दो, राजलक्ष्मी की धर्म पर श्रद्धा हो, वक्रेश्वर की उसकी राह सुगम हो, मन्त्रों का उसका उच्चारण शुद्ध हो, आशीर्वाद देता हूँ, पुण्य कमाने का उसका पथ निरन्तर निष्कण्टक और निर्विघ्न हो, अपने दुःख का बोझ मैं अकेले ही ढोऊँगा।

दूसरे दिन सुबह आँख जो खुली तो लगा कि गंगामाटी के घर-द्वार, राहबाट, खेत-बिहार—सबसे अपना बन्धन मानो ढीला पड़ गया है। राजलक्ष्मी कब तक लौटेगी, कोई ठिकाना नही, लेकिन इधर मेरा मन एक पल भी टिकना नही चाह रहा था। रतन ने नहाने के लिए ताकीद शुरू कर दी। क्योंकि जाते वक्त राजलक्ष्मी न केवल कड़ा हुक्म दे गई थी बल्कि पैर छुआकर शपथ करा गई थी कि उसकी गैरहाज़िरी मे मेरी हिफाजत मे कोई कोर-कसर न हो। खाने का समय दिन मे ग्यारह बजे और रात मे आठ बजे तय है। रतन को नित्य घड़ी देखकर समय निश्चित रखना पड़ता है। राजलक्ष्मी लौटकर एक महीने की तनखा सबको इनाम मे देने को कह गई है। रसोई तैयार करके महाराज घर बाहर का काम कर रहा था। दाल-सब्जी, मछली आदि का सारा सामान कुमारी जी तडके मजदूर ही के हाथो पर पहुँचवा गए थे, यह मैंने बिस्तर पर पड़े-पड़े ही देख लिया था। मुझे उत्सुकता अब किसी बात की नही रह गई थी—ठीक है, ग्यारह और आठ बजे ही सही। मेरे कारण एक मास के ज्यादा वेतन से तुम लोग वंचित नही होगे, यह तय है।

रात सोने मे काफी बाधा पड़ी थी, सो आज समय से कुछ पहले ही, नहा-खाकर बिस्तर पर लेटते-न-लेटते सो गया।

चार बजे के करीब नींद खुली। कई दिनो से रोज टहलने जाया करता था। आज भी मुँह-हाथ धोया, चाय पी और निकल पड़ा।

बाहर एक आदमी बैठा था। उसने मेरे हाथ मे एक पत्र दिया। पत्र सतीश भारद्वाज का था। किसी ने मुश्किल से एक पंक्ति लिख भेजी थी कि वह बहुत बीमार है। मैं नही आऊँगा, तो वह मर जाएगा।

मैंने पूछा—'उसे हुआ क्या है ?'

उस आदमी ने बताया—'हैजा।'

खुशी-खुशी कहा—'चलो।' खुशी इसलिए नही कि उसे हैजा हुआ है। कुछ देर के लिए घर से सम्पर्क छोड़ने का मौका मिला, यही मुझे बहुत बड़ा लाभ-सा लगा।

एक बार जी मे आया, रतन को पुकारकर कह जाऊँ, लेकिन समयाभाव से यह न हो सका। जैसे निकला था, उसी रूप मे चल पड़ा। घर मे कोई जान भी न सका।

कोई तीन कोस रास्ता तै करके दिन डूबते समय सतीश के कैम्प मे पहुँचा। ऐसा ख्याल था कि रेलवे कन्स्ट्रक्शन के इचार्ज सतीश भारद्वाज के यहाँ काफी ऐश्वर्य के दर्शन होंगे, परन्तु देखा ईर्ष्या करने जैसा कुछ भी नही। छोटे-से एक छोलदारी तम्बू मे रहता है, बगल मे डाल-पत्तो का बना रसोईघर। एक मोटी-ताजी बाउरी औरत कुछ उबाल रही थी, मुझे देखकर साथ लिवा ले गई।

इस बीच रामपुरहाट से एक नौजवान पजाबी डाक्टर आ पहुँचे थे। उन्होने जब यह जाना कि मैं सतीश का बाल-बन्धु हूँ तो उनके जी-मे-जी आया। उन्होने बताया, बीमारी सीरियस नही है, जान का खतरा नही। उनकी ट्राली तैयार थी, तुरन्त न चल पडे तो हैडक्वार्टर्स मे पहुँचने मे बडी देर हो जाएगी और तकलीफ की इन्तहा न रहेगी। मेरा क्या होगा, यह उनके सोचने की बात न थी। बदस्तूर मुझे एहतियात की बातें बताई कि कब क्या करना होगा। ट्राली से रवाना होने के पहले जाने उसके मन मे क्या आया कि बैग से दो-तीन डब्बे और दवाई मुझे थमाते हुए बोले, हैजा छूत की बीमारी है। उस गड्ढे का पानी इस्तेमाल मे न लाने को कह देंगे—यह कहकर उन्होने मिट्टी खुदी उस खान की तरफ दिखा दिया। कहा, कुलियो मे और भी किसी को हुआ है, यह खबर मिले—हो भी सकता है—तो इन दवाओ को काम मे लाएँगे। बीमारी की किस हालत मे कौन-सी दवा देनी होगी, मुझे सब समझा दिया।

आदमी बेचारा बेजा नही, दया-ममता वाला है। मुझे बार-बार हिदायत कर गए कि सतीश का हाल उन्हे जरूर मिले और कुलियो पर भी खास ख्याल रखा जाये।

अच्छा हुआ यह तो। राजलक्ष्मी वक्रेश्वर गई, नाराज होकर मैं रास्ते पर निकला। वही एक आदमी से भेंट हो गई। बचपन का परिचय, साथी तो है ही। पन्द्रह साल से कोई खैर-खबर न थी, सो अचानक पहचान नही पाया—मगर दो ही दिन बाद यह कैसी नौबत! हैजे मे उसकी चिकित्सा का भार, सेवा—जतन का भार यहाँ तक कि उसके सौ-डेढ सौ कुलियो की निगरानी का भी भार मुझी पर आ पड़ा? बाकी रह गया सिर्फ उसका पेट और टट्टू। और शायद यह कुली औरत भी। मुझे पाकर दस ही पन्द्रह मिनट मे वह औरत बहुत हद तक आश्वस्त हो गई। खैर, कसर फिर क्यो रक्खूँ, घोडे की भी खोज ले ही लूँ जरा।

सोचा, मेरा भाग्य ही ऐसा है। नही तो राजलक्ष्मी कैसे जाती और अभया ही

अपने दुःख का बोझा मुझसे कैसे ढुलवाती ? और यह मेडक और उसके दुनियों की यह जमात। इन सबको झाड़ फेंकने में किसी को भी एक पल से ज्यादा समय नहीं लगता। फिर मैं ही तमाम जिन्दगी क्यों ढोता फिरूँ ?

तम्बू रेल कम्पनी का। सतीश की निजी सम्पत्ति की मैंने मन-ही-मन एक सूची तैयार की। इनामल के कुछ बर्तन, एक स्टोव, लोहे का एक बक्स, एक किरासिन तेल का टिन और कैनवास की खाट जो बिछान-बिछाते ढोली-सी बन गई थी। सतीश है चालाक। इस खाट के लिए बिस्तर की जरूरत नहीं पड़ती, जो भी डाल दीजिए, काम चल जाता है। इसीलिए एक धारीदार दरी के सिवाय उसने कुछ नहीं खरीदा था। भविष्य में हैजा हो जाने से काम चल सके, ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं थी। कैनवास वाली खाट पर सेवा करने में बड़ी असुविधा होती थी और एक ही दरी, बेहद गन्दी हो गई थी वह। लिहाजा उसे नीचे लिटाने के सिवाय कोई चारा न था।

मैं बड़ी फिक्र में पड़ा। उस औरत का नाम था कालीदासी। पूछा—'काली, एकाध बिस्तर मिलेगा कहीं ?'

वह बोली—'नहीं।'

कहा, 'थोड़ा-सा पुआल जुटा सकती हो कहीं से ?'

काली 'फिक' करके हँस पड़ी और जो कहा, उसका मतलब यह था कि यहीं क्या गाय-गोरू है ?

मैंने कहा—'तो फिर बाबू को लिटाऊँ कहाँ ?'

काली बेलौस जमीन दिखाकर बोली, 'यहाँ। वह क्या बचेगा ?'

उसका चेहरा देखकर लगा, संसार में ऐसा निर्विकल्प प्रेम दुर्लभ है। मन में सोचा तुम भक्ति की पात्री हो काली। तुम्हारी बातें सुनने के बाद मोह मुद्गर पाठ करने की जरूरत नहीं, पर अपनी यह ज्ञानमय अवस्था है नहीं, आदमी अभी जिन्दा है, कुछ तो उसके लिए बिछाना ही पड़ेगा।

पूछा—'बाबू का कोई कपड़ा लपटा भी नहीं है ?'

काली ने सिर हिलाया। उसमें दुविधा-संकोच का नाम नहीं। वह 'शायद' कहना नहीं जानती। बोली—'कपड़ा नहीं, पतलून है।'

पतलून साहबी चीज है, कीमती। मगर उससे बिस्तर का काम चल सकता है या नहीं, सोच नहीं सका। एकाएक याद आ गया, आते वक्त पास ही कहीं एक पटा

पुराना तिरपाल देखा था। मैंने कहा, 'चलो न, दोनों मिलकर उसे उठा लाएँ। पतलून बिछाने में वह अच्छा रहेगा।'

काली तैयार हो गई। भाग्य से वह उस वक्त तक वहीं पड़ा था। लाकर उसी पर सतीश भारद्वाज को लिटा दिया। उसी के एक किनारे विनयपूर्वक काली लेट गई और देखते-ही देखते सो गई। मेरा ख्याल था औरतों के नाक नहीं बजती। काली ने इसे भी गलत साबित कर दिया।

मैं अकेले टिन पर बैठा। इधर रह रहकर सतीश के हाथ-पाँव ऐंठने लगे। सेंकने की जरूरत थी। चीख-चिल्लाकर काली को जगाया। करवट बदलती हुई वह बोली—'लकड़ी-काठ कुछ है नहीं, आग कैसे सुलगाएँ?' मैं खुद भी कोशिश कर सकता था, मगर रोशनी कहने को एक वही लालटेन थी। फिर भी रसोई में जाकर टटोला। काली ने झूठ नहीं कहा था। रसोई वाले झोपड़े के सिवाय ऐसी कोई चीज न थी कि आग जलाई जा सके। मगर हिम्मत न पड़ी, कहीं मरने के पहले ही दाह-संस्कार न कर बैठूँ! कैनवास वाली खाट को ही खींचकर बाहर ले गया और दियासलाई से उसमें आग लगाई। अपना कुरता उतारा। उसकी पोटली बनाकर सेंक देने की कोशिश की। मगर तसल्ली के सिवाय रोगी को उससे कोई लाभ न हुआ।

रात के दो या तीन बजे होंगे, खबर मिली, दो-एक कुलियों को कै-दस्त शुरू हो गये हैं। उन लोगों ने मुझे डाक्टर समझा था। उन्हीं लोगों की रोशनी के सहारे दवा निकाली और कुलियों की तरफ गया। वे सब मालगाड़ी के डिब्बों में रह रहे थे। खुले डिब्बे—छत नहीं ऐसे डिब्बों की कतार। जहाँ मोटी कटाई की जरूरत होती, इंजन जोड़कर डब्बे वहीं खींच ले जाए जाते।

बाँस की सीढ़ी से डब्बे पर चढ़ा। एक ओर एक बूढ़ा सा आदमी पड़ा था। रोशनी में उसका चेहरा देखते ही पता चल गया, रोग काफी फैल चुका है। दूसरी ओर पाँच-सात जने—औरत भी—कोई-कोई जग पड़ा है, किसी की नींद में अभी भी खलल नहीं पड़ी।

कुलियों का जमादार आया। मैंने पूछा—'दूसरा रोगी कहाँ है?'

अंधेरे में अंगुली के इशारे से दूसरा एक डिब्बा दिखाकर उसने कहा, 'वहाँ।'

फिर सीढ़ी से ऊपर गया। देखा, बीमार एक औरत है। पच्चीस-तीस से ज्यादा उम्र न होगी। दो-तीन बच्चे उसकी बगल में ही सो रहे थे। पति नहीं है—

वह इसमें भी कम उम्र की एक औरत को लेकर आसाम के चाय-बागान में काम करने चल दिया है।

इस डब्बे में भी पाँच-छः जने और थे और उन सबों ने उनके पति की निन्दा के सिवाय मेरी या बीमारों की मदद नहीं की। पंजाबी डाक्टर जैसे बना गया था, मैंने दोनों को दवा दी। बच्चों को अलग करना चाहा पर उनका भार लेने के लिए किसी को राजी न कर पाया।

सुबह होते-होते और भी एक लड़के को कै-दस्त शुरू हो गए। उधर सतीश की हालत बिगड़ती ही गई। बड़ी-बड़ी मनमौज के बाद एक आदमी को मैंने भेजा डाक्टर को खबर देने के लिए। शाम को लौटकर उसने खबर दी, वे और कहीं चले गए हैं रोगी देखने।

मेरे साथ सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि पास में रुपये न थे। खुद तो फाके पर ही था। नींद नहीं, आराम नहीं—खैर वह न सही, मगर पानी पिए बिना कैसे जिन्दा रहूँ? गड्ढे का पानी पीने के लिए सबको मना किया, पर किसी ने नहीं माना। औरतों ने मुस्कराकर कहा—'इसको छोड़कर पानी है कहाँ बाबू?' कुछ दूर जाने पर गाँव में पानी मिलता, लेकिन जाए कौन? वे मर सकते थे, पर बिना पैसे के यह काम करने को तैयार न थे।

इन मुसीबतों के बीच इसी हालत में मुझे दो-तीन रातें बितानी पड़ीं। एक को भी मैं बचा नहीं सका, सब-के-सब बीमार चल बसे। मगर मरना ही इस लोक में सबसे बड़ी बात नहीं। पैदा होने वाला मरना ही है— कोई दो दिन पहले कोई दो दिन बाद। यह बात मैं आसानी से, बिना किसी प्रयास के ही समझ सकता हूँ, बल्कि यही नहीं सोच पाता कि इसी मोटी बात को समझने के लिए लोगों को इतने-इतने शास्त्रों की आलोचना, वैराग्य-साधना, इतने प्रकार के तत्त्व-विचार की जरूरत क्यों पड़ती है। आदमी का मरना मुझे खास चोट नहीं पहुँचाता, चोट पहुँचाता है मनुष्यता का मरना। इसे मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता।

दूसरे दिन सबेरे भारद्वाज का प्राण छूटा। आदमी की कमी के कारण लाश फूँकी न जा सकी, धरती माता ने ही उसे अपनी गोदी में जगह दी।

उधर का काम चुराकर डब्बों की तरफ आया। नहीं आया होता, तो अच्छा था। मगर मुझसे नहीं रहा गया। इतनी भीड़ में भी रोगियों को लेकर अकेला था। सभ्यता के बहाने धनी का धन-लोभ मनुष्य को कितना बड़ा हृदयहीन और

पशु बना डालता है, यह इन्हीं दो दिनों की अनभिज्ञता से मानो मेरे जीवन में सदा के लिए संचित हो गया। काफी कड़ी धूप, और उसी हालत में तिरपाल के नीचे रोगियों को लेकर अकेला मैं। वह नन्हा सा बच्चा किस कष्ट में पड़ा था, कहा नहीं जा सकता, लेकिन एक गिलास पानी देने वाला भी कोई न था। सरकारी काम—मिट्टी काटना बन्द नहीं हो सकता। हफ्ते के अन्त में नाप-जोखकर मजूरी मिलेगी। मगर यह बीमार भी तो उन्हीं की जाति का है, उन्हीं का बच्चा। गाँव में मैंने देखा है, वहाँ ऐसा हर्गिज नहीं होता! लेकिन समाज, घर-द्वार से सभी प्रकार के स्वाभाविक बन्धनों से हटाकर इन्हें यह जो सुबह से शाम तक मिट्टी ही काटने के लिए लाकर इन डब्बों में इकट्ठा किया गया है, यहाँ उनमें मानवी हृदय-वृत्ति नाम की कोई चीज कहीं नहीं रह गई है। मिट्टी काटना और मजदूरी, बस! सभ्य मनुष्यों ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया है कि मनुष्य को जानवर बनाए बिना उससे पशु का काम नहीं लिया जा सकता।

भारद्वाज चला गया लेकिन उसकी अमर कीर्ति यह ताड़ी की दुकान अक्षय है। साँझ हुई नहीं कि क्या औरत क्या मर्द नशे में धुत होकर लौटे—दोपहर का पका चावल हाँडी में पड़ा ही है, औरतों को शाम का झंझट भी नहीं। फिर कौन किसकी सुनता है! जमादार के डिब्बे में ढोल-झाँझ के साथ जोरों का गाना शुरू हो गया, क्या पता, कब खत्म हो। उन्हें किसी के भी लिए सिर दर्द नहीं। मेरी बगल के ही डिब्बे में जाने किस औरत के दो प्रेमी आ जुटे हैं—रातभर उनकी प्रेम-लीला का विराम नहीं, इधर वाले डिब्बे में किसी ने जरा ज्यादा ताड़ी पी ली है—वह इतने जोर-जोर से अपनी स्त्री से प्रेम भिक्षा माँगने लगा है कि मेरी शर्म की हद न रही। दूर के एक डिब्बे में एक औरत रो-पीट रही थी, उसकी माँ दवाई लेने आई तो पता चला, उसके दर्द उठा है। लाज नहीं, शर्म नहीं—कोई छिपाव नहीं—सबकुछ खुला, अनावृत। उनकी जीवन-यात्रा की बेरोक गति बिनोनेपन के साथ बरोक चल रही है। एक मैं ही दल से अलग। मृत्युलोक को जाने वाली एक माँ और उसके बच्चे को लिए अँधेरी रात में अकेला बैठा था।

बच्चे ने कहा—'पानी!'

मुँह के पास झुककर मैंने कहा—'पानी नहीं है बेटे, सवेरा होने दो।'

बच्चे ने गर्दन हिलाकर कहा,'अच्छा।' उसके बाद आँखें बन्द करके पड़ा रहा।

प्यास के लिए पानी भले ही न था, मगर मेरी आँखें फटकर पानी बहने लगा।

हाय, मानव की केवल सुकुमार हृदय-वृत्ति ही के प्रति नहीं, अपनी दुस्सह यातना के लिए भी कैसी उदासीनता ! यही तो पशु है ! धीरज की शक्ति नहीं, जड़ता है। यह सहनशीलता मानवता में कहीं नीचे के स्तर की चीज है।

हमारे डिब्बे के सारे लोग मजे से सो रहे थे। कालिख से काली लालटेन की बेहद धुंधली रोशनी में मैं साफ देख रहा था कि माँ और बच्चे दोनों के सर्वांग कड़े होते आ रहे हैं, मगर मैं कर ही क्या सकता था !

सामने के आकाश में दूर तक फैला सप्तर्षि झकमका रहा था, उस तरफ देखते हुए मैं पीड़ा, क्षोभ और निष्फल आक्रोश से बार-बार अभिशाप देने लगा, तुम आधुनिक सभ्यता के वाहन हो—मरो। लेकिन जिस निर्मम सभ्यता ने तुम्हें ऐसा बनाया है, उसे तुम कभी क्षमा मत करना। इसे अगर ढोना ही है तो तेजी से इसे रसातल की ओर ले जाओ।

ग्यारह

सुबह खबर मिली, और भी दो जने रोग के शिकार हुए। दवा दी। जमादार ने सैंथिया खबर भेजी। उम्मीद हुई कि अब अधिकारियों का आसन हिलेगा।

नौ बजे के करीब वह बच्चा चल बसा। अच्छा ही हुआ। आखिर यही तो है जिन्दगी उनकी।

सामने के बँहार में छाता ओढ़े दो सज्जन चले आ रहे हैं। आकर मैंने उनसे पूछा—'यहाँ गाँव कितनी दूर है ?'

जो बूढ़े से थे, सिर उठाकर बोले—'वह रहा।'

पूछा—'खाने की कोई चीज वहाँ मिलती है ?'

दूसरे सज्जन ने अचरज से कहा—'मिलती नहीं, यह कैसी बात ? भले आदमियों की बस्ती है—चावल, दाल, घी-तेल, तरी-तरकारी, जो चाहिए। आ कहाँ से रहे हैं आप ? घर ? जी—आप ?'

संक्षेप में उनकी जिज्ञासा मिटाई। सतीश भारद्वाज का नाम लेते ही दोनों नाराज हो उठे। बूढ़े ने कहा—'नशेबाज बदमाश, मक्कार।'

साथी ने कहा—'रेल का आदमी भला कहाँ तक होगा। कच्चा पैसा सूद

मिलता था न !'

जवाब में मैंने सतीश की कब्र की ओर इशारा करके कहा—'अब उसकी आलोचना बेकार है। कल वह गुजर गया। लोग-बाग मिले नहीं, लाश जलाई न जा सकी, गाड़ दी गई।'

'अरे, कह क्या रहे हैं आप। ब्राह्मण को·'

'उपाय क्या था ?'

दोनों जने क्षुब्ध हो उठे। बताया, पास ही भले आदमियों की बस्ती थी। खबर मिली होती तो जरूर कुछ न-कुछ इन्तजाम हो जाता। एक ने मुझसे पूछा, 'आप उनके कौन होते हैं ?'

मैंने कहा—'कोई नहीं। जान पहचान-भर थी। और मैं यहाँ कैसे आया, यह बताया। दो दिन से भोजन नसीब नहीं हुआ है, लेकिन चूँकि कुलियों में हैजा फैल गया है, इसलिए छोड़कर भी नहीं जा सकता।'

भोजन नहीं नसीब हुआ, यह सुनकर दोनों बड़े चचल हुए और साथ चलने का बार-बार आग्रह करने लगे। एक ने यह भी बता दिया कि इस खौफनाक बीमारी में खाली पेट रहना कितना खतरनाक है।

भूख प्यास से अधमरा-सा हो ही रहा था—साथ हो लिया। रास्ते में इसी पर बातें होने लगी। देहात के लोग, शहरी शिक्षा का जो मतलब है, वह कुछ भी नहीं उनमें। मगर मजे की बात यह थी कि अंगरेजी राज की राजनीति उनकी अजानी न थी। उसे मानो लोगों ने मुल्क की मिट्टी से, आकाश से, हवा से, अस्थि-मज्जा के सहारे बीन लिया था।

दोनों ही बोले—'यह कुछ सतीश भारद्वाज का कसूर नहीं है, हम भी होते, तो ऐसे ही हो जाते। जो भी कम्पनी बहादुर के सरोकार में आ जाएगा, वही चोर बने बिना न रह सकेगा। ऐसी ही छूत है इनकी।'

भूखा और थका था। ज्यादा बातें करने की शक्ति न थी। सो चुप ही रहा। वे कहने लगे—'जरूरत ही क्या पड़ी थी मुल्क की छाती चीरकर फिर से नई लाइन बिछाने की ? कोई चाहता भी है। नहीं चाहता, फिर भी चाहिए। पोखर नहीं, तालाब नहीं—बूंद भर पीने का कहीं पानी नहीं, गर्मियों में पानी बिना गाय गोरू तड़प-तड़पकर मर जाते हैं—कहीं पीने लायक पानी मिलता तो सतीश बाबू ही क्या यों मर जाते ? हर्गिज नहीं। मलेरिया, हैजा, किस्म किस्म की

बीमारी से लोग उजड़ गए, मगर सुनता कौन है ? अधिकारी वर्ग इसी के पीछे पड़े है कि रेल बनाओ और यहाँ, किसके घर, क्या है, सब ढो ले जाओ। आप ही कहिए, ठीक नहीं कह रहा हूँ ?'

आलोचना करने लायक गले में जोर नहीं था, इसलिए गर्दन हिलाकर ही हामी भरी। लेकिन मन में हजार बार कहता रहा, यही, यही। बस, सिर्फ इसलिए तैंतीस करोड़ स्त्री-पुरुष का गला दबाकर भारत में विदेशी शासन की बुनियाद पड़ी है। महज इसी के लिए भारत के कोने-कोने, रन्ध्र-रन्ध्र में रेल-लाइन बिछाने का विराम नहीं। वाणिज्य के नाम पर धनी के भण्डार को और बढ़ाने की अटूट चेष्टा से दुर्बलों का सुख गया, शान्ति गई, अन्न गया, धर्म गया उनके जीने का रास्ता दिन-दिन सँकरा और भार दुस्सह हो रहा—इस सत्य को किसी की निगाह से बचाने का उपाय नहीं।

बूढ़े सज्जन ने मानो मेरी चिन्ता-लड़ी में ही कड़ी जोड़ते हुए कहा—'जी, बचपन में मैं ननिहाल में रहा, बीस कोस के अन्दर कहीं रेल न थी। चीजें कितनी सस्ती थी उस समय और मिलती कितनी थीं। किसी को कुछ उपजता तो अड़ोस-पड़ोस वालों को हिस्सा मिलता—अब तो एक मुट्ठी साग देने को भी कोई रवादार नहीं। कहता है, रहने दो, आठ बजे की गाड़ी से चैन र को दे देने से कुछ पैसे मिल जाएँगे। अब देने का नाम है अपव्यय। दु ख बात आपसे क्या कहूँ, पैसा कमाने के नशे में क्या औरत, क्या मर्द, एकबारगी इतर-से हो पड़े है।

और खुद भी क्या जी भर कर भोग पाता है ? हूँ ! अपने-विराने अड़ोसी-पड़ोसी को ही नहीं, सब प्रकार से अपने को भी ठगते हुए पैसा जोड़ना ही उनका एकमात्र परमार्थ हो गया है।

इन सारे अनर्थों की जड़ यह रेलगाड़ी है। नसों के समान हर तरफ अगर रेल की लाइनें नहीं दौड़ गई होतीं—खाने की चीजों को चालान करके रोजगार की सुविधा न मिली होती और उस लोभ से अगर इस कदर पागल न हो गए होते तो देश की यह गत न होती।

रेल के खिलाफ अपनी भी शिकायत कम नहीं। वास्तव में जिस व्यवस्था के कारण मनुष्य के जीने के लिए जरूरी खाद्य-पदार्थ रोज-रोज छिनते और देश में शौकीनी कूड़े का ढेर जमा होता है, उसके लिए वितृष्णा न हो, यह हो ही नहीं सकता। और खासकर गरीबों का जो दुख, जो हीनता, अभी-अभी अपनी आँखों

में देख आया, उसका बचाव किसी भी युक्ति, किसी भी तर्क से नही मिलता, फिर भी, कहा, जरूरत से ज्यादा पड़ने वाली चीजो को बर्बाद न करके बचाकर यदि उसकी कीमत आए तो बुरा क्या है ?

वे भले आदमी बगैर झिझके बोल उठे—'जो बिल्कुल बुरा है, बिल्कुल अमगल।'

उनका क्रोध और घृणा मुझसे कही ज्यादा थी। बोले—आपकी यह बर्बादी वाली धारणा विलायत की आमद है, इसका जन्म धर्मस्थान भारतवर्ष की मिट्टी पर नही हुआ, हो ही नही सकता। मैं पूछता हूँ, अपनी ही जरूरत क्या एक मात्र सत्य है ? जिसे नही है, उसकी जरूरत मिटाने का क्या कोई मूल्य ससार मे नहीं ? उतने को बाहर भेजकर पैसा न सजोना ही बर्बादी है, अपराध है ? यह बेदर्द, बेरहम उक्ति हम लोगो की जबान से नही निकली, निकली है ऐसो के मुंह से, जो विदेश से लौटकर गरीबो का कौर छीनने के लिए सारे देश म फैले हुए जाल मे फन्दे पर फन्दा जोडते चले आ रहे है।'

मैंने कहा—'देश का अन्न विदेश जाए, मैं भी इसके पक्ष मे नही, लेकिन एक के बचे अन्न से दूसरे का सदा पेट भरता रहे यही क्या मगलजनक है ? फिर विदेश से आकर वास्तव मे वे छीनकर तो नहीं ले जाते—दाम देकर खरीद ले जाते हैं।'

भले आदमी ने रुखाई से जवाब दिया—'हाँ खरीदकर ही ले जाते है—वशी मे चारा डालकर पानी मे फेंकना जैसे मछलियो का न्योता है।'

इस व्यग्य का मैंने जवाब नही दिया। एक तो भूख-प्यास और थकावट के मारे वाद-विवाद की शक्ति नही थी और फिर उनके वक्तव्य मे मूलत अपना मतभेद भी न था।

लेकिन मुझे चुप रहते देख अचानक वे बहुत तैश मे आ गए और मुझे ही विरोधी समझकर बहुत बिगड़ते हुए कहने लगे—'आपने उनकी उग्र वणिक्वृत्ति के तत्त्व को ही सार-सत्य समझ लिया है, मगर वास्तव मे इतनी बड़ी बुरी चीज दुनिया मे है नही—वे सिर्फ सोलह आने के बदले चौंसठ पैसे गिन लेना जानते हैं—वे समझते हैं सिर्फ देना और पावना—उन्होने सिर्फ भोग को ही ,मानव-जीवन का एकमात्र धर्म मानना सीखा है। इसीलिए तो ससारव्यापी उनके सचय और सग्रह के व्यसन ने ससार के सारे मगल को ढक लिया है। यह रेल, यह कल,

यह सोहा बँधा रास्ता—यही तो पवित्र वेस्टेड इन्टरेस्ट है—इसी बोझ से तो गरीबों को संसार में निश्वास फेंकने की कहीं जगह नहीं।'

वे कुछ रुके और फिर कहने लगे—'आप कह रहे थे कि एक की जरूरत से ज्यादा पड़ने वाली चीजों को बाहर भेजने का मौका नहीं होता, फिर या तो वे चीजें बर्बाद होतीं या जरूरतमन्द लोग ही खाते। इसी को आप बर्बाद कह रहे थे न?'

मैंने कहा—'जी उसके लिए यह बर्बादी ही हुई।'

जवाब देते हुए बूढ़े सज्जन बेताब हो उठे। बोले—'यह विलायती बोली है, नए अर्थशास्त्रियों के हथकण्डे। जब कुछ और सोचना सीख लेंगे तो खुद आपको ही सुबहा होगा कि असल में बर्बादी यह है या देश का अन्न विदेश भेजकर बैंक में रुपया जमा करना ज्यादा बर्बादी है? सुनिए, हमारे यहाँ गाँव-गाँव में सदा से कुछ-न-कुछ बेकार, आलसी, उदासीन स्वभाव के लोग रहते ही आए हैं—बनिये-हलवाई की दुकानों में ताश-चौपड़ खेलकर, सातें फूँककर, बड़ों के बैठक में गा-बजा कर ऐसे ही निकम्मे कामों में उनके दिन कटते थे। उन सभी के यहाँ गुजारे-भर का अन्न होता था, ऐसा नहीं, मगर तो भी दूसरों की बढ़ती में किसी तरह उनका गुजारा हो ही जाता था। आप लोगों को यानी अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ज्यादा चिढ़ तो इन्हीं लोगों से है? खैर, फिक्र करने की बात नहीं, ऐसे आलसी, निकम्मे, दूसरों के आसरे रहने वाले लोग अब लुप्त हो गए हैं क्योंकि बढ़ती नाम की कोई चीज तो अब कहीं रह नहीं गई है। लिहाजा या तो वे भूखों मर गए या कहीं कोई छोटी-सी नौकरी करके जीवन्मृत अवस्था में पड़े हुए हैं। अच्छा ही हुआ। मेहनत के गौरव की प्रतिष्ठा हुई, जीवन-संग्राम की रखवाली सभ्यता प्रमाणित हुई—मगर जिनकी उम्र हमारी तरह से ज्यादा हो गई है, वही जानते हैं कि आखिर गया क्या। जीवन संग्राम ने उनका खातमा कर दिया और, गाँवों का आनन्द भी मानो, उन्हीं के साथ मर गया।'

इस अन्तिम बात से चकित होकर मैंने उनकी तरफ ताका। खूब गौर करने के बाद भी वे कम पढ़े-लिखे, मामूली, देहाती सज्जन से ज्यादा कुछ न लगे—मगर उनका कथन मानो अचानक अपने को सीमा करके बहुत दूर चला गया।

यह नहीं कि उनकी सारी ही बातों को मैंने निर्भूल मान लिया, लेकिन न मानने में भी पीड़ा-सी होने लगी। ऐसा तो सन्देह-सा होने लगा कि ये कथन उनके

अपने नहीं, ये मानो अंदेसे और किसी के हैं।

बड़े ही सकोच के साथ पूछा, 'अगर आप बुरा न मानें तो

'नहीं-नहीं, बुरा क्यों मानने लगा, कहिए।'

पूछा—'अच्छा, ये बातें क्या आपको अपनी अभिज्ञता की है, अपने ही चिन्तन का फल ?'

वे नाराज हुए, बोले—'क्या, ये बातें झूठी है ? आप ठीक जानें एक अक्षर भी झूठ नहीं है इसका।'

'नहीं-नहीं, मैं झूठ तो नहीं कहता, फिर

'फिर भी, फिर क्या ? हमारे स्वामीजी कभी झूठ नहीं बोलते। उन जैसे ज्ञानी है भी कोई ?'

मैंने पूछा—'स्वामीजी कौन ?'

इसका जवाब उनके साथी ने दिया, कहा—'वज्रानन्द। स्वामीजी की उम्र कम जरूर है, मगर उससे क्या, अगाध पण्डित हैं, अगाध ...'

'आप उन्हें पहचानते हैं ?'

'पहचानता नहीं ? खूब कही ! उन्हें हमारा अपना जन ही कहिए। इन्हीं के यहाँ तो उनका खास अड्डा रहता है।'—यह कहकर उन्होंने साथ के भले आदमी को दिखा दिया।

बूढ़े ने तुरन्त सुधारकर कहा—'अड्डा मत कहो नरेन, आश्रम कहो। जी, मैं गरीब आदमी हूँ, जो बनता है, सेवा करता हूँ। इसे तो विदुर के यहाँ कृष्ण का रहना कहिए। आदमी नहीं, आदमी की शक्ल में देवता हैं।'

मैंने पूछा—'फिलहाल कितने दिनों से आपकी बस्ती में है ?'

नरेन ने कहा—'लगभग दो महीने से। इस इलाके में न तो कोई डाक्टर-वैद है, न कोई स्कूल है। इसी के लिए जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं। खुद भी बहुत बड़े डाक्टर हैं।'

इतनी देर के बाद बात समझ में आई। यही आनन्द हैं, जिन्हें सेंथिया स्टेशन पर खिला पिलाकर राजलक्ष्मी गगामाटी ले आई थी ! उसकी विदाई का दृश्य याद आया। किस कदर रोई राजलक्ष्मी ! दो ही दिन का तो परिचय था, मगर ऐसी वेदना, मानो कितने बड़े स्नेह की वस्तु को आफत के मुँह में भेज रही हो ! फिर से आने की कैसी कातर विनती ! लेकिन आनन्द ठहरा सन्यासी। उसे

ममता भी नहीं, मोह भी नहीं। नारी हृदय का रहस्य उसके लिए झूठ के सिवाय कुछ भी नहीं। इसीलिए इतने दिनों में इतने नजदीक रहते हुए भी नाहक ही भेंट करने की उसने जरा देर के लिए जरूरत नहीं समझी। आगे भी इस जरूरत का शायद कभी हेतु नहीं आएगा, मगर यह बात राजलक्ष्मी सुनेगी तो उसे कितनी चोट पहुँचेगी, यह सिर्फ मैं ही जानता हूँ।

अपनी बात याद आई। मेरी भी विदाई की घड़ी करीब आ रही है—हर पल यही महसूस कर रहा हूँ कि जाना ही पड़ेगा—राजलक्ष्मी की मेरी जरूरत खत्म होती आ रही है सिर्फ यही नहीं सोच पाता कि उस दिन का दिनान्त कैसे बीतेगा।

गाँव में पहुँचा। नाम मामूदपुर। बूढ़े चक्रवर्ती उसी का गर्व के साथ उल्लेख करके बोले—नाम सुनकर चौंकिए मत जनाब! हमारे गाँव की चौहद्दी में मुसलमानों की छाया भी नहीं पहुँचती। जिधर देखिए ब्राह्मण है, कायस्थ हैं और सद्‌जात है। ऐसी-वैसी जात का नाम ही नहीं। क्या नरेन, है?'

खुशी-खुशी सिर हिलाते हुए नरेन ने कहा—एक भी नहीं, एक भी नहीं। हम वैसे गाँव में नहीं रहते।'

सच ही होगा, मगर मैं यह नहीं समझ सका कि इस पर इतनी खुशी की क्या वजह हो सकती है।

चक्रवर्ती जी के यहाँ वज्रानन्द जी के दर्शन हुए। हाँ, वही थे। मुझे देखकर जितनी ही खुशी हुई उन्हें उतना ही आश्चर्य।

'अरे, आप! यहाँ!' आनन्द ने हाथ उठाकर नमस्कार किया। उन मानव-देहधारी देवता को हाथ उठाकर नमस्कार करते देख चक्रवर्ती जी विगलित हो गए। आस-पास और भी बहुत से भक्त थे, वे भी खड़े हो गए। मैं और चाहे जो होऊँ, कोई मामूली आदमी नहीं हूँ, इस सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं रहा।

आनन्द ने कहा—'आप बड़े दुबले दीख रहे हैं भैया?'

जवाब चक्रवर्तीजी ने दिया। मुझे दो दिन से खाना-सोना नसीब नहीं हुआ और पुण्य के जोर से ही जिन्दा हूँ—यह बताकर उन्होंने कुलियों से हैजा फैलने का ब्यौरा इस ढंग से दिया कि मैं भी दंग रह गया।

आनन्द ने खास कोई बेचैनी नहीं जाहिर की। जरा हँसकर औरों का ध्यान

बचाकर बोले—'सिर्फ दो दिन मे यह हाल नही हो सकता भैया, इसके लिए ज्यादा दिन चाहिए। क्या हुआ था ? बुखार ?'

मैंने कहा—'ताज्जुब क्या है ? मलेरिया तो है ही।'

चक्रवर्ती जी ने मेहमानवाजी में कोर-कसर न की। आज का खाना अच्छा ही रहा।

खा-पीकर चलने लगा तो आनन्द ने पूछा—'आप एकाएक इन कुलियो के बीच कैसे जा पहुँचे ?'

कहा—'दैव के कुचक्र से।'

आनन्द ने हँसकर कहा—'कुचक्र ही है। गुस्से के मारे घर खबर भी नही भेजी शायद !'

कहा—'नही, मगर गुस्से से नही। खबर भेजना बेकार है, इसीलिए नही भेजी। और फिर, आदमी ही कहाँ मिलता खबर भेजने को ?'

आनन्द ने कहा—'यह एक बात है, लेकिन आपका भला बुरा दीदी के लिए कब से फिजूल हो गया ? वे तो डर और चिन्ता से अधमरी हो गई होंगी।'

बात बढाने से क्या लाभ—इसका जवाब नही दिया। आनन्द ने सोचा, जिरह मे उन्होंने मेरी बोलती बन्द कर दी। सो मधुर हँसकर कुछ देर आत्म-गौरव का आनन्द लेकर बोले—'आपका रथ तैयार है, शाम से पहले ही घर पहुँच जाएँ शायद। चलिए, आपको बिठा आऊँ।'

मैंने कहा—'लेकिन घर जाने से पहले उन कुलियो की जरा खोज-खबर ले लेनी होगी।

आनन्द ने आश्चर्य दिखाते हुए कहा—'यानी गुस्सा अभी गया नही। मगर मैं कहूँ, दैव के कुचक्र का जो फल था, वह तो फल चुका था। आप डाक्टर नही हैं, साधु बाबा भी नही—गृहस्थ हैं। अभी भी खोज-खबर लेने की बात है, तो वह भार मुझे देकर आप निश्चिन्त घर जाएँ—लेकिन जाकर उन्हें मेरा नमस्कार देकर कहेंगे, उनका आनन्द मजे मे है।'

बाहर बैलगाड़ी खडी थी। मकान मालिक चक्रवर्तीजी ने विनय के साथ आग्रह किया, फिर कभी इधर आना हो, तो यहाँ चरणो की धूल जरूर डालें। उनके हार्दिक आतिथ्य के लिए हजार धन्यवाद दिया, लेकिन दुर्लभ चरण धूल की उम्मीद न दे सका। जल्द ही मुझे बगाल छोडकर जाना पड़ेगा, यह मन मे

अनुभव कर रहा था, अत: कभी भी, किसी कारण से इस इलाके में लौटने की सम्भावना ही नहीं।

मैं गाड़ी में बैठ गया तो टप्पर के अन्दर सिर डालकर आनन्द ने धीरे-धीरे कहा—'इधर की आबहवा आपको मालूम नहीं पड़ती। आप मेरी ओर से दीदी न कह, आप चूंकि पश्चिम के हैं दीदी आपको उधर ही ले जाएं।'

मैंने कहा—'इस प्रदेश में क्या लोग जीते नहीं हैं आनन्द ?'

जवाब में जरा भी आगा-पीछा न करके आनन्द ने कहा—'नहीं, लेकिन इस पर तर्क करके क्या होगा, आप केवल मेरी यह विनती उनसे कह दें। कहिए। आनन्द सन्यासी की ही आंखों से देखे बिना इसकी सच्चाई नहीं मालूम होगी।'

मैं चुप रहा। क्योंकि राजलक्ष्मी को यह अनुरोध बताना मेरे लिए कितना कठिन है, यह आनन्द को क्या पता ?

गाड़ी चल पड़ी तो वे फिर बोले—'मगर आपने तो मुझे आने का निमन्त्रण नहीं दिया ?'

जबानी कहा—'भैया तुम्हें काम कितना है। तुम्हें न्योता देना क्या आसान है।' लेकिन मन में आशंका थी कि इस बीच वे आप ही न जा धमकें कहीं। अन्यथा इस तीक्ष्ण बुद्धि वाले सन्यासी की निगाहों से कुछ भी छिपाने का उपाय न रहेगा। यद्यपि इससे अपना कुछ भी आना-जाता नहीं। मन-ही-मन हँसकर कहता आनन्द, मान लेता हूं, इस जीवन में बहुत कुछ की तिलांजलि दे चुका हूँ—तुमने सिर्फ मेरे नुकसान का यह सहज हिसाब ही देखा, लेकिन तुम्हारे देखने से परे मेरे सचय की संख्या संख्यातीत हो रही ! मृत्यु-पार का वह पुन्य अगर मेरा जमा रहे तो इधर किसी भी क्षति को मैं नहीं गिनूंगा। परन्तु आज ? कहने की बात ही क्या थी ? इसलिए नजर झुकाकर चुप रह गया। पलक मारते ही जी में आया, ऐश्वर्य का वह असीम गौरव आज सब ही यदि परोक्षिका में खो गया हो, तो इस भार बने, बीमार, अनचाहे मालिक की किस्मत में मेहमान को बुलाने जैसी विडम्बना न घटे।

मुझे मौन देखकर आनन्द ने हंसते हुए कहा—'खैर नए सिरे से न कहें चाहे, माफिक न्योते की पूंजी मेरी है, मैं उसी अधिकार से आ सकता हूँ।'

मैंने पूछा—'लेकिन कब तक ?'

आनन्द ने हँसकर कहा—'आप घबराएँ मत, जब तक आप दोनों को झटपट

खटपट खत्म नहीं हो जाती, तब तक नहीं, उसके बाद ही।'

मैं चुप रह गया। यह कहने की इच्छा नहीं हुई कि मैं नाराज होकर नहीं आया हूँ।

रास्ता लम्बा था, सो गाडीवान जल्दी चाह रहा था। गाडी चल पडी। फिर से मुझे नमस्कार करके उन्होंने गाडी मे से गर्दन निकाल ली।

इस इलाके मे गाडियो का रिवाज नही—इसे देखते हुए इधर की राहघाट भी नही बनवाई गई। ऊँचे-नीचे, खाई-खन्दक को पार करती हुई बैलगाडी बैहार से चल पडी। अन्दर अधलेटे पडे मेरे कानो मे आनन्द की बातो का सुर गूँजने लगा। मैं नाराज होकर नहीं आया, यह चीज न तो लाभ की है, न लोभ की—लेकिन बार-बार मन मे यही होने लगा, काश यही सत्य होता, लेकिन सत्य न था, सत्य होने की गुजाइश न थी। मन-ही-मन सोचने लगा, नाराज होऊँ किस पर? क्यो? उसका कसूर क्या है? झरने की धारा पर ही विवाद किया जा सकता है, लेकिन उसके उत्स का ही पानी सूख गया तो दोनो किनारो के बीच के सूखे गड्ढे के खिलाफ सिर धुनकर किस छलना से मरूँ?

इस तरह कितना समय बीत गया, याद नहीं। एकाएक गड्ढे मे गाडी के पड जाने से झटका लगा और मैं उठ बैठा। सामने लटकते कैनवास के पर्दे को हटाकर देखा, साँझ होने को है। गाडीवान लडका-सा था। पन्द्रह से ज्यादा उम्र न होगी। मैंने कहा—'काफी जगह तो थी, गड्ढे मे कैसे उतर गया?'

वह बोला—'बैल आप ही उतर गए।'

'आप ही उतर गए? तू क्या बैलो को सँभाल नही सकता?'

'नही। बैल नये है।'

'बहुत खूब। इधर साँझ हो आई। गगामाटी अभी कितनी दूर है?'

'मुझे क्या पता? मैं क्या कभी गया हूँ गगामाटी?'

मैंने कहा, 'आया ही न था कभी तो आखिर मुझी पर इतना प्रसन्न कैसे हो गया! किसी से पूछ भी तो, कितनी दूर है?'

वह बोला—'कोई है भी इधर? कोई नही।'

लडके मे और बात चाहे जो हो, जवाब जितना सक्षेप मे देता उतना ही साफ। पूछा—'तुझे रास्ता मालूम है?'

वैसा ही साफ जवाब दिया—'नही।'

'फिर तू आया क्यों ?'

'मामा ने कहा, बाबूजी को ले जा। सीधे दक्खिन जाकर पूरब घूम जाना बस गंगामाटी। गया नहीं कि लौटा।'

सामने थी अंधेरी रात। ज्यादा देर भी न थी। अब तक तो मैं अपनी ही चिन्ता में मशगूल था। उसकी बात से अब डर लगने लगा। बोला—'दक्खिन के बदले उत्तर जाकर पश्चिम की ओर तो नहीं घूम गया तू ?'

वह बोला—'सो मैं क्या जानूं।'

मैंने कहा—'नहीं जानता है तो चल, हम दोनों यमदूत के घर चलें। अभागा कहीं का ! रास्ता नहीं मालूम था तो आया क्यों ? तेरा बाप है ?'

'नहीं।'

'मां है ?'

'मां मर गई है।'

'बला गई है। चल, आज रात अब हम लोग भी वहीं चलें। तेरे मामा में केवल बुद्धि-विवेक नहीं, बल्कि दया-माया भी नहीं है।'

और थोड़ी दूर चलकर वह रोने लगा। बताया, अब आगे नहीं जा सकेगा।

पूछा—'आखिर रहेगा कहां ?'

वह बोला—'लौट जाऊंगा।'

'मगर मैं क्या करूं इस असमय में ?'

कह ही चुका हूं, लड़का बड़ा स्पष्टवादी था। वह बोला—'तुम उतर जाओ बाबू। भाड़ा मामा ने पांच रुपये बताया है। कम देने से मुझे मारेगा।'

मैंने कहा, मेरे लिए तुम मार क्यों खाओ। एक बार जी में आया, गाड़ी से फिर वहीं लौट चलूं लेकिन क्यों वैसी प्रवृत्ति नहीं हुई। रात करीब। जगह अजानी—गांव-बस्ती कहां और कितनी दूर पर है, यह भी जानने का कोई उपाय नहीं—मगर सामने एक आम-कटहल के बगीचे को देखकर लगा कि गांव ज्यादा दूर नहीं होगा। कहीं-न-कहीं जगह मिल जायेगी। और नहीं मिली तो क्यों ? इस बार की यात्रा, न हो तो वैसे ही शुरू होगी।

उतरकर उसे किराया दे दिया। देखा, उसकी बात ही नहीं, काम भी उतना ही साफ है। तुरत उसने गाड़ी मोड़ दी—घर लौटने की धुन में वह देखते-ही-देखते ओझल हो गए।

बारह

साँझ बीत चली थी, मगर रात के अँधेरे को गहरा होने में अभी देर थी। इतनी ही देर में आश्रय ढूँढ ही लेना चाहिए। मेरे लिए यह कोई नया काम न था और कभी कठिन जानकर इसका डर भी नहीं हुआ; लेकिन आज जब आम के बगीचे वाले रास्ते की लकीर पकड़कर धीरे-धीरे बढ़ने लगा, तो जाने कैसी एक उद्विग्न लज्जा से मेरा हृदय भर आने लगा। भारत के दूसरे प्रदेशों से कभी परिचय था, लेकिन अभी-अभी जिसमें होकर चल रहा था, वह था राढ़ का इलाका। इसके बारे में कोई जानकारी न थी; लेकिन यह ध्यान न आया कि हर जगह के लिए पहले ऐसा ही अनभिज्ञ था, जानकारी तो इसी तरह एक-एक कर जोड़नी पड़ी है। किसी के दिए नहीं मिली।

दरअसल मैंने यह नहीं सोचा कि उस समय किसलिए सारे दरवाजे मेरे लिए खुले हुए थे और आज क्यों लगभग सभी संकोच और दुविधा से बन्द हैं। बात यों है, उस दिन के जाने में कृत्रिमता नहीं थी और आज जो कर रहा था, वह महज उसकी नकल थी। तब सभी अजाने और पराये लोग मेरे सबसे अपने थे, उन पर अपना सारा भार छोड़ देने में उस समय हिचक नहीं हुई—पर, आज वही भार किसी खास व्यक्ति पर केन्द्रित हो जाने से सारा भार-केन्द्र ही खिसक पड़ा है। इसीलिए अनचीन्हे-अजाने पथ पर चलते हुए मेरे पाँव आज बोझिल होते आ रहे थे। तब की और आज की सुख-दुःख की धारणा में कितना अन्तर है! खैर, फिर भी चलने लगा। इस जगल में रात बिताने लायक न तो साहस था, न शक्ति ही रह गई थी।

नसीब ने साथ दिया, ज्यादा दूर चलना नहीं पड़ा। घने पत्तों वाला कोई पेड़ खड़ा था। उसकी फाँक में से एक इमारत-सी दिखाई पड़ी। उतना ही कामना सै करके उसके सामने पहुँचा।

इमारत ही थी, लेकिन लगा, खाली पड़ी है। सामने लोहे का फाटक था, मगर टूटा हुआ। उसकी ज्यादातर छड़ें लोग खोल ले भागे थे। अन्दर गया। खुला बरामदा। बड़े-बड़े दो कमरे। एक तो बन्द था और जो खुला था, उसके सामने जाते ही एक कंकालसार आदमी सामने आ खड़ा हुआ। मैंने देखा, कमरे के चारों कोने में लोहे की चार खाटें पड़ी हैं—कभी उन पर गद्दे पड़े होंगे, आज नारियल

के छिलके ही बच रहे थे। एक तिपाई, टिन और इनामेल के कई बर्तन। हालत उनकी पूछिए मत। जो अन्दाज लगाया था, वही निकला। अस्पताल था वह। यह आदमी परदेसी है। कोई पन्द्रह दिन पहले नौकरी की तलाश में इधर आया और बीमार हो जाने से अस्पताल में दाखिल है। बातचीत यों शुरू हुई—

'बाबूजी, चारेक पैसे देंगे मुझे ?'

'क्यों, किसलिए ?'

'भूख से जान जा रही है। चना-चबेना कुछ खाऊँगा।'

मैंने पूछा—'तुम बीमार हो, खाना मना नहीं है ?'

'जी नहीं।'

'यहाँ तुम्हें खाने को नहीं मिलता ?'

वह बोला—'सुबह एक कटोरा साबूदाना मिला था। उसे तो मैं कब का साफ कर चुका। उसके बाद से बैठा रहा, कुछ भीख मिल जाए, तो खाना नसीब हो, नहीं तो फाका!'

पता चला, डाक्टर एक हैं कोई। नाम को जेब खर्च मिलता होगा, लिहाजा सुबह ही एक बार उनके दर्शन नसीब होते हैं। एक और आदमी है, जिसे कम्पाउण्डरी से लेकर लालटेन में तेल डालना—सब कुछ करना पड़ता है। पहले एक नौकर था, महीनों से तनखा नहीं मिलने से वह छोड़कर चला गया—तब से दूसरे किसी को न रखा गया।

मैंने पूछा—'झाड़ू-बुहारू कौन करता है ?'

उसने कहा—'अभी तक तो मैं ही करता हूँ। मेरे चले जाने के बाद जो दूसरा रोगी आएगा, वही करेगा।'

मैं बोला—'अच्छा इन्तजाम है। अस्पताल है किसका, बता सकते हो ?'

वह आदमी मुझे उस तरफ के बरामदे में ले गया। छत की कड़ी से एक लालटेन झूल रही थी। दिन रहते ही उसे जलाकर कम्पाउण्डर साहब घर चले गए थे। दीवार में संगमर्मर का एक फलक लगा—जिस पर सोने के पानी से सन्-तारीख वाली गिल लिपि खुदी थी। इपापूर्वक जिले के जिस अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने इसका उद्घाटन किया था, सबसे पहले उनका नाम-पता था, उसके बाद प्रशस्ति। किन्हीं एक राय बहादुर ने अपनी स्वर्गगता माता की याद में इस अस्पताल की प्रतिष्ठा की थी। माँ-बेटे का ही नहीं पिछले चार-पुश्तों का पूरा

ब्योरा था। उसे छोटी-सी कुल-स्मारिका ही कहें तो अत्युक्ति न होगी। सज्जन सरकार की रायबहादुरी के काबिल थे, इसमें कोई शक नहीं। क्योंकि रुपये की बर्बादी में कोई कमी न थी। ईंट, लकड़ी और विलायती बीम-बर्गे की कीमत चुकाकर जो कुछ बच रहा होगा, वह साहब कलाकार के हाथों वंश-गौरव लिखाने में ही चुक गया। डाक्टर और दवा-दारू के इन्तजाम के लिए या तो रुपया ही न रहा, फुर्सत भी न रही शायद।

पूछा—'रायबहादुर का घर कहाँ है?'

वह बोला—'ज्यादा दूर नहीं, पास ही है।'

'अभी जाऊँ, तो भेंट होगी?'

'जी नहीं, घर में ताला पड़ा है। वे लोग कलकत्ते रहते हैं।'

'कब आते हैं, मालूम है?'

वह बेचारा परदेसी था, ठीक-ठीक बता नहीं सका। हाँ, इतना कहा कि डाक्टर साहब से पता चला है, तीन साल पहले एक बार आए थे। जहाँ देखो, एक ही हालत।

इधर साँझ बीत रही थी। रायबहादुर के कामों की आलोचना से ज्यादा जरूरी काम पड़े थे। उसे मैंने कुछ पैसे दिए और एक बात की जानकारी हुई कि पास ही एक चक्रवर्ती बाबू का घर है। वे बड़े दयालु हैं। रातभर टिकने की जगह जरूर मिलेगी। वह आप ही मुझे ले चला। मोदी की दुकान तक तो उसे जाना ही था। ज़रा-सा चक्कर पड़ेगा, उससे क्या आता-जाता।

चलते-चलते यह भी जाना कि इस परिवार से उसने बहुत बार रात को भोजन जुटाकर चुपचाप खाया है।

दसेक मिनट में मकान के सामने पहुँचा। उसने आवाज दी, 'बाबू साहब हैं।'

कोई जवाब न मिला। सोचा था, किसी सम्पन्न की शरण में जा रहा [redacted], पर घर-द्वार की दशा देखकर हौसला पस्त हो गया। उधर से कोई जवाब नहीं और इधर मेरे पथ-प्रदर्शक का उद्यम हार मानने वाला नहीं। ऐसा न होता तो इस गाँव, इस अस्पताल में उसकी आत्मा कब की स्वर्गीय हो चुकी होती। वह पुकारता ही गया।

अचानक आवाज आई—'आज जा, आज नहीं। जा।'

वह इस जवाब से निराश न हुआ। बोला—'ज़रा निकलकर देखें तो सही

कि कौन आए हैं।'

निराश मगर मैं हो उठा, गोया चक्रवर्तीजी के गुरुदेव उनका घर पवित्र करने को पधारे हों।

नेपथ्य में आवाज नर्म हो उठी—कौन है रे भीम ? और इतने में मकान मालिक दरवाजे पर दिखाई पड़े। पहनावे का कपड़ा मैला और बड़ा छोटा। साँझ के अँधेरे में उनकी उम्र का अन्दाजा न लगा सका। लेकिन, उम्र ज्यादा न लगी। उन्होंने फिर पूछा—'कौन है ?'

उस आदमी का नाम भीम है, यह जान गया। भीम ने कहा—'ये सज्जन ब्राह्मण हैं। राह भूलकर अस्पताल में जा निकले। मैंने दिलासा दिया, घबराएँ नहीं, चलिए, आपको ब्राह्मण देवता के यहाँ छोड़ आता हूँ।'

भीम ने सचमुच ही बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहा था। चक्रवर्तीजी ने बड़े आदर से मुझे अपनाया। खुद से चटाई डालकर मुझे बिठाया और तम्बाकू पीता हूँ या नहीं, यह पूछकर स्वयं चिलम भरकर ले आए।

बोले—'सब-के-सब बीमार हैं, करूँ तो क्या !'

सुनकर मैं कुण्ठित हो गया। सोचा, एक चक्रवर्ती के यहाँ से दूसरे चक्रवर्ती के यहाँ आ पहुँचा। कौन कहे, आवभगत यहाँ कैसी होगी। खैर, हुक्का लेकर पीने जा रहा था कि एकाएक ओट से तीखे स्वर का प्रश्न सुनाई पड़ा—'हाँ जी, कौन आया ?'

अनुमान किया, चक्रवर्ती की पत्नी होगी। न सिर्फ जवाब देने में चक्रवर्ती का गला काँपा, बल्कि मेरी भी छाती धड़क उठी।

वे झट बोल उठे—'अजी, बहुत बड़े आदमी, बहुत बड़े। अतिथि ब्राह्मण, नारायण हैं। राह भटककर आ पहुँचे हैं। सिर्फ रात को रहेंगे, सुबह होते ही चले जाएँगे।'

अन्दर से जवाब आया, 'हाँ-हाँ, सभी राह भूलकर आते हैं ! मुँहजले अतिथियों की कमी नहीं। घर में सो न मुट्ठीभर चावल है, न दाल के दो दाने। खाने को क्या दोगे, चूल्हे की राख ?'

मेरे हाथ का हुक्का हाथ में ही रह गया। चक्रवर्ती बोले—'आह, यह क्या रही हो ! अपने यहाँ भी अन्न की कमी है ? चलो चलो—मैं सब ठीक किए देता हूँ।'

मगर देवीजी अन्दर जाने के लिए थोड़े ही बाहर आई थीं। बोलीं—'ठीक क्या कर दोगे तुम, सुनूँ भला ! जरा-सा तो चावल पड़ा है, बच्चों के लिए उबाल दूँगी। बच्चों को भूखे रखकर इसे खिला दूँगी—ऐसा सोचो भी मत।'

माँ धरती, फट जाओ। मैं ना-ना करके कुछ कहने जा रहा था, पर चक्रवर्ती के गुस्से से वह दब गया। वे तुमसे तू पर आ गए और अतिथि-सत्कार पर पति-पत्नी में जो बातें होने लगीं, उनकी मात्रा जैसी थी, गहराई भी वैसी ही। रुपये लेकर मैं आया नहीं था और पास में जो थोड़ा-सा था, वह भी खर्च हो चुका था। गले में सिर्फ सोने के बटन थे। मगर कौन किसकी सुने। घबराकर मैं खड़ा हो गया। चक्रवर्ती ने जोर से मेरा हाथ पकड़कर कहा—'अतिथि नारायण हैं। लौट जाएँगे तो मैं फाँसी लगा लूँगा।'

पत्नी इससे बिल्कुल नहीं डरीं। इस चुनौती को फौरन कबूल करके कहा—'फिर तो जी ही जाऊँ मैं। माँग माँग कर बच्चों को पालूँ।'

मेरा तो हिताहित ज्ञान ही मिट रहा था। कहा—'चक्रवर्ती बाबू, सोच-विचार कर फिर कभी कीजिएगा यह—कहना ही ठीक है—। मगर अभी या तो मुझे छोड़ दें या हाथभर रस्सी दें जिसे गले में लगाकर आपके आतिथ्य के दाय से छुटकारा पाऊँ।'

चक्रवर्ती ने अन्दर की ओर देखते हुए आवाज दी—'अक्ल आई ? मैं पूछता हूँ, कुछ सीखा ?'

जवाब मिला—'हाँ'। और कुछ ही क्षण बाद अन्दर से सिर्फ एक हाथ बाहर निकला जिसमें पीतल की एक बटलोई थी। हुक्म हुआ, जाओ, श्रीमन्त की दुकान से चावल, दाल, नमक तेल ले आओ। देखना, हाथ में आई रकम देखकर वह मूआ सब काट न ले कहीं।

चक्रवर्ती खुश हो पड़े। कहा—'हूँ, यह कोई बच्चे के हाथ का लड्डू है।' उन्होंने हुक्का उठाया। दो-एक दम लगाकर बोले—'चिलम ठण्डी हो गई ! सुनती हो, जरा ताजी कर दो न। पीकर ही जाऊँ। भागकर गया और आया।'—चिलम को उन्होंने अन्दर की ओर बढ़ा दिया।

पति-पत्नी में सुलह हो गई। पत्नी ने चिलम ताजी कर दी, पति ने जी खोलकर धुआँ उड़ाया। खुशी-खुशी हुक्का मुझे थमाते हुए बटलोई हाथ में लेकर निकल पड़े।

चावल, दाल, नमक, तेल—सब आ गया। समय पर रसोई में मेरी बुलाहट हुई। भोजन की नाम को भी इच्छा नहीं रह गई थी, फिर भी चुपचाप गया। क्योंकि ऐतराज करना बेकार ही न लगा, ना कहने में डर लगने लगा। जीवन में बहुत बार बहुतेरी जगहों में मुझे बेबुलाए मेहमान बनना पड़ा है, हर जगह आव-भगत ही हुई है, यह कहूँ तो झूठ कहना होगा, मगर ऐसा सत्कार कभी नसीब नहीं हुआ। लेकिन सबक अभी बाकी ही था। जाकर देखा, चूल्हा दहक रहा है। भोजन के बदले केले के पत्ते पर चावल, दाल, नमक, आलू रखा है, पीतल की एक बटलोई पड़ी है।

चक्रवर्ती ने हौसले से कहा—'रख दीजिए चूल्हे पर हाँडी, बात कहते रसोई तैयार हो जाएगी। बड़ी मसूर की दाल, आलू का भुरता, मजा आ जाएगा। घी है। गरम-गरम खिचड़ी…'

उनके मुँह में लार आ गई। लेकिन मेरे लिए मामला टेढ़ा हो उठा। लेकिन मेरे कारण फिर उन दोनों में ठन न जाए, इस डर से चूल्हे पर डेगची चढ़ा दी। उनकी पत्नी आड़ में थी। उनकी निगाहों में मेरी अपटुता छिपी न रही। सो उन्होंने अबकी मुझे ही सम्बोधन करके कहा। उनमें और जो दोष चाहे हों, सकोच या झिझक नाम के जो शब्द कोष में मिलते हैं, वह उनमें न — यह बात उनके बड़े-से-बड़े निन्दक भी न मानेंगे। बोली—'भई, तुम भी रसोई का कुछ भी नहीं जानते।'

मैं तुरन्त मान गया। बोला—'जी नहीं।'

वह बोली—'चक्रवर्तीजी तो कह रहे थे, परदेसी हैं। कौन तो जानेगा और कौन क्या कहेगा। लेकिन मैंने कहा, नहीं, यह नहीं हो सकता। एक दिन एक मुट्ठी भात देकर मैं उसकी जान नहीं ले सकती। असल में हम कट्टर ब्राह्मण हैं।'

मुझे कोई एतराज नहीं, या मैंने इससे भी बड़ा पाप किया है—यह कहने का भी साहस न हुआ—कहीं उससे भी मुसीबत न खड़ी हो जाए। जी में बस एक ही बात थी, कैसे रात बीते और इस घर के शिकंजे से छुटकारा मिले। खिचड़ी भी पकाई और घी डालकर खाया भी। इस कठिन काम को मैंने कैसे किया, आज भी मुझे पता नहीं। बारम्बार यही मालूम पड़ने लगा कि चावल-दाल का यह पिंड पेट में पत्थर बन जाने लगा।

अध्यवसाय से बहुत कुछ होता है, लेकिन उसकी भी एक सीमा है। हाथ-मुँह धोने का भी मौका न मिला, सब कै हो गया। मारे डर के सूख गया क्योंकि बखूबी समझ गया कि इसकी धुलाई-सफाई मुझी को करनी पड़ेगी। मगर उतनी ताकत ही न थी। आँखों से धुँधला दीखने लगा। फिर किसी प्रकार से इतना कहा—'मुझे कहीं ज़रा देर लेटने की जगह दें, पाँचेक मिनट बाद मैं सब धो-धका दूँगा।' जवाब में जाने क्या सुनना पड़े यही सोचा था। लेकिन चक्रवर्ती की स्त्री की आवाज अचानक अजीब ढंग से नर्म हो आई। अँधेरे में से निकलकर वह मेरे सामने आई। बोली—'तुम क्यों धोओगे, मैं सफाई किए देती हूँ। बाहर बिस्तर अभी लगाया नहीं है, चलो, तब तक मेरे कमरे में लेट रहो।'

ना करने की सामर्थ्य ही न थी। उनके पीछे हो लिया और उन्हीं के फटे-चिथड़े बिछावन पर आँख बन्द करके लेट गया।

काफी दिन निकले जब नींद खुली तो मुझमें सिर उठाने की शक्ति न थी, इतना तेज बुखार था। मेरी आँखों से सहज ही आँसू नहीं निकलते, लेकिन इतने बड़े अपराध का मैं करूँगा क्या, यह सोचकर केवल डर से ही मेरी आँखों में आँसू आ गए। ख्याल आया बहुत बार बहुतेरी निरुद्देश्य यात्राओं पर निकला हूँ मैं, पर इतनी बड़ी विडम्बना ईश्वर ने कभी मेरे भाग्य में नहीं लिखी। फिर एक बार जी-जान से उठ-बैठने की कोशिश की—मगर सिर न उठा पाने के कारण आँखें बन्द किए पड़ा रहा।

आज चक्रवर्ती-पत्नी से आमने-सामने बातें हुईं। शायद बड़े दुःख में ही नारी का सच्चा और गहरा परिचय पाया जा सकता है। उन्हें पहचानने की ऐसी कसौटी भी दूसरी नहीं और इन्हें जीतने का इतना बड़ा दूसरा हथियार भी पुरुषों के पास नहीं। वह मेरे बिस्तर के पास बैठी। पूछा—'नींद खुली?'

मैंने आँखें खोलकर देखा। उम्र उनकी चालीस के करीब या ज्यादा भी हो सकती है। रंग काला, लेकिन शक्ल साधारण भद्र गृहस्थ घर की स्त्रियों जैसी, रुखाई का लेश नहीं, सारे बदन में सिर्फ गरीबी और अनशन का चिन्ह अंकित। नजर पड़ते ही दिखाई पड़ जाता। बोली, कल अँधेरे में देख नहीं पाई थी बेटे, परन्तु मेरा बड़ा लड़का जिन्दा होता, तो तुम्हारी ही उम्र का होता।

जवाब क्या था इसका? उन्होंने मेरा कपाल छुआ। बोलीं—'बुखार अभी भी तेज है।'

मैं आँखें बन्द किए था। आँखें बन्द किए ही रहा। बोला—'कोई जरा मदद कर देता तो अस्पताल पहुँच जाता। ज्यादा दूर तो नहीं है।'

उनकी शकल तो नहीं देख पाया, लेकिन मेरी बात से उनका स्वर मानो व्यथा से भर गया। बोली—'तकलीफ के मारे कल कुछ कह गई मैं, तो क्या उसी से नाराज होकर तुम उस यमपुरी में चले जाओगे? और तुम्हारे कहते ही मैं वहाँ जाने दूंगी?' वह जरा देर चुप रही और फिर धीरे-धीरे कहा—'आतुर के लिए नियम नहीं बेटे। लोग-बाग जो अस्पताल में जाकर रहते हैं, उन्हें किनका छुआ खाना पड़ता है, कहो तो? लेकिन उससे जात जाती है? मैं साबू-बार्ली बना दूंगी तो क्या तुम नहीं खाओगे?'

मैंने गर्दन हिलाकर बताया, मुझे जरा भी आपत्ति नहीं। केवल इसलिए ही नहीं कि मैं पीड़ित हूँ—निरोग रहने पर भी मुझे इसमें रोक नहीं।

अतएव रह गया। बारेक दिन रहा शायद। लेकिन उन्हीं चार दिनों की याद भुलाने की नहीं। बुखार तो एक ही दिन में उतर गया, पर कमजोरी के कारण बाकी कितने दिन उन्होंने वहाँ से हिलने ही नहीं दिया। किस हद की गरीबी में उन बेचारों के दिन बीत रहे थे और उनकी दुर्गत को हजार गुना कष्ट बना रखा था बिना दोष के समाज के निरर्थक पीड़न ने। अपनी [illegible] अस्वस्थता के बावजूद समय मिलते ही वह मेरे पास आकर बैठती। माथे पर, कपाल पर हाथ फेरती, पथ्यादि का वैसा प्रबन्ध नहीं कर पाती, मगर इस कमी को जतन से भरने की कैसी एकान्त चेष्टा! पहले उनकी हालत अच्छी थी, जगह-जमीन भी थी, परन्तु उनके निर्बोध पति को ठग-ठगाकर ही लोगों ने इस दुख में डाल दिया। लोग आकर कर्ज माँगते। कहते इलाके में धनी तो बहुतेरे हैं मगर इतना बड़ा कलेजा किस है? सो कलेजे के प्रमाण में वे कर्ज लेकर भी कर्ज देते। पहले हैंडनोट लिख-लिखकर और फिर पत्नी [illegible] छिपाकर जायदाद गिरवी रखकर। इसका नतीजा सब जगह जो होता है, वही यहाँ भी हुआ।

एक ही रात में मुझे पता चल गया था कि चक्रवर्तीजी के लिए यह दुष्कार्य असम्भव नहीं है। बुद्धि के दोष से जायदाद बहुतों की जाती है, उसका नतीजा भी बड़ा दुखद है, पर समाज की निरर्थकता तथा निष्ठुरता से वह दुख कितना बढ़ सकता है, इसे मैं चक्रवर्ती की स्त्री की एक-एक बात से समझ रहा था। दो ही कमरे थे, उनके सोने के। एक में बाल-बच्चे और सम्पूर्णतया अनजान होते हुए भी दूसरे

पर मैं कब्जा जमाए था। मेरी झिझक की हद नही थी। मैंने कहा—'आज तो मेरा बुखार उतर गया है और आप लोगो को भी बहुत तकलीफ हो रही है, बाहर वाले कमरे मे ही मेरा बिस्तर कर दें तो मुझे बडी तृप्ति हो।'

चक्रवर्ती गृहिणी बोली—ऐसा भी हो सकता है भला ? बादल घिरे हैं। बारिश हो तो उस कमरे मे सिर बचाने तक की गुंजाइश नही। तुम बीमार हो। मैं तो भरोसा नही कर सकती।'

आँगन मे एक तरफ को कुछ पुआल पडा है, यह मैंने देख रक्खा था। उसी का इशारा करके कहा—'समय से मरम्मत क्यो नही करा लिया। झडी-पानी का तो दिन ही आ गया।'

जवाब से जाना कि यह आसानी से होने वाला नही। पतित ब्राह्मण हैं, इसलिए इधर के लोग उनका छौनी-छप्पर नही करते। दूसरी बस्ती मे मुसलमान मजूर हैं, वही घर छौनी करते हैं। कारण चाहे जो हो, इस साल वे आ नहीं सके। इस प्रसग मे वह रोकर कहने लगी—'बेटे, हमारे दु खो की क्या सीमा है ? उस साल मेरी सात-आठ साल की लडकी हैजे से चल बसी, पूजा के दिन थे। मेरे भाई काशी गए हुए थे। लाचार छोटे बच्चे के साथ अकेले इन्हीं को लाश लेकर जाना पडा। गए तो गए, दाह-कार्य थोडे ही कर सके। किसी ने लकडी नही काटी। गड्ढा खोदकर बच्ची को दफना आए।' कहते-कहते उनका सोया शोक जाग पडा। आँखें पोछते हुए जो कहने लगी, उसका सारांश यह कि जाने कब उनके किस पुरखे ने श्राद्ध का दान लिया था, इतना ही तो कसूर ? यद्यपि श्राद्ध हिन्दुओ का जरूरी कर्त्तव्य है और कोई-न-कोई दान न ले तो वह सफल भी नही हो सकता, फिर दान लेने मे गलती क्या हुई ? और अगर यह कसूर ही है तो मनुष्य को लोभ दिखाकर उस काम मे लगाना क्या है ?

इन सवालो का जवाब देना जैसा मुश्किल है, वैसा ही दुष्कर। इतने दिनो के बाद यह आविष्कार करना है कि पुरुषो के कुकर्म की सजा इस तरह से उनका खानदान भोग रहा है, श्राद्ध का दान लेना अच्छा है या बुरा, नहीं जानता। बुरा होने पर भी यह बात सही है कि व्यक्तिगत रूप से इस काम को वे नही करते, लिहाजा ये बेकसूर हैं। फिर भी पडोसी होकर पडोसी की जिन्दगी को बिना कसूर इतना दुर्गम और दुखमय कर सकता है, ऐसी हृदयहीन बर्बरता का उदाहरण हिन्दू-समाज के सिवा ससार मे शायद और कही नहीं।

वह फिर बोली—'बस्ती में लोग भी ज्यादा नहीं हैं। बुखार और हैजे में सब उजड़ गए। कुछ ब्राह्मण, कायस्थ और राजपूत ही रह गए हैं। कोई उपाय जो नहीं है बेटे, वरना इच्छा होती है कि किसी मुसलमानों की बस्ती में जा बसें।'

मैंने कहा—'लेकिन वहाँ जात जा सकती है।'

उन्होंने ठीक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बोली—'रिश्ते में मेरे एक चाचा-ससुर हैं। दुमका में नौकरी करते हैं। वे ईसाई हो गए। उन्हें तो कोई भी कष्ट नहीं है।'

मैं चुप रह गया। हिन्दू धर्म छोड़कर कोई दूसरा धर्म ग्रहण करने को उत्सुक है, यह सुनकर तकलीफ होती है—मगर दिलासा भी कैसे दूँ? अब तक तो यही जानता था कि अछूत और नीच जाति के जो हैं, सिर्फ वही समाज की यातना सहते हैं। आज जाना, इससे किसी को छुटकारा नहीं। निरर्थक अविचार से एक-दूसरे के जीवन को दूभर कर देना ही मानो इस समाज का मज्जागत संस्कार हो। बाद में मैंने बहुतों से पूछा है, बहुतों ने स्वीकार भी किया है कि यह जुल्म है, अन्याय है, लेकिन इसके निराकरण का कोई उपाय वे नहीं बता सके। इसी अन्याय में वे जन्म से मृत्यु तक जीते रहने को राजी हैं। प्रतिकार की न तो प्रवृत्ति है, न साहस। जान-बूझकर भी अन्याय के प्रतिकार की भी शक्ति जिनकी जाती रही है, वह जाति ज्यादा दिनों तक जिएगी कैसे, यह सोचना मुश्किल है।

तीनेक दिन बाद चंगा होकर मैं एक दिन जाने को तैयार हुआ। बोला, 'आज मुझे जाने की इजाजत दीजिए।'

चक्रवर्ती-पत्नी की आँखें छलछला आईं। बोली—'दुखिया के घर बहुत दुःख उठाया बेटे। तुम्हें भला-बुरा भी कम नहीं कहा मैंने।'

इसका जवाब मुझे ढूँढ़े नहीं मिला—ना-ना, वैसा कुछ नहीं, मैं बड़े आराम से रहा, मेरी कृतज्ञता—आदि शिष्टाचार की ये मामूली बात कहने में भी शर्म लगने लगी। वज्रानन्द की बात याद आई। उसने एक दिन कहा था, घर छोड़कर आया तो क्या, बंगाल के घर-घर माँ-बहनें हैं। उनके स्नेह के आकर्षण को टाल जाए, ऐसी मजाल किसकी! बात कितनी सही है।

बेहद गरीबी और सीधे पति की बेवकूफी ने इस घर की गृहिणी को पागल बना दिया है लेकिन अभी उन्होंने यह महसूस किया कि मैं दुखी हूँ, लाचार हूँ—बस, सोचने को कुछ नहीं रहा। मातृत्व के असीम स्नेह से मेरे रोग, पराये घर में

होने के सारे कष्ट को मानो उन्होंने दोनों हाथों से पोंछ दिया।

खोज-ढूंढकर चक्रवर्तीजी एक बैलगाड़ी ले आए। उनकी पत्नी की बड़ी इच्छा थी कि मैं नहा-खाकर जाऊँ, लेकिन उन्होंने धूप बढ़ जाने की सोच ज्यादा जिद नहीं की। जाते समय देवी-देवताओं का नाम लेकर आँसू पोंछते हुए कहा—'फिर कभी अगर इधर आना हो, तो एक बार भेंट कर लेना।'

इधर फिर कभी आना भी न हुआ, भेंट भी नहीं कर पाया, सिर्फ बहुत दिनों के बाद इतना ही सुना था कि कुशारी जी की मारफत राजलक्ष्मी ने उनके ऋणों का बहुत अंश चुकाया था।

तेरह

गंगामाटी के डेरे पर जब पहुँचा, तीसरा पहर हो चुका था। द्वार के दोनों तरफ केले के पेड़ गड़े थे, मंगलघट स्थापित थे। ऊपर आम के पत्तों का बंदनवार, बाहर बहुत-से लोग बैठकर तम्बाकू पी रहे थे। बैलगाड़ी की आवाज पाकर सबने इधर देखा। शायद उसी आवाज से लपककर जो एक सज्जन बाहर आए, देखा वे वज्रानन्द थे। उनकी खुशी मुखर हो उठी। कोई दौड़कर अन्दर खबर करने भी गया। स्वामीजी ने बताया, मैंने आकर जब से सारा ब्यौरा बताया है, तब से चारों तरफ लोग भेजकर खोज-तलाश का भी अन्त नहीं और फिक्र की भी इन्तहा नहीं। माजरा क्या है? एकाएक गुम कहाँ हो गए? उस गाड़ीवान लड़के ने तो लौटकर मुझे बताया कि वह आपको गंगामाटी के रास्ते उतार गया।

राजलक्ष्मी काम में मशगूल थी। आई। पैर के पास झुककर प्रणाम किया। बोली—'उफ् सारे घर को कितना परेशान किया, कैसी सजा दी!' वज्रानन्द से बोली—'देखो आनन्द, मेरा जी लेकिन कह रहा था कि आज ये आएँगे।'

हँसकर मैंने कहा, 'द्वार पर केले का पेड़ और मंगलघट देखकर ही मैंने समझा कि मेरे आने की खबर तुम्हें मिल गई।'

रतन किवाड़ की ओट में खड़ा था। झट बोल उठा—'जी इसलिए नहीं। आज ब्राह्मण-भोजन है न? वक्रनाथ के दर्शन करके माँ जी—'

डाँटकर राजलक्ष्मी ने उसे चुप कराया—'तुझे टीका नहीं करनी है, तू अपना

काम कर। जा।'

उसके विकृत चेहरे को देखकर वज्रानन्द हँस पड़ा। 'बात यों है भैया, किसी काम में जुटे न रहो तो मानसिक उत्कण्ठा बेहद बढ़ जाती है। सही नहीं जाती। भोज का आयोजन बस इसीलिए है। है न दीदी ?'

राजलक्ष्मी ने जवाब नहीं दिया। नाराज होकर बाहर चली गई। वज्रानन्द ने कहा—'दुबले लग रहे हैं। बात क्या हुई ? घर न आकर कहाँ दुबक गए ?'

दुबक जाने का कारण विस्तार से बताया। वज्रानन्द ने कहा—'भविष्य में फिर कभी ऐसे न भाग जाना। उनके दिन किस कष्ट में कटे, यह आँखों देखे बिना विश्वास नहीं हो सकता।'

मुझे मालूम था, अतः आँखों देखे बिना ही मान गया। रतन चाय और तम्बाकू दे गया। आनन्द ने कहा—'मैं भी बाहर चलूँ। इस समय आपके पास बैठा रहूँ तो एक अभी जन्म भर शायद मेरा मुँह नहीं देखेंगी।'—हँसकर वह चला गया।

जरा देर में राजलक्ष्मी ने आकर कहा—'उस कमरे में गरम पानी, कपड़े—सब कुछ रख आई हूँ। बदन पोंछ लो। सिर धोकर कपड़े बदल डालो। खबरदार, नहाना मत।'

मैंने कहा—'स्वामीजी ने तुम्हें गलत बताया, बुखार मुझे नहीं है। राजलक्ष्मी ने कहा—'न सही, लेकिन होते कितनी देर लगती है ?'

मैंने कहा—'यह तो ठीक नहीं बता सकता, पर गर्मी से बदन मेरा जल रहा है। नहाना जरूरी है।'

राजलक्ष्मी बोली—'जरूरी है, क्यों ? फिर तो अकेले तुमसे बनेगा नहीं। चलो, मैं भी साथ चलती हूँ।' कहकर वह खुद हँस पड़ी—'जिद करके क्यों नाहक मुझे भी कष्ट दोगे, आप भी उठाओगे ? असमय मत नहाओ।'

इस तरह की बातें करने में राजलक्ष्मी का जोड़ नहीं। अपनी इच्छा को जबरन दूसरे के कन्धे लाद देने की कटुता को स्नेह की मधुरता में वह इस तरह भर देती कि उस जिद के खिलाफ किसी का कोई संकल्प सिर ही नहीं उठा सकता। मामूली-सी बात थी, बिना नहाए भी मेरा काम चल जाएगा, लेकिन नहीं चल सकता, ऐसे भी बहुत मामलों में मैंने देखा है कि उसकी इच्छा-शक्ति को ठुकराने की शक्ति न केवल मुझमें नहीं है, किसी में कभी नहीं देखी। मुझे उठाकर

वह भोजन लाने गई। मैंने कहा—'यह ब्राह्मण-भोजन हो ही ले न पहले!'

राजलक्ष्मी अचरज से बोली—'माफ करो बाबा, उसके होते-होते तो साँझ हो जाएगी।'

'साँझ ही हो जाए तो क्या?'

वह हँसकर बोली—'जी। ब्राह्मण-भोजन मेरे सिर-आँखो रहे, उसके लिए तुम्हें उपवास कराने से मेरे स्वर्ग की सीढी ऊपर के बदले पाताल की ओर खिसक आएगी।'—यह कहकर वह भोजन लाने गई।

ज़रा ही देर मे पास बैठकर वह मुझे जो खिलाने आई, वह रोगी का पथ्य था। भोजनघर मे जो चीजें बनी थी उनसे उसका कोई वास्ता नही। समझ गया, मेरे आने के बाद इसे उसने अपने हाथों तैयार किया। फिर भी आने के बाद से ही उसके आचरण, उसकी बातो मे ऐसा कुछ अनुभव कर रहा था, जो न केवल अपरिचित-सा था, बड़ा नया था। खिलाते वक्त यही स्पष्ट हो आया गोकि किस बात मे, कैसे स्पष्ट हो आया, कोई पूछे तो साफ-साफ मैं बता नही सकता। इसके जवाब मे शायद मैं यही कहता कि मनुष्य की अत्यन्त गहरी पीड़ा की अनुभूति को प्रकाशित करने की भाषा का आविष्कार आज भी नही हुआ। राजलक्ष्मी मुझे खिलाने बैठी। लेकिन खाने के बारे मे उसकी वह पहले जैसी जबर्दस्ती न थी, था व्याकुल अनुनय। जोर नही, भीख। यह बाहर की आँखो से पकड मे नही आता, पकड मे आता है केवल मनुष्य के निर्जन मन की अपलक आँखो से।

मेरा खाना खत्म हुआ। राजलक्ष्मी ने पूछा—'अब मैं जाऊँ?'

बाहर मेहमानो की भीड थी। मैंने कहा—'जाओ।'

मेरे झूठे बर्तनो को लिए जब वह धीरे-धीरे कमरे से चली गई, तो मैं अन-मना सा बडी देर तक उस तरफ देखता रहा। जी मे हुआ, राजलक्ष्मी को मैं जैसा छोड गया था, इन कई दिनो मे उसे वैसा तो नही पाया। आनन्द ने बताया था, दीदी का कल से ही उपवास-सा चल रहा है, आज पानी तक नही छुआ है और यह भी ठीक नही कि कल किस समय तक उनका उपवास टूटेगा। असम्भव न था। मैं सदा से देखता आया हूँ कि उसका धर्मपिपासु मन कठिन-से-कठिन साधना से भी नही भागता। यहाँ आने के बाद से सुनन्दा के सम्पर्क मे आकर उसकी वह अविचलित निष्ठा और बढ़ती जा रही थी। आज उसे थोडी ही देर

देखने का मौका मिला, लेकिन जिस कठिन अजाने रहस्यमय पथ पर वह अपरु कदम बढ़ाए तेजी से बढ़ रही है, लगा, उसके निन्दित जीवन की जमी कालिमा जितनी बड़ी क्यों न हो, उसे छू नहीं सकती। मगर मैं ? मैं उसकी राह में ऊँचे शिखर-सा खड़ा हो सब कुछ रोके हुए हूँ !

काम-काज चुकाकर राजलक्ष्मी जब पाँव दबाए कमरे में आई, तो रात के दस बज रहे थे। उसने बत्ती धीमी कर दी, मेरी मसहरी गिराकर वह खाट पर सोने जा रही कि मैं बोल पड़ा। कहा—'ब्राह्मण-भोजन का हल्ला तो शाम से पहले ही खत्म हो गया था, इतनी देर हो गई ?'

राजलक्ष्मी पहले तो चौंकी, फिर हँसकर बोली—'मेरा खोटा नसीब! मैं तो पैर दबाए आ रही थी कि तुम्हारी नींद न खुल जाए। जाग ही रहे हो ? सोए क्यों नहीं ?'

'तुम्हारे ही इन्तजार में जग रहा था।'

'मेरे इन्तजार में ? तो बुलवा क्यों नहीं लिया ?'—यह कहकर वह मसहरी खिसका कर मेरे सिरहाने के पास आ बैठी। सदा की जो आदत थी, वसी अँगुलियाँ मेरे बालों में डालकर बोली—'बुलवा क्यों नहीं लिया ?'

'बुलवाने से ही क्या तुम आती ? इतना काम है तुम्हें।'

'सात रहे काम। तुम्हारी बुलाहट पर ना कहने की मजाल भी है मुझे ?'

इसका कोई जवाब नहीं था। जानता हूँ, मेरी पुकार पर ना कहने की मजाल उसे नहीं है। फिर भी आज इसे सत्य मानने की सामर्थ्य मुझमें कहाँ ?

राजलक्ष्मी ने कहा—'चुप हो गए ?'

'सोच रहा हूँ।'

'सोच रहे हो ? क्या सोच रहे हो ?'—मेरे कपाल पर अपना सिर रखकर धीमे से कहा—'मुझ पर नाराज होकर घर से निकल जो गए थे ?'

'नाराज होकर गया था, तुमने कैसे जाना ?'

राजलक्ष्मी ने सिर नहीं उठाया। बोली—'मैं नाराज होकर जाऊँ तो तुम नहीं जान सकते ?'

मैंने कहा—'शायद जान सकता हूँ।'

यह बोली—'तुम शायद जान सकते हो—मैं लेकिन बेशक जान सकती हूँ और तुम्हारे जान सकने से भी ज्यादा जान सकती हूँ।'

हंसकर बोला—'खैर। इस विवाद में मैं जीत नहीं चाहता। अपनी हार से तुम्हारे ही हारने में मेरा ज्यादा नुकसान है।'

राजलक्ष्मी बोली—'यह जानते ही हो तो फिर कहते क्यों हो?'

मैंने कहा—'अब कहता कहाँ हूँ—कहना तो मैंने बहुत पहले बन्द कर दिया, तुम यही नहीं जानती।'

राजलक्ष्मी चुप हो रही। पहले वह इतनी आसानी से मुझे हर्गिज छुटकारा नहीं देती, लाखों-करोड़ों सवाल करके इसकी कैफियत तलब कर लेती, लेकिन आज वह चुप हो रही। बड़ी देर के बाद उसने दूसरी बात की। पूछा—'इस बीच शायद तुम्हें बुखार आया था? कहाँ रहे? मुझे खबर क्यों नहीं भेजी?'

खबर न भेजने का कारण बताया। एक तो खबर दे जाने वाला कोई नहीं था, दूसरे जिसे खबर भेजूँ, वे हैं कहाँ, यही पता नहीं। लेकिन कहाँ और किस तरह से रहा, यह विस्तार से बताया। आज ही सुबह चक्रवर्ती-पत्नी से विदा लेकर आया। उस दीन-हीन परिवार में जिस ढंग से आश्रय लिया था और जिस बेहद गरीबी में भी एक अजाने बीमार मेहमान की उन्होंने बेटे से भी ज्यादा स्नेह से सेवा की—यह कहते हुए कृतज्ञता और पीड़ा से मेरी आँखें भर आईं।

राजलक्ष्मी ने आँसू पोंछते हुए कहा—'उन्हें कुछ रुपये भेज दो जिससे कि वे ऋण से मुक्त हो सकें।'

मैंने कहा, 'रुपये रहे होते तो देता, मेरे तो रुपये हैं नहीं।'

मेरी ऐसी बातों से राजलक्ष्मी बहुत दुःखी होती है। आज भी मन-ही-मन उसने वैसा ही दुःख पाया, लेकिन उसका रुपया मेरा भी रुपया है, इसे साबित करने के लिए वह पहले की तरह झगड़ने को आमादा न हुई। चुप रह गई।

उसमें मैंने यह नवीनता देखी। मेरी इस बात पर उसका यों चुप रहना मुझे भी चुभा। कुछ देर के बाद निश्वास छोड़कर वह सीधी होकर बैठी। मानो अपने निश्वास की हवा से उसने चारों तरफ घिरे मोह के आवरण को छिन्न कर देना चाहा। घर की मन्द रोशनी में उसका चेहरा ठीक से मैं देख नहीं पाया, लेकिन उसके कण्ठ स्वर के परिवर्तन को गौर किया। राजलक्ष्मी बोली—'बर्मा से तुम्हारी चिट्ठी का जवाब आया है। दफ्तर का बड़ा लिफाफा था। सोचा, शायद कुछ जरूरी बात हो, इसलिए आनन्द से पढ़वा लिया।'

'फिर?'

'बड़े साहब ने तुम्हारी दरख़ास्त मंजूर कर ली है। लिखा है, जाने पर तुम्हें तुम्हारी पुरानी जगह मिल जाएगी।'

'अच्छा!'

'हाँ। ले आऊँ चिट्ठी?'

'रहने दो। सुबह देखूँगा।'

हम दोनों फिर चुप हो रहे। क्या कहूँ, कैसे इस मौन को भंग करूँ, कुछ समझ न पाकर अन्दर अजीब उथल-पुथल-सी होने लगी। एकाएक आँसू की एक गरम बूँद मेरे कपाल पर चू पड़ी। मैंने धीरे से कहा—'मेरी अर्जी मंजूर हो गई, यह कोई बुरी खबर तो नहीं, पर तुम रोईं क्यों?'

आँचल से अपनी आँखें पोंछती हुई वह बोली—'तुम फिर नौकरी पर विदेश जाने की चेष्टा कर रहे हो, यह मुझे बताया क्यों नहीं? क्या सोचा था कि मैं बाधा दूँगी?'

मैंने कहा—'नहीं, बल्कि जानने पर हौसला ही देती। लेकिन इसलिए नहीं। सोचा, ऐसी मामूली बातें सुनने की तुम्हें फुर्सत ही न होगी।'

राजलक्ष्मी सन्न रह गई—पर उसका उफनाया निश्वास, दबाने की जी-तोड़ कोशिश के बावजूद मुझसे छिपा न रहा। मगर ज़रा देर के लिए। कुछ ही क्षण बाद वह बोली—'इस बात का जवाब देकर मैं अपने अपराध का बोझा नहीं बढ़ाऊँगी। तुम जाओ। तुम्हें मैं अब हर्गिज़ मना नहीं करूँगी।' इतना कहकर कुछ देर वह स्तब्ध रही, फिर बोली—'यहाँ न आई होती तो शायद मैं कभी नहीं समझ पाती कि तुम्हें मैं किस मुसीबत में घसीट लाई हूँ। गंगामाटी के अन्धे कुएँ में औरतों का काम चल सकता है, मर्दों का नहीं। यहाँ का कर्महीन और उद्देश्यहीन जीवन तो तुम्हारे लिए आत्महत्या के समान है। यह मैंने अपनी निगाहों से साफ देखा।'

मैंने पूछा—'खुद से देखा कि किसी ने दिखा दिया?'

वह बोली—'नहीं, मैंने खुद ही देखा। तीर्थयात्रा की थी, लेकिन ठाकुर को न ही देख पाई। उसके बदले सिर्फ तुम्हारा स्नेहहीन मुखड़ा ही आँखों में दिन-रात नाचता रहा। मेरे लिए तुम्हें बहुत छोड़ना है, पर अब नहीं।'

अब तक मेरे मन में एक जलन-सी हो रही थी। परन्तु उसके गले की आवाज से अनिर्वचनीय करुणा से विभोर हो गया। कहा—'और तुम्हें ही क्या कम त्याग करना पड़ा है लक्ष्मी। गंगामाटी तो तुम्हारे भी योग्य स्थान नहीं।'

लेकिन यह कहते ही शर्म से मर गया। क्योंकि लापरवाही से जो गर्हित वाक्य मेरे मुंह से निकल गया, वह तीक्ष्ण बुद्धिवाली नारी से छिपा न रहा। किन्तु आज उसने मुझे माफ कर दिया। शायद बात के भले-बुरे को लेकर मान-अभिमान का जाल बुनते हुए समय नष्ट करने की गुंजाइश न थी। बोली—'सही तो यह है कि मैं ही गंगामाटी के योग्य नहीं, सभी इस बात को न समझेंगे, परन्तु तुम्हें यह समझना चाहिए कि मुझे कुछ छोड़ना नहीं पड़ा है। लोगों ने चट्टान जैसा जो भार कभी मेरे कलेजे पर लाद दिया था, केवल वही हटा है। और सिर्फ यही? मैंने आजीवन तुम्हें चाहा था, तुम्हें पाकर छोड़ने में मैंने असख्य गुना पाया, यह क्या तुम नहीं जानते?'

जवाब न दे सका। अन्तर के अजाने मर्म से कोई मानो यही कहने लगा, तुमसे भूल हुई, तुमसे बहुत बड़ी भूल हुई। बिना समझे उस पर बड़ा जुल्म किया है। राजलक्ष्मी ने ठीक इसी प्रकार चोट की। कहा—'तुम्हारे लिए तुम्हें कभी यह बात नहीं बताऊँगी—लेकिन आज मुझसे रहा नहीं गया। मुझे सिर्फ इसी बात की सबसे ज्यादा पीड़ा पहुँची कि तुमने यह सोच लिया कि पुण्य के लोभ से मैं ऐसी पागल हो पड़ी हूँ कि तुम्हारी भी उपेक्षा करने लगी हूँ। नाराज होकर जाने से पहले एक बार भी तुम्हारे मन में यह नहीं आया कि इहकाल और परकाल में राजलक्ष्मी के लिए तुमसे ज्यादा लोभ की वस्तु क्या है!' कहते-कहते उसकी आँखें मेरे चेहरे पर बरस पड़ीं।

बातों से सान्त्वना देने के शब्द याद नहीं आए, केवल उसके दायें हाथ को अपने हाथ में खींच लिया। बायें से अपने आँसू पोंछकर वह बड़ी देर तक चुप बैठी रही। उसके बाद बोली—'मैं जरा देख आऊँ, सभी रैयतों का खाना हो चुका या नहीं। तुम सो रहो।' अपना हाथ खींचकर वह धीरे धीरे चली गई। चाहता तो उसे पकड़कर रोक सकता था, लेकिन उसकी कोशिश ही न की। वह भी फिर लौटकर नहीं आई। मैं जब तक जगा रहा यही सोचता रहा, जबर्दस्ती रोकने से लाभ भी क्या था? मेरी ओर से तो कभी जबर्दस्ती थी नहीं, थी उसी की ओर से। आज अगर वही मेरा बन्धन खोलकर मुझे मुक्त किए देना चाहती है, तो मैं कैसे रोकूं?

सुबह नींद खुलते ही उधर की खाट को देखा। देखा, राजलक्ष्मी नहीं है। रात वह आई थी या नहीं, या तड़के ही उठकर चली गई, समझ न सका। बाहर के कमरे में गया तो वहाँ हलचल-सी थी। रतन केतली से गरम चाय डाल रहा था

और पास ही राजलक्ष्मी समोसे और कचौरियाँ निकाल रही थी। वज्रानन्द संन्यासी निरासक्त दृष्टि से उन चीजों को देख रहा था। मुझे देखते ही राजलक्ष्मी ने अपने गीले बालों पर आँचल खींच लिया और वज्रानन्द चिल्ला उठा—'लो भैया आ गए! आपको देर हो रही थी, सोच रहा था, सब ठण्डा हो जाएगा।'

राजलक्ष्मी हँसकर बोली—'हाँ तुम्हारे पेट में ठण्डा होगा।'

आनन्द ने कहा—'दीदी, संन्यासी-फकीर की खातिर करना सीखिए। उन्हें ऐसी सख्त बात न कहें।' मुझसे बोला—'अच्छा तो नहीं लग रहा है, देखूँ आपकी नाड़ ?'

राजलक्ष्मी बोल उठी—'माफ करो बाबा, तुम्हारी डाक्टरी रहने दो, मजे में हैं वे।'

आनन्द बोला—'यही जानने के लिए एक बार नब्ज '

राजलक्ष्मी ने कहा—'रहने दो। तुरन्त साबू-दानों की फरमाइश '

मैंने कहा—'साबू बहुत खा चुका। अब कहने से भी नहीं खाने का।'

'जरूरत भी नहीं।' यह कहकर राजलक्ष्मी ने एक प्लेट में कुछ समोसे और कचौरियाँ मेरी तरफ बढ़ा दीं। रतन से कहा—'चाय दे जाने बाबू को।'

वज्रानन्द ने संन्यासी बनने से पहले डाक्टरी पास की थी। वह आसानी से हार मानने वाला नहीं। गर्दन हिलाकर बोला—'दीदी, आपकी एक जिम्मेदारी · '

राजलक्ष्मी ने बीच में ही टोका—'सुनो इसकी बात। उनकी जिम्मेदारी मेरी नहीं तो क्या तुम्हारी है? आज तक जितनी जिम्मेदारी झेलकर इन्हें खड़ा रखना पड़ा है, यह सुनते तो दीदी के सामने तुम्हें डाक्टरी नहीं करनी पड़ती।'—यह कहकर परसी हुई थाली उसकी ओर बढ़ाकर कहा—'खाओ। बात करना छोड़ो।'

आनन्द 'अरे रे' कर उठा। 'इतना भी खाया जाता है भला ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'खाया नहीं जाता तो संन्यासी क्यों बनने चले थे? औरों की तरह गिरस्त ही रहना चाहिए था।'

आनन्द की आँखें सहसा छलछला आईं। बोला—'आप जैसी दीदियाँ इस देश में हैं, इसलिए, नहीं तो कसम, आज ही ये गेरुए अजय की धार में बहा देता! लेकिन मेरा एक अनुरोध है दीदी। परसों से ही आप लगभग उपवासी हैं—आज पूजा-पाठ जरा सवेरे-ही-सवेरे कर लें। इन चीजों में अभी नजर की छूत नहीं लगी, कहें तो···' यह कहकर उसने भोज्य-वस्तुओं पर नजर डाली।

राजलक्ष्मी भय से आँखें फाड़कर बोली—'कहते क्या हो आनन्द, कल मेरे सभी ब्राह्मण कहाँ आ पाए।'

मैंने कहा—'पहले वे लोग आ लें। फिर ···'

आनन्द ने कहा—'फिर तो मुझे उठना पड़ेगा। आप उनका नाम-ठिकाना दें, उनके गले में अंगोछा डालकर पकड़ लाऊँ।' और, थाली खींचकर उसने भोजन करना शुरू किया।

राजलक्ष्मी बोली—'सन्यासी ठहरे न! देवता-ब्राह्मण में बेहद भक्ति है।'

इस तरह चाय-नाश्ता होने में आठ बज गए। बाहर आकर बैठा। शरीर में ग्लानि न थी। हँसी-मजाक में मन निर्मल-प्रसन्न हो उठा। राजलक्ष्मी की रात की बातों और आज के आचरण में कोई मेल ही न था। इसमें सन्देह नहीं कि मान और पीड़ा से ही उसने ऐसा किया था। वास्तव में रात के सन्नाटे और अँधेरे आवरण में जिन तुच्छ और मामूली घटनाओं को बड़ी तथा कठोर मानकर जो दुःख उठाया, उस दिन के प्रकाश में उसकी याद से शर्म आई, कौतूहल भी हुआ।

कल की तरह आज धूमधाम न थी, फिर भी बेबुलाए-बुलाए अतिथियों का खान-पान दिनभर चलता ही रहा। बेला जाती रही। एक बार फिर चाय का साज-सरजाम लेकर हम लोग बाहरी कमरे में बैठे। शाम के कुछ-कुछ काम-काज चुकाकर कुछ देर के लिए राजलक्ष्मी कमरे में आई। वज्रानन्द ने कहा—'स्वागतम् दीदी।'

राजलक्ष्मी ने मुस्कराते हुए कहा—'सन्यासी जी की शायद देश-सेवा शुरू हो गई; तभी इतनी खुशी हो रही है?'

आनन्द ने कहा—'आपने ठीक कहा। संसार में जितने भी आनन्द हैं, उनमें भजनानन्द और भोजनानन्द ही सबसे उत्तम है और शास्त्र का कहना है, त्यागियों के लिए दूसरा आनन्द ही सर्वश्रेष्ठ है।'

राजलक्ष्मी बोली—'बेशक तुम्हारे जैसे त्यागियों के लिए।'

आनन्द ने जवाब दिया—'यह भी झूठ नहीं।' आप चूँकि गृहिणी हैं, इसलिए इसके मर्म को समझ नहीं पाईं—नहीं तो, जब हम त्यागियों का दल आनन्द में तल्लीन है तब आप तीन दिन से औरों को खिला रही है खुद उपवास करके मर रही है।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'मर भी कहाँ रही हूँ भाई—देखती हूँ दिन-दिन देह की

समृद्धि ही होती चली जा रही है।'

आनन्द बोला—'इसलिए कि होना अनिवार्य है। पिछली बार भी आपको देख गया था, अबकी भी देख रहा हूँ। आपको देखकर यह नहीं लगता कि आप दुनिया की हैं, यह तो मानो दुनिया से परे कुछ हो।'

गर्व से राजलक्ष्मी का चेहरा तमतमा उठा। मैंने कहा—'आपने आनन्द की कुस्ति का तरीका देखा?' सुनकर आनन्द हँसा। बोला—'यह कुस्ति तो नहीं, स्तुति है।' भैया, वह निगाह होती तो आप बर्मा में नौकरी की दरखास्त करते? अच्छा दीदी, किस दुष्ट देवता ने इस अन्धे आदमी को आपके कन्धों पर लाद दिया था? उन्हें क्या दूसरा काम नहीं था?'

राजलक्ष्मी हँस पड़ी। अपने कपाल को ठोंककर कहा—'दोष देवता का नहीं है भैया, दोष इस कपाल का है। फिर उन्हें तो बड़े-से-बड़ा दुश्मन भी दोष नहीं दे सकता।' यह कहकर उसने मेरी ओर इशारा किया—पाठशाला में ये हजरत थे सरदार पढ़ाकू। जितना पढ़ाते न थ, उससे कहीं ज्यादा तो बेंत लगाते थे। उस समय पढ़ती तो बस बोधोदय थी—पढ़ने का बोध तो खाक हुआ, बोध हुआ और ही प्रकार का। छोटी थी, फूल कहाँ पाती, वन के बँची फूलों की माला से वरण किया। अब सोचती हूँ, फूलों के साथ काँटे भी गूँथ देती!' कहते-कहते उसका कुपित स्वर दबी हँसी की आभा से अनोखा हो उठा।

आनन्द ने कहा—'उफ् गुस्सा कैसा!'

राजलक्ष्मी बोली—'गुस्सा नहीं तो क्या? काँटे तोड़ देने वाला कोई होता तो जरूर देती। अभी भी मिलें, तो दूँ।' इतना कहकर वह तेजी से चली जाने लगी। आनन्द ने कहा—'अरे, भागने क्यों लगीं?'

'क्यों, दूसरा कोई काम नहीं है क्या? चाय की प्याली लेकर मजाक उड़ाने का समय उनको है, मुझे नहीं।'

आनन्द ने कहा—'दीदी, मैं आपका अनुगत भक्त हूँ, लेकिन इस शिकायत पर हामी भरते हुए मुझे भी लज्जा आती है। उन्होंने एक भी बात नहीं होती, तो उसे तूल देने की कोशिश की जाती, मगर एकबारगी गूँगे को फन्दे में कैसे डाला जाए? करो भी तो, धर्म सहन नहीं करेगा?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'अपनी मुसीबत तो यही है। खैर। धर्म जो सहन करे, वही करो। चाय के प्याले ठण्डे हो गए—मैं जब तक जरा रसोई से हो आती हूँ।'

यह कहकर वह घर से बाहर चली गई।

वज्रानन्द ने पूछा—'बर्मा जाने का संकल्प अभी भी है क्या? लेकिन दीदी हर्गिज साथ नहीं जाएँगी, उन्होंने मुझसे कहा है।'

'यह मैं जानता हूँ।'

'फिर?'

'फिर तो अकेला ही जाना पड़ेगा।'

वज्रानन्द ने कहा—'यही अन्याय है आपका। कमाने की जरूरत आपको क्या है कि आप दूसरे की गुलामी करने जाएँगे?'

कहा—'कम-से-कम आदत बनाये रखने के लिए।'

'यह तो नाराजगी की बात है भैया!'

'लेकिन नाराजगी के सिवाय कोई और कारण नहीं होना चाहिए?'

आनन्द ने कहा—'हो भी तो औरों के लिए समझना मुश्किल है।'

जी में आया, कहूँ, मुश्किल काम करने की किसी को जरूरत ही क्या पड़ी है, लेकिन, विवाद से बात लम्बी न हो पड़े, इसलिए चुप रह गया।

इतने में बाहर का काम निबटाकर राजलक्ष्मी आ गई और खड़ी न रहकर भलेमानस-सी आनन्द के पास जाकर बैठ गई। आनन्द ने कहा—'दीदी, ये कह रहे हैं कि कम-से-कम गुलामी की आदत बनाए रखने के लिए विदेश जाना ही पड़ेगा। मैं कह रहा था, यही अगर जरूरी है तो चलिए, मेरा हाथ बटाइए। विदेश की बजाय देश ही की गुलामी में दोनों भाई जिन्दगी बिता देंगे।'

राजलक्ष्मी बोली—'लेकिन ये तो डाक्टरी नहीं जानते।'

आनन्द बोला—'मैं क्या सिर्फ डाक्टरी ही करता हूँ? स्कूल चलाता हूँ, पाठशाला चलाता हूँ, हरदम यह समझने की कोशिश करता हूँ कि उनकी दुर्गत कितनी बड़ी और कितनी तरफ से है।'

'वे इसे समझते हैं?'

आनन्द बोला—'सहज में तो नहीं समझते, पर मनुष्य की शुभ इच्छा जब सत्य होकर हृदय से निकलती है, तो बेकार नहीं जाती।'

मेरी ओर कटाक्ष से देखकर राजलक्ष्मी ने धीरे-धीरे सिर हिलाया।

शायद उसे यकीन नहीं आया, शायद वह मेरे लिए मन-ही-मन शंकित हो उठी कि कहीं मैं भी हाँ कह बैठूँ, कहीं ··

आनन्द ने पूछा—'घर को हिला दिया बता ?'

राजलक्ष्मी ने तो पहले हँसने की चेष्टा की फिर स्निग्ध कण्ठ से बोली—'देश का दुर्भाग्य कितना बड़ा है, यह मैं जानती हूँ आनन्द, मगर अकेले तुम्हारी चेष्टा से होगा क्या भाई ?' मुझे दिखाते हुए कहा—'और ये आएँगे तुम्हारा हाथ बटाने ! हुआ फिर तो ! फिर तो मेरी तरह इन्हीं की सेवा-जतन में तुम्हारा समय बीत जाएगा—और कुछ करने से रहे।' यह कहकर वह हँसी।

उसे हँसते देख आनन्द खुद भी हँसा। बोला—'इन्हें ले जाने का काम नहीं, ये आपकी आँखों की पुतली होकर रहें। मगर इक्के-दुक्के की बात यह नहीं है। अकेले आदमी की इच्छा-शक्ति भी इतनी बड़ी होती है कि उसका अन्दाज नहीं हो सकता। ठीक वामन के डग के समान। देखने में तो होती है छोटी, बढ़े तो धरती आसमान छाप ले।'

मैंने देखा, वामन की उपमा से राजलक्ष्मी का दिल नर्म हो आया, मगर जवाब में वह कुछ न बोली।

आनन्द बोला—'शायद दी कि आपका ही कहना ठीक है, ज्यादा कुछ मैं कर नहीं सकता, पर एक काम करता हूँ, जितना बनता है, दुखियों के दुःख का हिस्सा बटाता हूँ।'

राजलक्ष्मी बहुत पिघलकर बोली—'सो मुझे मालूम है आनन्द। तुम्हें देखकर पहले ही दिन मैंने समझ लिया था।'

आनन्द ने शायद इस पर ध्यान नहीं दिया। वह अपनी ही बात का छोर पकड़कर कहने लगा—'आप लोगों जैसा मुझे भी कोई अभाव नहीं था। पिताजी की सम्पत्ति बहुत है—सुख से गुजर-बसर के लिए जितना चाहिए, उसमें भी ज्यादा। मुझे लेकिन नहीं चाहिए। दुखियों के इस देश में अगर सुख की लालसा को भी जीत सकूँ, तो बहुत है।'

रतन ने आकर खबर दी—'रसोई तैयार है।'

राजलक्ष्मी ने परोसने को कहा और हम लोगों से कहा—'जरा जल्दी खा-पी लो, मैं बहुत थकी हुई हूँ।'

थकी वह जरूर थी, लेकिन थकावट की दुहाई देते उसे कभी नहीं सुना था। दोनों चुपचाप उठ खड़े हुए। आज का सवेरा हँसी-खुशी से शुरू हुआ था, साँझ को बैठक हँसी-मजाक से ही जम गई थी। लेकिन टूटी निरानन्द के मलिन अवसाद

से। खाने के लिए रसोई की तरफ चलते हुए हमारे मुंह से बात नहीं फूटी।

दूसरे दिन सवेरे वज्रानन्द ने जाने की तैयारी की। किसी के कहीं जाने की बात पर राजलक्ष्मी सदा आपत्ति करती। आजकल करके टालती। मगर आज वह कुछ भी न बोली। सिर्फ करीब जाकर धीमे से पूछा—'फिर कब आओगे भाई?'

मैं पास ही था, साफ देखा कि सन्यासी की आंखें धुंधली हो आईं। मगर झट अपने को जब्त करके हंसते हुए बोला—'जरूर आऊंगा, दीदी। जिन्दा रहा तो कभी कभी तंग करने के लिए आ जाया करूंगा।'

'ठीक?'

'जरूर।'

'मगर हम तो जल्द ही यहां से चले जाएंगे। जहां रहेंगे, वहां आओगे?'

'आदेश होगा, तो जरूर आऊंगा।'

राजलक्ष्मी बोली—'आना। पता लिख दो अपना, मैं पत्र दूंगी।'

आनन्द ने कागज-पेंसिल निकालकर पता लिख दिया। सन्यासी होते हुए भी हाथ जोड़कर हम दोनों को नमस्ते किया। और, रतन ने आकर उसके चरणों की धूल ली, तो उसे आशीर्वाद देता हुआ धीरे-धीरे बाहर चला गया।

चौदह

जिस दिन सन्यासी वज्रानन्द अपनी दवाओं का बक्स और कैनवास का बैग लेकर यहां से गया, उस दिन वह न केवल इस घर के सारे आनन्द को ही छीनकर ले गया, बल्कि मुझे ऐसा लगा, मानो वह सूने स्थान को छिद्रहीन निरानन्द से भर गया। सेंवार से तालाब का जो पानी लगातार हलकोरों के आघात से गन्दगी से परे था, वह गोया उसके चले जाते ही कदोड़ होने लगा। फिर भी छ-सात दिन कट गए। राजलक्ष्मी लगभग दिनभर घर में नहीं रहती। कहां जाती, क्या करती, पता नहीं, पूछता भी नहीं, शाम को एक बार जब भेंट होती, तो या तो वह अनमनी होती या कुशारी जी उसके साथ होते। काम काज की बात चलती होती। अकेले मुझे रह रहकर उसी आनन्द की याद आती, जो मेरा कोई नहीं। लगता कहीं वह आ पहुंचे अचानक। तो क्या सिर्फ मैं ही खिल पड़ूं, यह राजलक्ष्मी भी, जो बरामदे में उधर दीए की रोशनी में बैठी कुछ कर रही है—खुश हो पड़े। ऐसा

ही होता है। एक दिन जिनके उत्सुक हृदय बाहर के सब प्रकार के संस्रव को त्याग-कर एकान्त मिलन के लिए आकुल रहते थे, आज बिगड़े क्षणों में उसी बाहर की हमें कितनी ज़रूरत हो आई है! लगता, जो भी हो चाहे, हमारे बीच में आ खड़ा हो एक बार, तो जान-में-जान आए।

ऐसे ही समय, जब दिन काटे नहीं कट रहे थे, हठात् रतन सामने आकर खड़ा हुआ। अपनी हँसी वह रोके नहीं रोक पा रहा था। राजलक्ष्मी घर में न थी। लिहाजा उसके डरने की वजह न थी। फिर भी उसने सावधानी से चारों ओर देखकर धीरे-धीरे कहा—'आपने शायद सुना नहीं!'

मैंने कहा—'नहीं।'

रतन बोला—'माँ भगवती करें कि माँजी की यही मति रहे। दो-ही चार दिन में हम लोग यहाँ से जा रहे हैं।'

'कहाँ जा रहे हैं?'

रतन ने फिर एक बार दरवाज़े से बाहर गौर करके कहा—'यह तो अभी ठीक-ठीक मालूम नहीं। या तो पटना या काशी या फि—मगर इनके सिवाय तो और कहीं माँजी का मकान नहीं है!'

मैं चुप रहा। इतनी बड़ी बात में भी मुझमें कोई उत्साह न देखकर उसने सोचा, मैंने शायद उसकी बात का यकीन नहीं किया। इसीलिए दबी आवाज़ में सारी ताकत लगाकर वह बोल उठा—'मैं कहता हूँ कि यह सत्य है। जाना होकर ही रहेगा। ओह, जान आ जाए, है न?'

मैंने कहा—'हाँ।'

रतन ने खुश होकर कहा—'दो-चार दिन सब्र करें, बस। बहुत तो हफ्ताभर। इससे ज़्यादा नहीं। गंगामाटी का सारा इन्तज़ाम माँजी ने कुशारी जी के साथ तय कर लिया है, अब जय गणेश करके निकल आना भर है। आखिर हम शहर के रहने वाले, यहाँ भला मन टिक सकता है?' और खुशी के मारे जवाब का इन्तज़ार किए बिना ही वह चला गया।

रतन से छिपा कुछ भी नहीं। उन सबकी नाईं मैं भी राजलक्ष्मी का एक अनुचर ही हूँ—यह वह जानता है। उसे मालूम है कि किसी की भी राय वाय की कोई कीमत नहीं—हर का भला लगना मालकिन की मर्ज़ी और रुचि पर ही आश्रित है।

रतन जो आभास दे गया, स्वयं वह उसका मर्म नहीं समझता लेकिन उसके

वाक्य का वह अन्दरूनी मतलब, देखते-ही-देखते मेरे मानस-पट पर सभी प्रकार से फूट उठा। राजलक्ष्मी की शक्ति की सीमा नहीं, उस विपुल शक्ति से संसार में वह मानो अपने ही आपसे खेलती चली जा रही है। एक दिन उस खेल में मेरी जरूरत थी, उसकी उस एकाग्र वासना के प्रचण्ड आकर्षण को रोकने की ताकत मुझमें नहीं थी, मैं झुककर आया था। मुझे वह बड़ा करके नहीं लाई। सोचता था, मेरे लिए उसने बहुत स्वार्थों की कुर्बानी की है, लेकिन आज दिखाई पड़ा, नहीं, बात यह नहीं है। अब तक उसके स्वार्थ के केन्द्र को देखा नहीं था, इसीलिए ऐसा सोचता था। धन, ऐश्वर्य—बहुत कुछ को उसने छोड़ा है लेकिन क्या मेरे ही लिए? कूड़े के ढेर की तरह उन सबने क्या उसी की राह नहीं रोकी? उसका मुझमें और मुझको लाभ पहुँचाने में कितना अन्तर था, यह सत्य मुझे आज दिखाई पड़ा। उसका मन आज संसार की सभी प्राप्ति को तुच्छ करके बढ़ने को तैयार है। उसके उस पथ में मेरे खड़े होने की जगह नहीं। इसलिए कतवार की तरह मुझे जो किनारे हटकर खड़ा होना पड़ेगा, यह बात पीड़ा चाहे जो दे, इसे अस्वीकार करने का उपाय नहीं। अस्वीकार करता भी नहीं।

दूसरे दिन पता चला, धूर्त रतन ने जो खबर जुटाई थी, वह गलत नहीं। गंगामाटी का सारा प्रबन्ध हो गया। यह बात राजलक्ष्मी से ही मालूम हुई। सुबह पूजा-पाठ करके और दिन की तरह वह बाहर नहीं निकली। धीरे-धीरे मेरे पास आकर बोली—'परसों इस वक्त तक खा-पीकर अगर हम निकल पड़ें तो सैंथिया में पश्चिम जाने वाली गाड़ी मिल जाएगी, क्यों?'

मैंने कहा—'हाँ।'

वह बोली—'यहाँ का सब प्रबन्ध ठीक कर दिया। कुशारी जी पहले की तरह सब देखभाल करेंगे।'

मैंने कहा—'ठीक ही किया।'

वह जरा देर चुप रही। शायद सवाल को ठीक से आरम्भ नहीं कर पा रही थी, इसलिए अन्त में बोली—'बंकू को खत डाल दिया है, वह एक गाड़ी रिजर्व करके स्टेशन पर रहेगा। मगर हो तब तो।'

मैं बोला—'वह रहेगा। तुम्हारा आदेश वह नहीं टाल सकता।'

राजलक्ष्मी बोली—'नहीं, भरसक तो नहीं टालेगा। फिर भी—खैर, तुम क्या हम लोगों के साथ नहीं चल सकोगे।'

कहाँ जाना होगा, यह नहीं पूछ सका। जबान पर नहीं आया। केवल इतना ही कहा—'जरूरत समझो तो चल सकता हूँ।'

जवाब में राजलक्ष्मी भी कुछ नहीं बोल सकी। बड़ी देर के बाद व्यस्त-सी होकर बोली—'कहो, तुम्हारी चाय तो नहीं ले आया ?'

मैंने कहा—'बाद में उलझा हो शायद।'

वास्तव में चाय लाने का वक्त कब का गुजर चुका था। पहले नौकरों की इतनी बड़ी गलती वह हर्गिज माफ नहीं कर सकती थी। बक-बक करके तूफान मचा देती, पर अभी कैसी एक शर्म से वह मर गई और एक भी शब्द कहे बिना वहाँ से चली गई।

जाने के दिन सवेरे सभी लोगों ने आकर घेर लिया। डोम की वह लड़की मालती, उसे फिर एक बार देखने की इच्छा थी, लेकिन बस्ती छोड़कर वह और कहीं जा बसी थी, भेंट न हो सकी। पता चला, अपने पति के साथ वह मजे में है। रात रहते ही दोनों भाई कुशारी सपरिवार आ पहुँचे। तालियों की जायदाद के झगड़े का निपटारा हो चुका था, इसलिए दोनों भाई फिर से मिल गए थे। राज-लक्ष्मी ने कैसे क्या किया, विस्तार से न तो यह जानने का कौतूहल था, न जानना ही था। उनके मुखड़ों को देखकर यही जान सका कि झगड़ा मिट गया और विछोह की पुरानी ग्लानि किसी चेहरे पर न थी।

सुनन्दा ने बच्चे के साथ आकर मुझे प्रणाम किया। बोली—'आप हमें तुरन्त भूल नहीं जाएँगे, यह मैं जानती हूँ। वह व्यर्थ प्रार्थना [redacted] नहीं करूँगी।'

हँसकर बोला—'मुझसे फिर किस बात का अनुरोध करोगी दीदी ?'

'मेरे बच्चे को आप आशीर्वाद दें।'

मैंने कहा—'यही तो व्यर्थ प्रार्थना है सुनन्दा। तुम जैसी माँ के बच्चे को क्या आशीर्वाद दिया जाए, [redacted] नहीं जानता।'

राजलक्ष्मी जाने किस काम से तो इधर से आ रही थी। यह बात उसके कानों में पहुँची कि वह अन्दर आई। सुनन्दा की तरफ से बोल उठी—'इस बच्चे को यह आशीर्वाद दो कि बड़ा होने पर यह तुम्हारे जैसा हृदय पाए।'

हँसकर बोला—'खूब! तुम्हारे बच्चे से लक्ष्मी शायद मजाक करना चाहती है।' बात खत्म होते-न होते राजलक्ष्मी बोल उठी—'क्या कहा ? मैं अपने बच्चे से मजाक करना चाहती हूँ ? और फिर जाते समय ?' यह कहकर वह एक क्षण चुप

रही। फिर बोली—'मैं तो आपकी माँ के समान हूँ। मैं आशीर्वाद करती हूँ, भगवान इसे वही वरदान दें। इससे बड़ा और मैं नहीं जानती।'

एकाएक नजर पड़ गई, उसकी दोनों आँखें आँसुओं से भर गई हैं। वह उतना ही कहकर घर से चली गई।

इसके बाद गीली आँखों हम सब गंगामाटी से विदा हुए। यहाँ तक कि रतन भी बार-बार आँखें पोंछने लगा। सब लोगों के बार-बार आग्रह से फिर आने का वचन दिया, यह वचन नहीं दे सका सिर्फ मैं। मैंने ही निश्चित समझा कि यहाँ फिर लौटने की सम्भावना नहीं। इसीलिए जाते हुए इस छोटे-से गाँव को बार-बार देखकर यही लगने लगा कि अपार माधुर्य और वेदना से भरी एक वियोगान्त नाटिका की बस यवनिका गिरी, रंगमंच की बत्तियाँ बुझ गईं—अब मनुष्यों से भरे संसार की हजारों की भीड़ में मुझे निकलना पड़ेगा, लेकिन जनता में जाने के लिए मन की जिस सतर्कता से कदम रखना चाहिए, मेरा वह मन मानो नशे में धुत हो।

साँझ के बाद हम सैंथिया पहुँचे। राजलक्ष्मी के आदेश और उपदेश—एक की भी बकू ने अवहेलना नहीं की। सारा बन्दोबस्त करके वह खुद प्लेटफार्म पर मौजूद था। समय पर गाड़ी आई तो असबाब के साथ नौकरोंवाले डिब्बे में रतन को बिठाकर विमाता के साथ वह गाड़ी पर सवार हुआ। लेकिन मुझमें खास घनिष्ठता दिखाने की कोशिश नहीं की—क्योंकि अब उसकी दर बढ़ गई है, घर-द्वार, रुपये-पैसे के नाते वह एक आदमी है। आज बकू विलक्षण है। हर स्थिति को समझकर चलना जानता है। यह विद्या जिसे प्राप्त है, उसे संसार में कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

गाड़ी के छूटने में पाँचेक मिनट की देर थी, लेकिन कलकत्ता जाने वाली मेरी गाड़ी थी, भोर में। एक तरफ खड़ा था। खिड़की से मुँह निकालकर राजलक्ष्मी ने मुझे बुलाया। पास जाने पर कहा—'जरा अन्दर आओ।' अन्दर गया। मेरा हाथ पकड़कर बगल में बैठाती हुई बोली—'तुम क्या जल्द ही बर्मा चले जाओगे? जाने के पहले एक बार भेंट नहीं कर जाओगे?'

मैंने कहा, 'जरूरत हो तो मिल ले सकता हूँ।'

राजलक्ष्मी ने चुपचुप कहा—'दुनिया में जिसे जरूरत कहते है, वह नहीं है। सिर्फ एक बार तुम्हें देखना चाहती हूँ। आओगे?'

'आऊँगा ।'

'कलकत्ते पहुँचकर चिट्ठी दोगे ?'

'दूँगा ।'

गाड़ी छूटने की आखिरी घण्टी बजी । गार्ड साहब ने हरी रोशनी को बार-बार हिलाकर उसकी पुष्टि की । राजलक्ष्मी ने झुककर मेरे पैरों की धूल लेकर मेरा हाथ छोड़ दिया । मैं उतर पड़ा । कमरे का दरवाजा बन्द करते ही गाड़ी चल पड़ी । अँधेरी रात । साफ-साफ कुछ दिखाई नहीं देता । प्लेटफार्म की कुछ झिलमिल बत्तियों ने धीरे से बढ़ती हुई गाड़ी की उस खुली खिड़की पर बैठी एक अस्पष्ट नारी-मूर्ति पर दो-एक बार रोशनी डाली ।



कलकत्ता पहुँचकर मैंने पत्र लिखा । जवाब मिला । यहाँ काम ज्यादा न था । जो था, वह पन्द्रह दिन के अन्दर खत्म हो गया । अब विदेश जाने की तैयारी करनी थी, मगर उसके पहले वचन के मुताबिक राजलक्ष्मी से मिल लेना था । दो सप्ताह और निकल गया । मन में आशंका-सी हो रही थी, जाने इतने दिनों में उसका क्या मतलब होगा, शायद हो कि सहज छोड़ना न चाहे, इतनी दूर जाने में तरह-तरह से एतराज करे—असम्भव कुछ भी नहीं । अभी वह काशी में है । डेरे का पता भी मालूम है । इस बीच दो-तीन पत्र भी आ चुके हैं और मैंने यह भी गौर किया कि किसी पत्र में उसने मेरे वचन की याद नहीं दिलाई है । न ही दिलाने की बात है । मन में कहा, खुद को इतना छोटा बनाकर मैं भी ऐसा नहीं लिख सकता कि मुझसे एक बार मिल जाओ । देखते-देखते अचानक जाने कैसा अधीर-सा हो उठा । जीवन से वह इतनी जुड़ी हुई थी, जाने कैसे तो इसे भूले हुए था—यह सोचकर अवाक् हो गया । वहीं देखा । अभी भी गाड़ी का समय था । डेरे पर सब यों ही पड़ा रहा । मैं निकल पड़ा । वहीं चीजों को देखकर लगा, रहें पड़ी ये । मेरी जरूरतों को जो मुझसे ज्यादा जानती है, उसके यहाँ जाने में जरूरतों का बोझ ढोने की जरूरत नहीं । रात गाड़ी में किसी भी तरह नींद नहीं आई । अलसाई मुँदी पलकों पर कितने ख्याल, कितनी कल्पनाएँ खेलने लगीं, अन्त नहीं । सभी बिखरी-बिखरी, परन्तु सब सहज व छोटी-सी । धीरे-धीरे सवेरा हुआ, बेला बढ़ने लगी, लोगों का चढ़ना-उतरना, शोर पुकार, दौड़-धूप की सीमा नहीं । खुली धूप में चारों ओर कुहरे का निशान तक नहीं । मगर मेरी आँखों में सब मानो धुँधला हो रहा ।

गाड़ी को देर हुई। सो राजलक्ष्मी के डेरे पर काफी देर मे पहुंचा। बाहरी बैठक के सामने बूढ़े-से एक ब्राह्मण तम्बाकू पी रहे थे। उन्होंने पूछा—'क्या चाहिए?'

अचानक कहते न बना कि क्या चाहिए। उन्होंने फिर पूछा—'किन्हें ढूंढते है?' किसे ढूंढता हूं, सहसा यह कहना भी कठिन था। जरा रुककर कहा, 'रतन है?'

'नहीं, वह बाजार गया है।'

ब्राह्मण बेचारे भले आदमी थे। मेरे धूल भरे मलिन चेहरे को देखकर उन्होंने अन्दाज किया कि मैं दूर से आ रहा हूं। सदय स्वर मे बोले—'आप बैठिए, जल्द ही आ जाएगा। आपको क्या सिर्फ उसी से काम है?'

पास की एक चौकी पर बैठ गया। उनके सवाल का ठीक उत्तर न देकर पूछा, 'यहां बंकू बाबू हैं?'

'जी हां, हैं।'—उन्होंने एक नये नौकर को बुलाया और बंकू को बुला देने के लिए कहा। बंकू आया। मुझे देखकर पहले तो वह अचम्भे मे पड़ गया उसके बाद मुझे अपने बैठक मे ले जाकर बिठाया। बोला, 'हम समझ रहे थे कि आप बर्मा चले गए।' 'हम' से क्या मतलब, यह मैं नहीं पूछ सका। बंकू ने पूछा, 'आपका सामान अभी गाड़ी पर···'

'नहीं, सामान-बामान मैं कुछ नहीं लाया।'

'नहीं लाया? रात ही की गाड़ी से लौट जाएंगे?'

कहा—'सम्भव हुआ तो लौट ही जाऊंगा।'

बंकू ने कहा—'हां, फिर तो एक पहर के लिए जरूरत ही क्या। धोती-तौलिया मुंह-हाथ धोने का सब सामान नौकर रख गया, लेकिन दूसरा कोई मेरे सामने नहीं आया।'

भोजन की बुलाहट हुई। मेरा और बंकू का आसन पास-पास ही लगाया गया था। दक्खिन के दरवाजे से अन्दर आकर राजलक्ष्मी ने मुझे प्रणाम किया। पहले शायद उसे पहचान नहीं पाया। पहचाना तो आंख के आगे अंधेरा हो गया। यहां क्या है, कौन है, याद नहीं आया। तुरन्त यह ध्यान आया कि अपनी मर्यादा बचाकर हंसकर कुछ न करके कैसे इस घर से सहज ही निकल जाऊं।

उसने न केवल सादी कोर का कपड़ा पहन रखा था और सारे गहने ही

उतार दिए गए थे, बल्कि उसके मेघ जैसे भर-पीठ जो काले बाल थे, गायब थे। माथे पर कपाल तक घूंघट, उसी की फाँक से छूटे बालों की दो-चार अलकें वक्ष पर बिखर आई थीं। ऐसा लगा उम्र में भी वह मुझसे दस साल ज्यादा हो।

भोजन के बाद राजलक्ष्मी बोली— वज्रू कह रहा था, तुम क्या आज ही गाव लौट जाना चाहते हो?

मैंने कहा— हाँ।

'हम! तुम्हारा जहाज तो वही इतवार को जाएगा।'

उसके इस व्यक्त और अव्यक्त उच्छ्वास से विस्मित होकर उसकी तरफ ताकते ही वह मानो शर्म से गड़ गई। झट अपने को सम्हालकर बोली,—'उसमें तो अभी तीन दिन है।'

मैंने कहा—'और भी काम है।'

राजलक्ष्मी फिर कुछ कहने जा रही थी, पर चुप हो गई—मेरे मरने या बीमार होने की बात शायद जबान पर न ला सकी। जरा देर चुप रहकर बोली, 'मेरे गुरुदेव आए हैं।

समझ गया, आते ही बाहर पहले जिनसे भेंट हुई, वही हैं। इन्हीं के दर्शन के के लिए एक बार वह मुझे जोर देकर काशी लिवा आई थी। स्नान के बाद उनसे बातें हुई। मेरी गाड़ी बारह बजे के बाद थी। काफी वक्त था। आदमी यथार्थ में भले थे। मेरे बारे में सब कुछ जानते थे, क्योंकि राजलक्ष्मी ने गुरु से कुछ भी नहीं छिपाया था। बहुत-सी बातें कहीं उन्होंने, जिनमें से बहाने उपदेश भी कुछ कम नहीं दिया, लेकिन तीखा नहीं, न ही लगने वाला। सब कुछ याद नहीं, शायद ध्यान से सुना नहीं; हाँ इतना याद है कि एक-न-एक दिन राजलक्ष्मी में ऐसा परिवर्तन आएगा। इसीलिए उन्होंने दीक्षा की प्रचलित रीति को नहीं माना था। उनका विश्वास था, जिनके कदम फिसल गए हैं, सद्गुरु की जरूरत उन्हीं को सबसे अधिक है।

इसके सिवाय कहने को क्या है? उन्होंने फिर एक बार अपनी शिष्या की भक्ति, निष्ठा और धर्मशीलता की बेहिसाब प्रशंसा की। कहा, ऐसा देखा नहीं। वास्तव में यह सत्य था और इसे मैं स्वयं भी किसी से कम नहीं जानता, मगर चुप रहा।

समय हो आया। घोड़ागाड़ी दरवाजे के सामने आकर लगी; गुरुदेव से विदा

लेकर मैं गाडी पर जाकर बैठा। राजलक्ष्मी आई। गाडी के अन्दर हाथ बढाकर बार-बार मेरे पैरो की धूल माथे से लगाई, मगर बोली नही। शायद वह शक्ति ही उसे नही थी। मैं भी स्तब्ध रहा। अन्तिम विदाई का नाटक मौन मे ही समाप्त हुआ। गाडी चल पडी तो मेरी आँखो से अविरल आँसू बह निकले। हृदय से कहा, तुम सुखी हो, शान्त हो, तुम्हारा लक्ष्य ध्रुव हो—तुमसे हिंसा नही करता, लेकिन जिस अभागे ने सब कुछ छोडकर एक दिन साथ ही नाव बहाई थी, उसे अब कूल नही मिलेगा। धड-धड करती हुई गाडी चल पडी। गगामाटी की सारी स्मृतियाँ आलोडित हो उठी, सब याद हो आई। लगा, यह जो एक जीवन-नाटक का अत्यन्त स्थूल और साधु अन्त हुआ, उसकी ख्याति का अन्त नही। इतिहास मे लिखा जाए तो इसकी अम्लान दीप्ति कभी बुझेगी नही, श्रद्धा-भरे विस्मय से सिर झुकाने वाले पाठको की भी दुनिया मे कमी न होगी—मगर मेरी अपनी बात किसी से कहने की नही—मैं अन्यत्र चला। जो मेरी ही तरह कलुष की कीच मे पडी है, जिसके सुधरने की आशा नही, उसी अभया के आश्रय मे। मन-ही-मन राजलक्ष्मी के लिए कहा, तुम्हारा पुण्य जीव उन्नत से उन्नततर हो, तुम्हारे जरिए धर्म की महिमा उज्ज्वल से उज्ज्वलतर हो, मैं अब क्षोभ नही करूँगा। अभया की चिट्ठी मिली है। स्नेह, प्रेम, करुणा से अटल अभया—बहन से भी अपनी—विद्रोही अभया ने सादर निमत्रण दिया है। लौटते वक्त द्वार पर उसकी आँसूभरी आँखें याद आई, याद आया उसका सारा अतीत और वर्तमान इतिहास। चित्त की शुद्धता, बुद्धि की निर्भरता और आत्मा की स्वाधीनता से वह मानो मेरे सारे दु खो को छापकर एक पल मे उद्भासित हो उठी।।

सहसा गाडी रुकी। चौंककर देखा, स्टेशन पर पहुँचा। उतरकर खडा हुआ कि कोचबक्स के पास झट उतरकर एक आदमी ने मुझे प्रणाम किया।

'कौन? अरे, रतन?'

'बाबू, परदेश मे नौकर की जरूरत हो, तो मुझे सूचना देंगे। जब तक जिन्दा रहूँगा, आपकी सेवा म त्रुटि न होगी।'

गाडी की लालटेन की रोशनी उसके चेहरे पर पडी। अचरज से मैंने पूछा, 'तू रो क्यो रहा है, यह तो बता?'

रतन ने जवाब नही दिया—आँखें पोछकर फिर एक बार झुककर मुझे प्रणाम करके वह अँधेरे मे गुम हो गया।

द्वितीय खण्ड

एक

इतने दिनों तक जीवन बीता उपग्रह की तरह। जिसको केन्द्र मानकर घूमता रहा हूँ, न तो उसके पास आने का अधिकार मिला, न मिली दूर जाने की अनुमति। अधीन नहीं हूँ, मगर अपने को स्वाधीन कहने की भी जुर्रत नहीं। काशी से लौटते हुए गाड़ी पर बैठा बार-बार इसी बात को सोच रहा था। सोच रहा था, अपने ही भाग्य में बार-बार ऐसा क्यों होता है? मरने तक अपना कहने को क्या कुछ भी नहीं पाऊँगा? सदा क्या इसी प्रकार बीतेगा जीवन? बचपन की याद आई। परायी इच्छा पर पराये घर में वर्षों के समय ने इस शरीर को ही कैशोर्य से जवानी की तरफ बढ़ा दिया, लेकिन मन को भगा दिया जाने किस रसातल में। आज लाख बुलाने पर भी उस भगाए गए मन की कोई आवाज नहीं मिलती। कभी अगर किसी क्षीण कण्ठ के अनुरणन का पता मिलता है, तो बेखटके उसे अपना नहीं सोच सकता—विश्वास करने में डर लगता है।

इस बार यह समझ आया कि राजलक्ष्मी मेरे जीवन में मर चुकी—बहाई हुई प्रतिमा के अन्तिम चिह्न तक को नदी तट पर खड़े होकर अपनी आँखों देख कर लौटा हूँ—आशा करने का, कल्पना करने का, अपने को ठगने का कोई सूत्र ही कहीं नहीं रखता। वह दिशा निःशेष निश्चिह्न हो चुकी है। लेकिन यह शेष कहाँ तक शेष है, यह कहूँ भी किसे और कहूँ ही क्यों?

लेकिन केवल उसी दिन तो! कुमार साहब के साथ शिकार में गया—अचानक प्यारी का गाना सुनते-सुनते भाग्य से ऐसा कुछ मिल गया, जो जितना ही आकस्मिक, उतना ही अपरिसीम था। अपने गुण से पाया नहीं, अपने दोष से भी खोया नहीं, फिर भी खोने को ही आज स्वीकार करना पड़ा, मेरा नुकसान ही विश्वव्यापी होकर रहा। कलकत्ते जा रहा है, अच्छा हूँ, बर्मा जाऊँगा।

लेकिन यह मानो सर्वस्व गँवाकर जुआरी का घर लौटना हो। घर की तस्वीर धुँधली-सी, अस्वाभाविक—सिर्फ राह ही सत्य। लगता है, राह का यह चलना खत्म न हो।

☐

अरे ! श्रीकान्त !

ख्याल ही न आया कि गाड़ी किसी स्टेशन पर आ लगी है। देखा, गाँव के नाते से दादाजी, राँगा दीदी और सत्रह-अट्ठारह साल की एक लड़की माथे पर, कन्धे पर, बगल में दुनिया भर का सामान लादे प्लेटफार्म के एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़कर अन्त में मेरी खिड़की के सामने आकर खड़े हुए हैं।

दादाजी ने कहा—'उफ, किस गजब की भीड़ है। तिल समाने की जगह नहीं। तीन ही जने तो हैं। तुम्हारा डिब्बा तो सारा खाली है—आएँ ?'

'आइए।' मैंने दरवाजा खोल दिया। हाँफते हुए वे तीनों जने ऊपर आए। सामान को उतारा। दादाजी ने कहा—'लगता है, यह डिब्बा ज्यादा किराये का है। जुर्माना तो नहीं भरना पड़ेगा।'

मैंने कहा—'नहीं। मैं गार्ड साहब से कह आता हूँ।'

गार्ड से कहकर जो करना-कराना था, कर-कराके लौटा, तो वे आराम से बैठ चुके थे। गाड़ी खुली तो राँगा दीदी ने मुझ पर ध्यान दिया, चौंककर बोली—'तेरी यह शक्ल क्या बन गई श्रीकान्त ! सूखकर मुँह तो सोंठ हो गया है ! था कहाँ इतने दिनों ? खूब है तू भी। वहीं जो वहाँ से खिसका, क्या कोई खत भी डालना गुनाह था ? हम सब मारे सोच के मर गए।'

ऐसे प्रश्नों के जवाब की कोई प्रत्याशा नहीं करता और न पाने पर अपराध भी नहीं गिनता।

दादाजी ने बताया, तुम्हारी दीदी के साथ गया आया था तीर्थ के लिए। यह लड़की मेरी बड़ी साली की पोती है—बाप इसका नकद हजार रुपया गिन देने को तैयार है, तो भी जँचने लायक कोई लड़का अब तक नहीं जुटा। मानी नहीं इसीलिए साथ ले आया। पुण्टू, पेड़े वाला मटका खोलो तो जरा। दही वही छोड़ तो नहीं आई देवीजी। पत्तल पर दो तो, दो पेड़े, थोड़ा दही। भैया, ऐसा दही कहीं चखे नहीं होंगे कभी, कसम खाकर कह सकता हूँ। उँहूँ, है लोटे में पानी से पहले हाथ धो डालो। यूँ ही यह जो-सो नहीं, ऐसे लोगों के लिए देने का सलीका सीखो।'

पुण्टु ने आज्ञा का पालन किया, लिहाजा इस कुवेला में गाड़ी पर अनमांग पेड़ा-दही नसीब हुआ। खाते हुए सोचने लगा, जितना अघटन है, सब मेरे ही भाग्य में घटता है। भले-भले पुण्टु के लिए हजार की कीमत का पात्र न चुन लिया जाऊं। यह खबर तो इन्हें पिछली ही बार मिल चुकी थी कि मैं बर्मा में अच्छी नौकरी पर हूँ।

रांगा दीदी बहुत स्नेह करने लगीं और अपना जानकर पुण्टु थोड़ी ही देर में घनिष्ठ हो उठी। आखिर मैं बिराना तो था नहीं।

लड़की अच्छी है। मामूली भद्र गृहस्थ घर की। रंग गोरा न सही, देखने में अच्छी ही है। नौबत यह आई कि रांगा दीदी उसके गुणों का बखान खत्म न कर पातीं। पढ़ाई लिखाई की बात पर बोलीं—'यह इतना सहेज-सँवारकर चिट्ठी लिख सकती है कि उसके आगे आजकल का नाटक-उपन्यास मात है। पड़ोस की नन्दरानी को इसने एक ऐसा पत्र लिख दिया था कि सातवें ही दिन उसका पति पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर हाजिर।'

राजलक्ष्मी की चर्चा किसी ने इशारे से भी न की। ऐसी भी कोई घटना घटी थी, इसकी किसी को याद ही नहीं।

दूसरे दिन गाँव के स्टेशन पर गाड़ी रुकी, तो मुझे उतरना ही पड़ा। कोई दस बज रहे होंगे। समय पर नहाना-खाना न होगा तो पित्त बिगड़ जाएगा। इसके लिए दोनों बेचैन हो उठे।

घर लिवा गए। आदर जतन की सीमा नहीं। पुण्टु का दूल्हा मैं ही हूँ, पाँच-सात दिन में इस पर किसी को सन्देह नहीं रहा। यहाँ तक पुण्टु को भी नहीं।

दादाजी चाहने लगे कि यह शुभ काम अगले बैशाख में हो ही जाए। पुण्टु के सग सम्बन्धियों को बुलवा लेने की बात उठी। रांगा दीदी ने पुलकित होकर कहा, 'मजा देखा, किसी ने किसकी हाँडी में चावल डालकर रखा है, यह पहले से जानने का उपाय नहीं।'

मैं पहले उदास, फिर चिन्तित और फिर भयभीत हो उठा। अपने पर ही सन्देह होने लगा कि मैंने हामी भरी है। हालत यह हो आई कि ना कहने की हिम्मत नहीं पड़ने लगी, शायद हो कि कोई बुरी घटना घट जाए। पुण्टु की माँ यहीं थी। एक इतवार को अचानक उसके पिताजी भी दर्शन दे गए। मुझे कोई जाने भी नहीं देता, हँसी मजाक, आनन्द-हर्ष भी चलता। पुण्टु मेरी गर्दन दबोच

के ही रहेगी, महज दिन-तिथि का इन्तजार है—धीरे-धीरे चारों तरफ से यही लक्षण साफ दीखने लगा। फन्दे में उलझता जा रहा हूँ, जी में शान्ति भी नहीं—फन्दे को काटकर निकल भी नहीं सकता। ऐसे में सहसा एक सुयोग मिल गया। दादाजी ने पूछा—'तेरी जन्मपत्री है या नहीं। उसकी तो जरूरत पड़ेगी।'

बलपूर्वक सारा संकोच हटाकर मैंने पूछा—'सच ही क्या आप लोगों ने मुझसे पुण्टू का ब्याह करना तय कर लिया है?'

दादाजी जरा देर हां किए रहे। बोले—'सच ही! जरा सुनो बात इसकी!'

'लेकिन मैंने तो अभी तक ऐसा नहीं सोचा है।'

'नहीं सोचा है? तो सोच लो। लड़की की उम्र कहूँ चाहे बारह-तेरह, पर है यह सत्रह-अट्ठारह की। इसके बाद उसकी शादी कराऊँगा भी तो कैसे?'

'लेकिन यह कसूर मेरा तो नहीं।'

'कसूर आखिर किसका है? मेरा!'

इसके बाद लड़की की माँ, रोना-धोना, यहाँ तक कि पास-पड़ोस की औरतें भी आ पहुँचीं। रोना-धोना, शिकवा-शिकायत का अन्त न रहा। टोले के पुरुषों ने कहा—'ऐसा शैतान तो हमने देखा नहीं। इसे अच्छा सबक सिखाना जरूरी है।'

लेकिन सबक सिखाना और बात है, लड़की की शादी करना और। सो दादाजी तो हट गये। उसके बाद आरजू-विनती की जाने लगी। बेचारी पुण्टू का कहीं पता नहीं। शर्म से मुँह छिपाए छिप गई शायद। पीड़ा-सी होने लगी। कैसी बदनसीबी के लिए ये बेचारी लड़कियाँ हमारे घर पैदा होती हैं! मैंने सुना, उसकी माँ भी ठीक यही बात कह रही है—दईमारी हम सबों को सीलकर तब मरेगी। बेचारी की तकदीर ऐसी कि उसके चाहे समन्दर सूखे, सूनी मछली पानी में तैरने लगे। उसके सिवाय और किसके भाग्य में ऐसा होगा!

कलकत्ता जाने के पहले दादाजी को अपने डेरे का पता दिया। कहा—'मुझे एक हाँ राय लेनी है। वे राजी हो जाएँ तो ठीक है।'

गद्गद स्वर में दादाजी बोले—'इसी भैया, बेचारी लड़की को बेमौत मत मारना। उनसे इस तरह से कहना कि वे मान जायें।'

मैंने कहा—'मेरा ख्याल है, वे असहमत न होंगे, बल्कि खुश ही होंगे।'

दादाजी ने आशीर्वाद दिया—'तो कब तुम्हारे डेरे पर आऊँ?'

'पाँच-छः दिन के बाद ही।'

पुण्टु की माँ, रांगा दीदी रास्ते तक सजल आँखों विदा देने आईं।

मन-ही-मन कहा, अदृष्ट ! खैर अच्छा ही हुआ कि एक प्रकार से बात दे आया। मुझे पक्का विश्वास था कि राजलक्ष्मी इस विवाह में भी ज़रा भी आपत्ति न करेगी।

दो

स्टेशन पहुँचा और गाड़ी चल दी। दूसरी गाड़ी को दो घण्टे की देर थी। कैसे समय कटे, यह सोच रहा था कि साथी मिल गया। एक मुसलमान युवक। कुछ क्षण मेरी तरफ ताककर पूछ बैठा—'कौन, श्रीकान्त ?'

'हाँ !'

'मुझे नहीं पहचान सके ? मैं गौहर हूँ।'—यह कहकर उसने मेरी हथेली दबाई और तड़ से पीठ पर एक धपत जमा दी। गले लगाकर बोला—'चल, मेरे घर चल। कहाँ जा रहा था, कलकत्ता ? अब छोड़ अभी जाना, चल।' पाठशाला का दोस्त। उम्र में मुझसे चार एक साल बड़ा। सदा अधपगला-सा, उम्र के साथ वह रोग उसका बढ़ा ही है, घटा नहीं। उसकी जबर्दस्ती से बचने का पहले भी कोई उपाय नहीं था। लिहाजा आज अब वह हर्गिज नहीं छोड़ेगा। मेरे फिक्र की पूछिए मत। कहना फिजूल होगा, उसकी मस्ती और अपनेपन की बराबरी करने की ताकत आज मुझमें रही नहीं। मगर वह छोड़ने वाला कहाँ था ? मेरे बैग को उठा लिया। कुली को बुलाकर उसके माथे पर मेरा बिस्तर लादा, खींचते हुए बाहर ले जाकर एक गाड़ी तै की और कहा—'बस।'

बचने का कोई उपाय नहीं, तर्क करना बेकार है।

गौहर मेरा पाठशाला का साथी है, कह चुका हूँ। उसका गाँव मेरे यहाँ से कोस भर पर है, एक ही नदी के किनारे। छुटपन में मैंने उसी से बन्दूक चलाना सीखा। उसके पिताजी के पास एक देशी बन्दूक थी—उसी को लेकर हम दोनों नदी के किनारे, आम के बगीचे और झाड़ी-झुरमुटी में चिड़िया मारते फिरते थे; बचपन में जाने कितनी रातें उसी के यहाँ बिताईं—उसकी माँ मुरमुरे, दही, केले,

फलाहार का इन्तजाम कर दिया करती थी। उनकी जगह-जमीन खेती-बारी काफी थी।

गाड़ी पर गौहर ने पूछा—'अब तक था कहाँ श्रीकान्त ?'

मुख्तसर में कह दिया, जहाँ-जहाँ था। पूछा—'तुम क्या करते हो ?'

'कुछ भी नहीं।'

'तुम्हारी माँ ससुराल हैं ?'

'माँ-बाबूजी, दोनों ही गुजर गए। मैं अकेला ही हूँ।'

'शादी नहीं की है ?'

'वह भी चल बसी।'

मन में अन्दाजा लगाया, अभी जिसे-तिसे पकड़ ले जाने का इतना आग्रह है। पूछने को और बात नहीं मिली, इसलिए पूछा—'तुम्हारी वह देसी बन्दूक है ?'

हँसकर गौहर बोला—'भूले नहीं हो तुम! वह है। एक और ली है। तू शिकार करना चाहे, तो साथ चलूँगा। मगर मैं अब चिड़िया नहीं मारता। बड़ी तकलीफ होती है।'

'अरे! उस समय तो रात-दिन इसी फिराक में रहते थे ?'

'रहता था। लेकिन अब बहुत दिनों से छोड़ दिया है।'

गौहर का एक परिचय और है, वह कवि है। उन दिनों वह बेहिसाब तुकें और छन्द जबानी सुनाया करता था, जब कहो, जिस विषय पर कहो। छन्द मात्रा, ध्वनि के नियम मानकर चलता था या नहीं यह अक्ल उस समय मुझे थी नहीं, आज भी नहीं है, लेकिन मणिपुर की लड़ाई, टिकेन्द्रजित की वीरता की कहानी उसके छन्दों में सुनकर हम जोश में आ जाते थे—यह मुझे याद है। पूछा—'अच्छा, यह तो कहो, तुम्हें कभी कृत्तिवास से अच्छी रामायण लिखने की इच्छा थी, वह इरादा है या जाता रहा ?'

'जाता रहा!' जरा देर गम्भीर रहकर गौहर बोल उठा—'वह भी भला जाने का है रे! उसी पर तो जिन्दा हूँ। जब तक यह जिन्दगी है, तब तक उसी पर पड़ा रहूँगा। यह कितना है। चल न आज रातभर तुझे सुनाऊँगा, फिर भी खत्म न होगा।'

'ऐं, ऐसी बात ?'

'और क्या, झूठ कह रहा हूँ ?'

कवि-प्रतिभा की दमक से उसका चेहरा चमकने लगा। सन्देह नहीं किया था, सिर्फ अचरज किया था। फिर भी केंचुआ निकालते हुए साँप न निकल आए—मुझे बिठाकर वहीं रात भर कविता न सुनाता रहे, इस डर से शंका की सीमा न रही। उसे खुश करने की गर्ज से बोला, 'नहीं-नहीं, मैंने वह नहीं कहा, तुम्हारी वह शक्ति हम सभी मानते हैं, असल में छुटपन की याद है न, इसलिए पूछा। खैर, बहुत खूब! बंगाल की एक कीर्ति होकर रहेगी यह।'

'कीर्ति? अपने मुँह मियाँ मिट्ठू क्या बनूँ, पहले सुनो, फिर बात होगी।'

किसी तरफ से छुटकारा नहीं। कुछ देर स्थिर रहकर बहुत कुछ जैसे अपने ही से कहा—'आज सुबह से जो तबियत खराब है। लगता है, सो रहूँ तो'

गौहर ने कान भी न दिया। बोला—'पुष्पक रथ में रोती हुई सीता जहाँ अपने गहने उतार-उतारकर फेंक रही हैं, वह स्थल जिसने भी सुना वही अपने आँसू न रोक सका श्रीकान्त।'

आँसू मैं ही रोक सकूँगा, यह सम्भावना कम है। बोला—'लेकिन'—गौहर ने कहा— 'अपने उस बूढ़े नैनचाँद चक्रवर्ती की याद है? उसने तो नाक में दम कर रखा है। जब-तब आ धमकता है, जरा वह स्थल पढ़कर सुना दो। कहता है, बेटे, तुम मुसलमान नहीं हो। तुम्हारी नसों में असली ब्रह्मरक्त देख रहा हूँ मैं।'

नैनचाँद नाम ज्यादा नहीं मिलता। इसीलिए याद आ गया। गौहर ही के गाँव में घर है उसका—'वही बुड्ढा न, जिससे तुम्हारे अब्बा का लड़ाई-झगड़ा, मामला मुकदमा हुआ था?'

गौहर बोला—'हाँ। अब्बा से वह पार क्या पाता। उसके खेत, बगीचे पोखर, यहाँ तक कि घर भी बाबूजी ने बकाये में नीलाम करा लिया। मैंने लेकिन उसका घर और पोखरा उसे वापस दे दिया है। बड़ा ही गरीब है। रात-दिन आँसू बहाता रहता था। तुम्हीं कहो, यह अच्छा है भला?'

अच्छा तो जरूर नहीं है। चक्रवर्ती के कविता प्रेम से ऐसा ही कुछ अन्दाज कर रहा था। पूछा—'अब आँसू बहाना बन्द हो गया न?'

गौहर ने कहा- 'आदमी लेकिन सचमुच में भला है। कर्ज के मारे से कभी उसने जो किया था, वैसा बहुतेरे करते हैं। उसके घर के करीब ही ढेंढेक बीघे में आम का बगीचा है। बगीचे का एक-एक पेड़ उसने अपने हाथों लगाया है। पोते-पोती उसके बहुत हैं—खरीदकर आम खाने की औकात कहाँ, फिर, है भी कौन,

कौन खाएगा।'

'दुरुस्त है। लौटा दो उसे।'

'लौटा देना ही वाजिब है श्रीकान्त। आँखों के सामने आम पकते हैं, बच्चों की आहें निकलती हैं—मुझे बड़ा दुःख होता है भाई। आम के दिनों सारे बगीचों का तो बन्दोबस्त कर देता हूँ—उस बगीचे को अब किसी को नहीं देता। चक्रवर्ती से कह देता हूँ, आपके पोते-पोते तोड़कर खाया करें। है न ठीक?'

'बेशक।' मन में कहा, वैकुण्ठ की रोकड़-बही की जय? उनके प्रताप से बेचारा नैनचाँद कुछ महेज से मरे तो बुरा क्या है। तिस पर गौहर ठहरा कवि। कवि की उतनी जायदाद आखिर किस काम की अगर वह रसिकों के काम न आए?

चैत का अपराह्न। गाड़ी में दरवाजे को ठेलकर सिर बढ़ाते हुए गौहर ने कहा—दखिनी हवा का अनुमान हो रहा है?'

'हाँ।'

'वसन्त को पुकारकर कवि कह रहे हैं—आज दक्षिण द्वार खुला है—।'

कच्चा रास्ता। मलयानिल के एक झोंके ने रास्ते की सूखी धूल को रास्ते पर नहीं रहने दिया—मुँह पर, माथे पर मल दिया। मैंने खीझकर कहा, 'कवि ने वसन्त को नहीं पुकारा है, उन्होंने कहा—इस वक्त यमराज का दक्खिनी दरवाजा खुला है—इसलिए गाड़ी का दरवाजा बन्द न करने से कहीं वही न आ धमकें।'

गौहर ने हँसकर कहा—'अच्छा, चलकर देखना। नींबू के दो पेड़ लगाए हैं। आधे कोस के फासले से खुशबू मिलती है। सामने के जामुन का पेड़ माधवी फूलों से लद गया है। उसकी एक डाल पर मालती की बेल है। फूल उसमें खिले नहीं, लेकिन कलियों से बेशुमार गुच्छे भर गए हैं। मेरे घर के चारों तरफ तो आम के बगीचे हैं। मंजर से मदरा गए हैं पेड़। सुबह मधुमक्खियों का मेला देखना। कोयल, बुलबुल के गीत। चाँदनी रातें हैं न आजकल! रात को भी कोयल की कूक नहीं थमती। बैठक की खिड़की खुली रखो तो पलक मारते न बनेगा। अबकी लेकिन आसानी से तुम्हारा पिण्ड न छोड़ूँगा, कहे देता हूँ। खाने की भी तकलीफ नहीं। खबर मिलने भर की देर है, चक्रवर्ती पुत्र की तरह तुम्हारा आदर करेंगे।'

उसके आमन्त्रण की हार्दिक अकपटता से मुग्ध हो गया। इतने दिनों के बाद

मुलाकात—मगर उस दिन का ठीक वही गौहर। जरा भी नहीं बदला। वैसा ही बचपन, दोस्त के मिलने से वही खुला उल्लास।

गौहर मुसलमान फकीर सम्प्रदाय का है। सुना है, उसके दादा बाउल थे। रामप्रसादी और वैसे ही दूसरे भजन गाकर भीख माँगते थे। उनकी पोसी हुई एक मैना की संगीत-कुशलता के किस्से उन दिनों इधर मशहूर थे। गौहर के पिता ने लेकिन मौरूसी पेशा नहीं अपनाया। उन्होंने पटसन की तिजारत से काफी धन कमाया और बेटे के लिए काफी जायदाद कर गए। मगर बेटे को विरासत में बाप की विषय-बुद्धि नहीं मिली। उसे दादा के काव्य-संगीत का प्रेम मिला। लिहाजा, मशक्कत से जोड़ी हुई बाप की जमीन-जायदाद और खेती-बारी का अन्त तक क्या हाल होगा, यह शंका और सन्देह का विषय है।

खैर, जो हो। मैंने छुटपन में उसका घर देखा था। ठीक से याद नहीं। अब शायद वह कवि के वाणी-तपोवन में बदल गया हो। फिर से देखने की इच्छा जग आई।

उसके गाँव का रास्ता जाना हुआ है, उसकी दुर्गमता की शक्ल भी याद आती है—परन्तु थोड़ी ही देर में पता चला कि बचपन की उस याद से आज के प्रत्यक्ष देखने का कोई मेल ही नहीं। बादशाही अमल का वही सनातन रूप। ईंट-पत्थर की योजना इस तरफ के लिए नहीं, यह दुराशा कोई नहीं करता, लेकिन सरकार की सम्भावना भी लोगों के मन से बहुत पहले मिट चुकी है। गाँव के लोग जानते हैं, शिकवा-शिकायत बेकार है—उनके लिए राज-खजाने में पैसे कभी नहीं रहते। उन्हें मालूम है, रास्ते के लिए पुश्त-दर-पुश्त राहकर देना पड़ता है, लेकिन वह राह कहाँ है, किसके लिए है, यह सोचना तक उनके लिए फिजूल है।

उस रास्ते के ज आने से जमे गर्द-बालू की बाधाओं को ठेलती हुई हमारी गाड़ी सिर्फ चाबुक के ही बल पर चल रही थी। ऐसे में गौहर अचानक जोर से चिल्ला पड़ा—'गाड़ीवान बस, और नहीं, रुको, रुक जाओ।'

वह कुछ ऐसा कर उठा, गोया पंजाब मेल की बात हो। सारी वैकुअम ब्रेक लमहे में न कसी जाये तो सर्वनाश हो जाएगा।

गाड़ी रुकी। बायें हाथ वाली राह उसके गाँव की थी। गौहर उतर पड़ा। बोला—'उतर जा श्रीकान्त। मैं बैग ले आता हूँ, तू बिछावन उठा ले।'

'गाड़ी और आगे नहीं जाएगी ?'

'नहीं। देख नहीं रहा है, रास्ता नहीं है।'

ठीक ही नहीं है रास्ता। दायें-बायें करवरी और बेंतों की झुरमुटों से रास्ता सँकरा हो उठा है। गाड़ी के घुसने का तो सवाल ही बेकार है, आदमी भी यदि सावधानी से बचकर न निकले तो कांटों से कपड़े-कुर्ते की खैर नहीं। इसलिए कवि की राय में प्राकृतिक सौन्दर्य अपूर्व है। उसने बैग को कन्धे पर उठाया और मैं बिछावन को बगल में सँभाले गोधूलि वेला में गाड़ी से उतर पड़ा।

कवि निवास पर पहुँचा तो सांझ बीत चुकी थी। अनुमान किया, आसमान में बसन्त की रात का चाँद भी उगा है। तिथि पूर्णिमा के आसपास की थी। इसलिए सोचा, गहरी रात में जब चन्द्रमा माथे के ऊपर आ जाएगा, तो इस सम्बन्ध में निश्चिन्त होऊँगा। घर के चारों तरफ बाँस की घनी झाड़ियाँ। बहुत सम्भव है, उनकी कोयलें और बुलबुलें इन्हीं में रहती हैं और रात-दिन गा-गाकर, सीटी बजा-बजाकर, कवि को व्याकुल किए रहती हैं। बाँस के पके पत्तों ने झड़कर आँगन को भर दिया था। देखते ही झड़े पत्तों का गीत गाने की बेताबी से मन उमड़ आता है। गौहर ने आकर बाहर का कमरा खोल दिया। बत्ती जला दी। लालटेन दिखाते हुए गौहर ने कहा—'तू इसी कमरे में रह। देखना, कैसी हवा लगती है।'

ताज्जुब क्या? देखा, दखिनी हवा से दुनियाभर के तिनके-पत्ते खिड़की से अन्दर भर गए हैं। तल्ला भर गया है। सतह पर पाँव रखने से बदन सिहर उठता। पास ही चूहे ने बिल खोदा है। बाहर मिट्टी पड़ी, दिखाकर मैंने पूछा—'तुम लोग क्या कमरे में आते नहीं?'

गौहर ने कहा—'नहीं। जरूरत ही नहीं पड़ती। मैं अन्दर ही रहता हूँ। बस सब साफ करवा दूँगा।'

'साफ तो करवा दोगे। लेकिन इस बिल में साँप तो रह सकता है?'

गौहर ने बताया—'हाँ दो थे। अब नहीं हैं। ऐसे समय वे नहीं रहते, हवा-खोरी के लिए बाहर निकल जाते हैं।'

मैंने पूछा—'तुमने कैसे जाना मियाँ।'

गौहर ने हँसकर कहा—'मियाँ नहीं है वह। वह नवीन है। अब्बा के समय का आदमी। गाय-बैल, खेती-बारी देखता है, घर भी देखता है।'

मैंने कहा—'क्या है, क्या नहीं है, यह सब जानता है।'

नवीन हिन्दू है, बंगाली भी है और बाप के अमल का आदमी भी। गाय-बैल, खेती बारी, घर-द्वार के बारे में बहुत कुछ जानना भी उसके लिए असम्भव नहीं, लेकिन साँप के सम्बन्ध में उसके कहने से निश्चिन्त न हो सका। गौहर के यहाँ सबको दखिनी हवा छू गई है। सोचा, हवा खाने के लिए साँपों का निकलना कुछ ताज्जुब नहीं, मानता हूँ। परन्तु उनके आते कितनी देर लगती है?

गौहर समझ गया, मुझे भरोसा नहीं हुआ। बोला—'तू तो खाट पर रहेगा। आखिर डर काहे का? और फिर साँप रहने वहाँ नहीं हैं? भाग्य में लिखा हो तो राजा परीक्षित छुटकारा नहीं पाते—हम किस खेत की मूली हैं। नवीन, घर को बगर कर उस गड्ढे पर एक ईंट रख देना। भूलना मत। हाँ, खाएगा क्या श्रीकान्त, सो बता?'

मैंने कहा—'जो मिल जाएगा।'

नवीन बोला—'दूध है, मुरमुरे हैं, बढ़िया गुड़ है। आज भर '

मैंने कहा—'ठीक है, इस घर में इन चीज़ों का मैं आदी हूँ, और किसी चीज़ के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं। तुम बल्कि एक ईंट वहीं से ले आओ। गड्ढे को मजबूती से बन्द कर दो, जिससे दखिनी हवा भरपेट पीकर वे जब लौटें, तो उसमें सहज ही घुस न सकें।'

नवीन ने बत्ती लेकर जरा देर चौकी के नीचे झाँका-ताका और कहा—'न, नहीं होगा।'

'क्या नहीं होगा?'

उसने सिर हिलाकर कहा—'नहीं, नहीं होगा। एक बिल है? एक भट्टा ईंट चाहिए। चूहे ने सारे कमरे को झंझरी कर दिया है।'

गौहर इससे खास परेशान न हुआ। सिर्फ यह हुक्म दिया कि कल आदमी बुलाकर सब ठीक कर देना।

हाथ-पाँव धोने का पानी रखकर नवीन मेरे फलाहार के इन्तजाम में अन्दर चला गया। मैंने पूछा—'तुम क्या खाओगे गौहर?'

'मैं? मेरी एक बुढ़िया मौसी हैं। वही पका देती हैं। खैर। खा-पी लो तो अपनी रचनाएँ सुनाऊँगा।' वह अपनी कविता के ध्यान में ही मग्न था, अतिथि की सुख-सुविधा की शायद सोची भी न हो। बोला—'बिस्तर लगा लूँ, क्यों? रात दोनों एक साथ रहेंगे, है न?'

यह दूसरी आफत ! मैंने कहा—'भई, तुम अपने कमरे में सोओ। आज मैं बहुत थक गया हूँ। रचना कल सवेरे सुनूँगा।'

'कल सवेरे ? मिलेगी फुर्सत ?'

'जरूर मिलेगी।'

गौहर ने चुप रहकर कुछ सोचा और बोला—'ऐसा न करें कि मैं पढ़ता जाऊँ और तुम लेटे-लेटे सुनो। सो जाओगे तो मैं चला जाऊँगा। यही ठीक होगा—है न ?'

मैंने विनती करके कहा—'नहीं भई, इससे तुम्हारी रचना की मर्यादा नहीं रहेगी। कल मैं मन देकर सुनूँगा।'

गौहर क्षुब्ध होकर लौट गया—लेकिन उसे लौटाकर अपना मन भी प्रसन्न नहीं हुआ।

पगला आदमी। इस बीच इंगित-आभास से यह भी समझा कि अपनी रचना को वह छपाना चाहता है। उसे उम्मीद है कि उससे देश-दुनिया में एक नई हलचल होगी। ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं था। पाठशाला और स्कूल में भाषा और अंग्रेजी थोड़ी-बहुत पढ़ी थी। बस। पढ़ने की ख्वाहिश भी न थी और पढ़ने का शायद समय भी नहीं मिला। बचपन से ही उसे कविता से प्रेम हुआ शायद हो कि वह प्रेम उसकी धमनियों में लहू के साथ बहता हो, और दुनिया की बाकी सारी चीजें उसकी निगाहों में बेमानी हो गई हैं। अपनी अनेक रचनाएँ उसे कंठस्थ हैं। गाड़ी पर बैठा गुनगुनाता भी रहा था। सुनकर उस समय मैं सोच भी नहीं सका था कि वाग्देवी अपने स्वर्ण-कमल की कोई पखड़ी भी अपने इस अक्षम भक्त को कभी पुरस्कार में देंगी ! मगर अथक आराधना के एकाग्र आत्मनिवेदन में उस बेचारे की कहीं त्रुटि नहीं। बिस्तर पर पड़े-पड़े सोचने लगा, बारह साल के बाद यह मुलाकात। इन बारह वर्षों तक यह सभी सांसारिक स्वार्थों को छोड़कर बातों को गूँथ-गूँथकर छन्दों का पहाड़ लगाता रहा है—मगर ये आएँगे किस काम ? जानता भी हूँ कि किसी काम नहीं आएँगे। गौहर अब नहीं रहा। उसकी कठिन तपस्या की नाकामयाबी की बात सोचकर आज भी दुःख होता है। सोचता हूँ लोगों की नजर की ओट में रूप-गन्धहीन कितने फूल खिलकर झड़ जाते हैं। विश्व के विधान में उनकी अगर कोई सार्थकता होती हो, तो गौहर की साधना भी व्यर्थ नहीं हुई।

तड़के ही चीख-पुकार कर गौहर ने मेरी नींद तोड़ दी। उस समय महज सात बजे होंगे या बजे भी न होंगे। उसकी इच्छा थी कि बंगाल के गाँव की वासन्ती शोभा आँखों देखकर निहाल हो जाऊँ। कुछ इस तरह का भाव, मानो मैं विलायत से लौटा हूँ। पहले जैसा हठ, लिहाजा टालने की गुंजाइश कहाँ! हाथ-मुँह धोकर तैयार हो लेना पड़ा। दीवाल से सटे एक अधमरे जामुन के पेड़ पर आधे में माधवी और आधे में मालती की लता—कवि की अपनी सूझ। बड़ी बेजान शक्ल—तो भी आधे में थोड़े से फूल खिले थे, दूसरे में अभी कलियाँ ही आई थीं। मुझे कुछ फूल भेंट देने की बड़ी इच्छा थी उसकी, पर पेड़ में लाल चींटे इस कदर थे कि छूना मुश्किल। मुझे उसने यह कहकर दिलासा दिया—'थोड़ी धूप निकल आने दो। लग्गी से तुड़वा लूँगा। अच्छा चलो।'

प्रातःक्रिया के सानन्द निर्वाह के उद्योग पर्व के सिलसिले में नवीन जी भर तम्बाकू का कश खींचकर जोरों से खाँस रहा था। थूक फेंकते हुए ठोक-पीटकर बहुत हद तक अपने को सँभालते हुए हाथ से उसने मना किया। कहा—'जंगल-झाड़ में मत जाइए, हाँ।'

गौहर खीझा—'क्यों?'

नवीन ने कहा—'दो एक स्यार पगला गए हैं। क्या गाय-गोरू और क्या आदमी, सबको काट खा रहे हैं।'

मैं डरकर ठिठक गया—'कहाँ?'

'कहाँ, यह क्या मैंने देख रक्खा है। कहीं झाड़ी झोप में ही होगा छिपा। जाना ही हो तो जरा देख-सुनकर जाएँगे।'

'तो फिर रहने ही दो गौहर।'

'खूब कही। अरे, इस समय तो स्यार-कुत्ते पगलाते ही हैं। तो क्या लोग राह नहीं चलेंगे! वाह!'

यह थी दक्खिनी हवा की तासीर! सो, कुदरत की शोभा देखने के लिए साथ जाना ही पड़ा। रास्ते के दोनों तरफ आम के बगीचे। करीब जाते ही एक किस्म के कीड़े चट-चट पट-पट करके मजर से उड़-उड़कर आँख-मुँह में आ रहे। सूखे पत्ते आम के मधु से चिटपिटा गए थे—जूतों में वे सट-सट जाने लगे। रास्ते पर घेंटू की झाड़ियों की भीड़। फूलों से लदी। नवीन का सावधान करना याद हो आया। गौहर के हिसाब से यह समय पगलाने का है। इसलिए घेंटू के फूलों

की शोभा फिर कभी देखी जाएगी, आज गौहर और मैं, वकील नवीन जैसा आदमी—जरा तेजी से ही वहाँ से निकल गए।

कह चुका हूँ, हमारे गाँव की नदी इसके गाँव के छोर पर बहती है। वर्षा की बढ़ी हुई धारा, वसन्त के आगमन से सूख चली थी। बाढ़ के वक्त के पानी, सवार ओस-धूप में सड़कर बदबू से जगह को नर्क कुण्ड बनाए हुए थे। मगर आया, उस पर कुछ सेमल के पेड़ों पर बेहिसाब लाल फूल फूले थे। परन्तु कवि को अभी उधर ध्यान देना फिजूल-सा लगा। बोला— 'चल, घर चलें।'

'चलो।'

मेरा ध्यान था—'तुम्हें यह सब अच्छा लगेगा।'

मैंने कहा—'जरूर लगेगा। तुम सुन्दर शब्दों में इस पर कविता लिखो, पढ़कर मुझे खुशी होगी।'

'अभी गाँव के लोग ताकते तक नहीं।'

'नहीं। देख देखकर जी भर गया है उनका। आँख की और कान की रुचि एक ही नहीं है भाई। जो यह सोचते हैं कि कवि के वर्णन की आँखों देखकर लोग मोहित हो जाते हैं, वे नहीं जानते। दुनिया के सारे व्यापार ऐसे ही हैं। आँखों में जो मामूली घटना है, निहायत तुच्छ चीज है, कवि की वाणी से वही हो जाती है नई सृष्टि। तुम जो देख पाते हो वह भी सत्य है और मैं जो देख नहीं पाया, वह भी सत्य है। इसके लिए तुम गमगीन मत होओ गौहर।'

फिर भी लौटते हुए उसने मुझे कितना क्या दिखाने की कोशिश की, इसका लेखा नहीं। रास्ते का हर पेड़, हर लता-झाड़ी मानो उसकी चीन्ही हुई हो। किसी पेड़ की छाल को लोग दवा के लिए छुरा से गए थे, रस टपक ही रहा था। उस पर नजर पड़ते ही गौहर चोर-सा उठा। आँखें उसकी भर आईं, मैं साफ समझ गया कि हृदय में उसने कैसी पीड़ा महसूस की। चक्रवर्ती अपनी सारी खोई हुई जायदाद जो वापस पा रहा था, वह अपने छल-कौशल से नहीं—उसकी वजह गौहर के अपने स्वभाव में ही थी। उस ब्राह्मण पर से मेरा बहुत गुस्सा यों ही मिट गया। चक्रवर्ती के दर्शन नसीब न हो सके। पता चला, उसके दो-एक पोतों पर 'माँ की कृपा' हुई है। गाँव गाँव में हैजे की कृपा अभी नहीं हुई है—पोखरों के सड़े पानी के और थोड़ा सूखने का इन्तजार है।

खैर। घर लौटकर गौहर अपना पोथा ले आया। उसका परिमाण देखकर

डरे नहीं, ऐसा कोई समार में हो भी तो विरला चाहिए। बोला—'बिना सुने फुर्सत नहीं मिलेगी। सुनकर राय देनी पड़ेगी तुम्हें।'

यही आशंका थी। साफ तौर से राजी होने का साहस तो नहीं था, लेकिन तो भी तो काव्य-श्रवण म कवि के यहाँ मेरे सात दिन निकल गए। कविता को छोड़िए, घनिष्ठता म उस आदमी का जो परिचय मिला, वह जितना ही सुन्दर था, उतना ही विस्मयकर।

एक दिन गौहर ने कहा—'बर्मा जाने की क्या जरूरत पड़ी है? श्रीकान्त हम दोनों ही को अपना कहने को कोई नहीं। यहीं रह जा न, दोनों भाई एक ही साथ यह जिन्दगी बिता दें।

हँसकर मैं बोला—'मैं तुम्हारी तरह कवि नहीं हूँ भाई—पेड़-पौधों की भाषा नहीं समझता, उनसे बातें भी नहीं कर सकता। फिर इस जंगल में रहते बनेगा मुझसे? दम जो घुट जाएगा।'

गौहर ने गम्भीर होकर कहा—'मैं लेकिन सच ही उनकी भाषा समझता हूँ, वे वास्तव म बात करते हैं—तुम्हें यकीन नहीं होता?'

मैंने कहा—'यकीन कर सकना कठिन है, इसे तुम भी तो समझते हो?'

गौहर ने सहज ही मान लिया—'हाँ समझता हूँ।'

एक दिन सवेरे अपनी रामायण के अशोक-वन वाले अध्याय को पढ़कर एकाएक पोथी बन्द करके मेरी तरफ ताकते हुए वह पूछ बैठा—'अच्छा, श्रीकान्त, तूने किसी को प्यार किया था?'

कल बड़ी रात तक जागकर एक राजलक्ष्मी को शायद मैंने अन्तिम पत्र लिखा था। उसमें सब कुछ था—दादाजी का हाल, पुण्टू की बदनसीबी। उन्हें जो आश्वासन दिया था कि एक जने की इजाजत लेनी है—पत्र में वह भीख भी थी। चिट्ठी भेज नहीं पाया था, मेरी जेब में ही पड़ी थी। गौहर ने हँसकर कहा—नहीं।

गौहर ने कहा—'अगर कभी मुहब्बत हो जाए तो, ऐसा दिन कभी आए तो मुझे जरूर बताना, श्रीकान्त।'

'जानकर क्या करोगे?'

'कुछ नहीं। लेकिन दो एक दिन तुम लोगों के साथ बिता आऊँगा।'

'ठीक है।'

'और रुपये की जरूरत आ पड़े तो खबर करना। अब्बा बहुत रख गए हैं।

मेरे काम न आए—शायद तुम लोगों के काम आ जाएँ।'

कहने का लहजा उसका ऐसा कि आँखों से आँसू उमड़ आने लगे। कहा—'अच्छा, यह भी बताऊँगा। मगर दुआ करो, ऐसी नौबत न आए।'

जाने के दिन गौहर ने फिर मेरा बैग अपने कन्धे पर उठाया। जरूरत नहीं थी, नवीन तो लाज से अधमरा हो गया, मगर कौन तो सुने। ट्रेन पर मुझे चढ़ाकर वह औरत की तरह रो पड़ा। बोला—'मेरे सिर की कसम, बर्मा जाने से पहले एक दिन के लिए आ जाना ताकि फिर एक बार भेंट हो जाए?'

टाल न सका। फिर एक बार आने का वायदा किया।

'कलकत्ते जाकर हाल लिखोगे, कहो?'

यह वचन भी दिया। जैसे कितनी दूर चला जा रहा हूँ जाने। कलकत्ते में अपने डेरे पर पहुँचा लगभग साँझ के समय। चौखट पर पाँव रखते ही जिससे भेंट हो गई, वह और कोई नहीं, खुद रतन था।

'अरे, तू यहाँ रतन?'

'जी। कल से ही राह देख रहा हूँ। चिट्ठी है एक।'

समझ गया मेरे उसी अनुरोध का जवाब है। कहा—'डाक से भी तो आ जाती।'

रतन ने कहा—'वह इन्तजाम खेतिहर-किसान, गरीब-गुरबों के लिए है। माँजी की चिट्ठी कोई ले आए-पिए पाँच सौ मील चलकर हाथोंहाथ न लाए तो नहीं मिलती। आप तो जानते ही हैं सब, फिर पूछते क्यों हैं?'

बाद में मालूम हुआ था, रतन की यह शिकायत झूठी थी। वह स्वयं कोशिश करके यह चिट्ठी हाथोंहाथ ले आया था। अब लगा कि गाड़ी में तकलीफ हुई, खान-पान की असुविधा हुई, इसी से उसका मिजाज बिगड़ गया। हँसकर कहा—'चल, ऊपर चल। चिट्ठी की बात फिर होगी पहले तेरे खाने का इन्तजाम कर दूँ।'

रतन ने पैरों की धूल ली। कहा—'चलिए।'

तीन

जोर की डकार लेते हुए रतन आया।

'क्यों रतन, पेट भर गया ?'

'जी हाँ। कहने को आप चाहे जो कहिए बाबूजी, कलकत्ते के बंगाली ब्राह्मण रसोइया के सिवाय पकाना कोई जानता ही नहीं। ये पछाहों महाराज जो हैं, ये तो जानवर ही हैं।'

रसोई के सम्बन्ध में किसी प्रदेश की तुलनात्मक आलोचना और तर्क करने की नौबत रतन में कभी नहीं आई। लेकिन जहाँ तक मैं उसे जानता हूँ, उससे यह समझा कि पर्याप्त भोजन पाकर वह सन्तुष्ट हुआ है, वरना पछाहीं रसोइया के बारे में वह ऐसी निष्पक्ष राय नहीं दे सकता। बोला—'गाड़ी की हरारत भी तो कम नहीं, ज़रा लोट लगाए बिना '

मैंने कहा—'ठीक तो है। कमरे में, बरामदे में, जहाँ जी चाहे सो रहो। सबेरे बात होगी।'

वह नहीं सकता, चिट्ठी के लिए क्यों तो उत्सुकता नहीं थी। ऐसा लग रहा था, उसमें जो लिखा है, वह तो जानता ही हूँ।

जाकट की जेब से रतन ने एक लिफाफा बाहर करके मुझे दिया। मुहरबन्द लिफाफा। बोला—'बरामदे की उस खिड़की के पास बिस्तर डाल लेता हूँ। मच्छरदानी की तो जरूरत ही नहीं। यह आराम क्या कलकत्ते के सिवाय और कहीं है ! चलूं · '

'समाचार तो सब ठीक है रतन ?'

रतन ने मुखड़े को गम्भीर कर लिया। कहा—'दीखता तो ऐसा ही है।' गुरुदेव की कृपा से घर का बाहर गुलजार है, अन्दर नौकर-नौकरानी, बकू बाबू, नई बहूरानी ने रोशन कर रखा है और सबके ऊपर हैं स्वयं माँजी। ऐसी गिरस्ती की निन्दा कौन करे ? मैं लेकिन जमाने से इस घर में हूँ, फिर जात का नाई—मुझे इस आसानी से भुलाना कठिन है। इसीलिए तो उस रोज स्टेशन पर मैं अपने आँसू न रोक सका। आपसे विनती की कि परदेश में नौकर की जरूरत पड़े तो मुझको खबर भेजें। मुझे मालूम है, आपकी सेवा करना भी माँ की ही सेवा करना है। उससे अपराध न होगा।'

समझ कुछ न पाया। चुप बैठा रहा।

वह कहने लगा—'अब बंकू बाबू बड़े भी हुए, पढ़-लिखकर आदमी भी हुए। शायद सोचते हैं, औरों के वश में रहने की क्या पड़ी है। वसीयत से सब ले तो चुके ही हैं। मानता हूँ, काफी हथिया लिया है, मगर वह कब तक चलेगा?' साफ फिर भी न हुई बात, लेकिन धुंधला-सा कुछ नजर आने लगा।

वह फिर बोला—'आप तो अपनी आँखों देख चुके हैं, महीने में कम-से-कम दो बार तो मेरी नौकरी जाती है। घर की हालत बुरी नहीं है। नाराज होकर चला भी जाऊँ तो चल जाए मगर जाता क्यों नहीं? नहीं जा सकता। इतना समझता हूँ कि जिनकी दया से सब हुआ है, उनके निश्वास से सब क्वार के बादल की तरह उड़ जाएगा। असल में वह माँ की नाराजगी नहीं, वह तो मेरे लिए देवता का आशीर्वाद है।'

यहाँ पाठकों को यह बता देना जरूरी है कि बचपन में रतन प्राइमरी स्कूल में पढ़ा था।

जरा रुककर रतन बोला—'इसी से माँ की मनाही पर कुछ नहीं कहता। नहीं तो घर पर मेरे थोड़ा-बहुत जो था, चचा वगैरह ने हड़प लिया। एक घर यजमान तक न छोड़ा। दो नन्हे बच्चे और उनकी माँ को छोड़ पेट की खातिर एक रोज निकल पड़ा। पूरब जनम का तप था—माँजी का सहारा मिल गया। सारा दुखड़ा सुना, पर उस समय कुछ भी न बोलीं। सालभर के बाद एक दिन विनती की, माँजी, एक बार बच्चों को देख आने को जी चाहता है, दो-एक दिन की छुट्टी । हँसकर कहा, फिर आएगा न रतन? जाने के दिन उन्होंने मुझे एक छोटी-सी पोटली थमाते हुए कहा चाचा से लड़ना-झगड़ना मत। अपनी गई जायदाद इसी से वापस करना। खोलकर देखा पोटली में पाँच सौ रुपये थे। अपनी आँखों पर ही विश्वास न हुआ—सपना तो नहीं देख रहा हूँ! अपनी उन्हीं माँजी को अब बंकू ऊँचा-नीचा सुनाते हैं, आड़-ओट में बुदबुदाते हैं। सोच लेता हूँ, इनके भी दिन लदे, माँ लक्ष्मी का आसन टला।'

मुझे ऐसी आशंका न थी। चुपचाप सुनता रहा।

लगा, रतन काफी दिनों से क्षोभ और क्रोध से भुन रहा है। बोला—'माँजी देती हैं तो दोनों हाथों उँडेलती हैं। बंकू को भी दिया है। इसलिए वह समझते हैं, मधुमक्खी के निचोड़े हुए छत्ते की कीमत ही क्या, बहुत करें तो अब उसे

जलाया ही जा सकता है। इसलिए वह लापरवाही। मगर भूरख को यह पता नहीं कि माँजी एक गहना बेच दें तो वैसे पाँच महल तैयार हो सकते हैं।'

मुझे भी मालूम न था। मुस्कराकर पूछा,—'अच्छा ? वह सब हैं लेकिन कहाँ ?'

रतन ने कहा—'उनके पास ही हैं। इतनी बेवकूफ नहीं हैं माँजी। वह आपके, सिर्फ आपके ही चरणों में अपने को उजाड़ सकती है, और किसी के नहीं। बंकू को यह नहीं मालूम है कि आपके होते माँजी को आश्रय की कमी नहीं है और रतन के रहते नौकर का अभाव नहीं। आपके हाथों से निकल जाने के बाद माँजी के कलेजे में क्या चोट लगी है, बंकू बाबू को क्या पता ? गुरुदेव ही क्या जानें।

'लेकिन मुझे तो तुम्हारी माँजी ने स्वयं विदा किया यह तो तुम जानते हो?'

रतन जीभ काटकर रह गया। उसमें इतनी विनय मैंने पहले कभी नहीं देखी। बोला—'हम नौकर ठहरे। ये बात हमें सुननी भी न चाहिए। यह झूठ है।'

रतन लोट लगाने के लिए चला गया। कल आठ बजे से पहले अब शायद उसकी देह खड़ी न होगी।

दो पते की बातें मालूम हुईं। एक यह कि बंकू बड़ा हो गया। पटने में जब उसे देखा था, तब उसकी उम्र सोलह सत्रह साल की थी। अब वह इक्कीस साल का युवक है। तिस पर चार-पाँच सालों में पढ़ लिखकर वह आदमी बन गया है। लिहाजा बचपन का वह कृतज्ञतामय स्नेह जवानी के आत्मसम्मान के बोध से सामंजस्य न रख पाए तो ताज्जुब क्या!

दूसरी खबर यह है कि न तो बंकू को न ही गुरुदेव को राजलक्ष्मी की गहरी वेदना का पता है।

मन में यही दो बातें देर तक घुमड़ती रहीं।

मुहरबन्द लिफाफे को ठीक से देख-सुनकर खोला। उसके हरूफ बहुत देखने का तो मौका नहीं मिला। लेकिन याद आया, दुष्पाठ्य चाहे न हो, अच्छे नहीं होते। लेकिन इस पत्र को उसने बहुत सम्हालकर लिखा है। शायद यह आशंका हुई हो, खोलकर मैं यों ही न डाल दूँ। आदि से अन्त तक पढ़ूँ उसे।

आचार में राजलक्ष्मी पुराने युग की है। प्रेम निवेदन की भावुकता तो दूर रही, 'प्यार करती हूँ,' यह भी उच्चारण करते कभी उसे सुना हो, यह याद नहीं

आता। उसने चिट्ठी तो मेरी प्रार्थना को मानते हुए ही लिखी थी, अनुमति दी थी। फिर भी जाने क्यों पढ़ने में डर-सा लगने लगा। उसके बचपन की बात याद आई। गुरुजी के यहाँ पढ़ाई खत्म हो चुकी थी। बाद में घर बैठे कुछ पढ़ा-लिखा हो शायद। इसीलिए उसके पत्र में भाषा का इन्द्रजाल है। चलते शब्दों की झंकार, पद-विन्यास की मधुरता की आशा करना अन्याय है। चलते शब्दों से मन के भाव को कह देने के सिवाय वह और करेगी क्या? लेकिन पत्र जो पढ़ने लगा, तो कुछ देर के लिए तो और किसी बात का ख्याल ही न रहा। पत्र लम्बा न था, मगर भाषा और शैली जैसी सहज सोची थी वह भी न थी। मेरे निवेदन का जवाब उसने इस प्रकार दिया—

'प्रणाम के अनन्तर दासी का निवेदन,

'तुम्हारी चिट्ठी को सौ बार पढ़ गई, मगर तो भी यह न सोच पाई कि तुम पागल हुए हो या मैं पागल हुई हूँ। तुमने शायद यह सोचा है कि मैंने सहसा तुम्हें कहीं पड़ा पा लिया। मैंने तुम्हें कहीं पड़ा हुआ नहीं उठा लिया है, पाया है बड़े तप से, बड़ी आराधना से। इसलिए विदा देने का अधिकार तुमको नहीं, मुझे त्याग करने का मालिकाना हक तुम्हारे हाथों नहीं है।

'फूल के बदले बैंची की माला पहनाकर छुटपन में ही तुम्हें वरण किया था, याद नहीं है? काँटे से छिलकर हाथ से लहू बहता था, ऐसी माला का वह रूप तुम पहचान नहीं सके; बालिका की पूजा की भेंट तुम्हारे गले में तुम्हारी छाती पर लहू की लकीरों से जो लिखती थी, वह तुम्हें दिखाई न दी, लेकिन जिनकी निगाहों में कुछ भी परे नहीं, मेरा वह निवेदन उनके चरण-कमलों में पहुँच गया था।

'उसके बाद संकट की रात आई, काले बादलों ने मेरे आसमान की चाँदनी को डुबा दिया। लेकिन वह मैं ही थी या और कोई, इस जीवन में वास्तव में ही वे बातें घटी थीं या सपने देख रही हूँ—यह सोचते हुए बहुत बार डर लगता है, पागल तो नहीं हो जाऊँगी। ऐसे में सब छोड़कर जिनका ध्यान करती हूँ, उनका नाम कहा नहीं जा सकता। किसी से कहना भी नहीं चाहिए। उन्हीं की दया मेरे लिए जगदीश्वर की दया है। इसमें भूल नहीं, सन्देह नहीं। यहाँ मैं निडर हूँ।

'हाँ, बताया कि उसके बाद दुर्दिन की रात आई—चेचक ने दोनों आँखों की ज्योति बुझा दी। लेकिन आदमी का सम्पूर्ण परिचय क्या यही है? उस अटूट

ग्लानि के ठोस आवरण से बाहर क्या उसका कुछ भी नही ?

'है। अपराधो के बीच-बीच मे बार-बार मैंने उसे देखा है। ऐसा नही होता, पिछले दिनो का राक्षस अगर मेरे भविष्य के सारे मगल को एकबारगी निगल लेता, तो तुम्हे फिर से पाती कैसे ? मेरे देवता तुम्हें मेरे हाथों वापस दे जाते क्या ?

'मुझसे तुम चार पाँच साल बडे हो, तो भी तुम्हें जो सोहता है, वह मुझे नहीं सोहता। बगाली घर की कन्या हूँ, जीवन के सत्ताईस साल गुजार कर आज अब जवानी का दावा नही करती। मुझे तुम गलत न समझना--जितनी अधम क्यो न होऊँ, वह बात अगर नाम को भी मेरे मन मे आए तो इससे बडी शर्म मेरे लिए और नही। बकू जीता रहे, वह बडा हो गया, उसकी बहू आई--तुम्हारी शादी के बाद मैं उनके सामने निकलूँगी कैसे ? यह अपमान कैसे सहूँगी ?

'कभी बीमार पड जाओगे तो तुम्हे देखेगी कौन--पुण्टू ? और मैं तुम्हारे घर के बाहर से ही नौकरो से खोज-पूछ करके लौट आऊँगी ? इसके बाद भी मुझे जीने को कहते हो ?

'शायद यह पूछो, तो क्या मैं तमाम जिन्दगी यो अकेले ही बिताऊँ ? सवाल जो भी हो, इसका जवाब देने की जिम्मेदारी मेरी नही, तुम्हारी है। हाँ, सोच ही न सको यदि, अक्ल अगर इतनी ही घिस गई हो तो मैं उधार दे सकती हूँ, चुकाना नही पडेगा, लेकिन इस कर्ज को नाकबूल न करना।

'तुम सोचते हो, गुरुदेव ने मुझे मुक्ति का मन्त्र दिया है, शास्त्र ने बताया है राह का पता, सुनन्दा ने दी है धर्म की मति और तुमने महज भार ही दिया है, बोझ दिया है।

'मैं पूछती हूँ, तुम्हे तो मैंने अपनी तेईस की उम्र मे पाया था--उससे पहले ये सब थे कहाँ ? इतना सोच सकते हो और इसे नही सोच सकते ?

'आशा थी, कभी मेरे पापो का क्षय होगा, मैं निष्पाप हूँगी। यह लोभ आखिर किसलिए ? मालूम है ? स्वर्ग के लिए नही--स्वर्ग नही चाहिए मुझे। मेरी साध है, मरने के बाद जिसमे फिर जन्म ले सकूँ। समझ सके, इसका क्या मतलब है ?

'सोचा था, पानी का प्रवाह कदोड हो गया है, उसे स्वच्छ करना ही पडेगा। लेकिन मेरा उत्स ही अगर सूख जाए तो रहा मेरा जप-तप, रहे गुरुदेव, रह गई सुनन्दा।

'यों स्वेच्छा से मरना मैं नहीं चाहती, लेकिन अगर तुमने मेरे अपमान का मनसूबा बाँधा है, तो बाज आओ उससे। तुम विष दोगे तो ले लूँगी, मगर वह नहीं ले सकती। क्योंकि मुझको जानते हो, इसलिए बता देती हूँ कि जो सूरज डूबेगा उसके फिर से उगने के इन्तजार का अब समय नहीं। इति—

राजलक्ष्मी'

जान में जान आई। कठोर अनुशासन की चिट्ठी लिखकर एक ओर से उसने मुझे एकबारगी बचा लिया। जीवन में इस विषय में और कुछ सोचने को ही न रहा। लेकिन यही समझा कि मुझे क्या नहीं करना है, क्या करना है, इसके बारे में राजलक्ष्मी कतई मौन रही। शायद हो कि इस पर फिर कभी उपदेश देगी या मुझी को बुलवा लेगी या कि अभी जो इन्तजाम हुआ, वही बहुत दुरुस्त है। और इधर दादाजी शायद कल ही आ धमकेंगे—दिलासा दे आया हूँ कि चिन्ता की बात नहीं, इजाजत मिलने में दिक्कत न होगी। लेकिन आने के बाद जो नसीहत मिली, यह बेखटके इजाजत ही है! रतन नाई के हाथों उसने दूल्हे का मौर नहीं भेज दिया, यही गनीमत!

गाँव के अपने घर में कन्या पक्ष की ओर से ब्याह का आयोजन जरूर हो रहा होगा। पुन्टु के अपने, सगे लोग कोई-कोई आ भी चुके होंगे और वह बेचारी जवान लड़की इतने दिनों की लानत-मलामत के बाद अब कुछ आदर का मुँह देख रही होगी। दादाजी को कहना क्या होगा, जानता हूँ, लेकिन कैसे कहूँगा, यही नहीं सोच सका। उनकी सख्त ताकीद और बेहया सूझ तथा वकालत की याद मन में सोच हृदय तीखा हो उठा, साथ ही उनके नाकामयाब लौट जाने पर हताशा में खीझे परिजनों द्वारा उस अभागिन लड़की के सताए जाने की सोचकर भी हृदय उतना ही पीड़ित होने लगा। लेकिन चारा क्या है! बिस्तर पर बड़ी रात तक जगता रहा। पुन्टु की बात भूलते देर न लगी, पर रह-रहकर गंगामाटी की बात याद आने लगी। वह श्रीहीन छोटी बस्ती कभी भुलाने की नहीं। इस जीवन में गंगा-यमुना कभी वहीं मिलीं और कुछ दिन दोनों अगल-बगल बहती रहीं। एक दिन वहीं से फिर अलग हो गईं। साथ रहने के वे क्षणस्थायी दिन श्रद्धा से डूबे, स्नेह से भीगे और आनन्द से चमकते हुए हैं और फिर मौन वेदना से उतने ही स्तब्ध थे। जुदाई के दिन भी प्रवंचना से एक दूसरे को कलंकित नहीं किया। हानि-लाभ के नाहक विवाद से गंगामाटी के शान्त घर को धुएँ से नहीं भर पाए।

वहाँ के एक-एक को आशा है कि हम फिर वहाँ आएँगे, शुरू हो जाएगी वैसी ही खुशी की चुहल, मालकिन की दीन-सेवा। वे स्वप्न में भी नहीं सोचते कि यह उम्मीद मिट चुकी है, सुबह की मल्लिका शाम को मौन हो गई।

आँखों में नींद नहीं। जैसे-जैसे उनींदी रात भोर की ओर बढ़ने लगी, मन में होने लगा कि यह रात जिसमें बीते ही नहीं और यही एक चिन्ता मुझे मोहाच्छन्न किए रहे।

पिछली स्मृतियाँ ताजा होने लगीं और वीरभूमि जिले की बस्ती का वह छोटा-सा घर मुझ पर भूत-सा सवार हो आने लगा। हर पल काम-काज में मशगूल राजलक्ष्मी के स्निग्ध दोनों हाथ आँखों में तिर-तिर आने लगे—जीवन में ऐसी परितृप्ति का स्वाद कभी मिला हो, ऐसा स्मरण नहीं आता।

अब तक पकड़ाई में ही पड़ता रहा, पकड़ नहीं सका। आज लेकिन राजलक्ष्मी की सबसे बड़ी कमजोरी का पता चल गया। उसे मालूम है कि मैं तन्दरुस्त नहीं हूँ किसी भी दिन बीमार पड़ सकता हूँ। और वैसे में कहाँ की कौन पुण्टू मेरी सेज अगोरे बैठी रहेगी, और राजलक्ष्मी का कोई हाथ न होगा, इस दुर्घटना को वह मन में जगह नहीं दे सकती। दुनिया की हर चीज से हाथ धोने को वह तैयार है, इससे नहीं, यह गैरमुमकिन है। मौत कुछ भी नहीं—इसके लिए उसका जप-तप रहा, रहे गुरुदेव। वह झूठा भय उसने मुझे पत्र में नहीं दिखाया।

सुबह की तरफ शायद आँख लग गई थी। रतन के पुकारने पर नींद खुली तो वेला हो आई थी। उसने बताया, घोड़ागाड़ी से कोई बूढ़े सज्जन आए हैं।

दादाजी होंगे। लेकिन गाड़ी से? सुबह हुआ।

रतन ने कहा—'साथ में सोलह-सत्रह साल की एक लड़की है।' पुण्टू होगी। वह बेहया आदमी उसे यहाँ तक घसीट लाया। खीझ से प्रात काल की किरण मलिन हो गई। कहा—'उन्हें कमरे में बिठाओ रतन; मैं मुँह-हाथ धो लूँ।' और मैं स्नानघर की तरफ चला गया।

घण्टेभर में आया तो दादाजी ने ही मेरी आवभगत की। गोया मेहमान मैं ही हूँ—'आओ-आओ, भैया। सेहत तो ठीक है?'

मैंने प्रणाम किया। दादाजी बोले—'पुण्टू, अरे, कहाँ गई?'

पुण्टू खिड़की से रास्ता देख रही थी। आकर मुझे नमस्ते किया।

दादाजी बोले—इसकी फूफी ब्याह से पहले एक बार इसे देखना चाहती है। फूफा बड़े हाकिम हैं। पाँच सौ रुपया वेतन पाते हैं, बदली होकर डायमण्ड हारबर आए हैं। फूफी का घर छोड़कर कहीं आना-जाना कठिन है, इसीलिए साथ ले आया। सोचा, पराये हाथों सौंप देने से पहले एक बार भेंट करा लाऊँ। दादी ने दुआ दी, पुण्टू तेरा भी भाग्य वैसा ही हो।

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही वे बोल पड़े—मैं मगर सहज ही छोड़ने वाला नहीं हूँ भैया। हाकिम हो या जो हो अपने तो हैं—खड़े होकर काम करा दें। जानते ही हो, शुभ काम में बाधा बहुत है। शास्त्र कहता है, श्रेयांसि बहुविघ्नानि, वैसे एक आदमी खड़े रहें तो चूँ भी नहीं कर सकता। गाँव-घर के लोगों का भरोसा क्या, सब कर सकते हैं। लेकिन हाकिम ठहरे, इनका रौब ही और है।'

पुण्टू के फूफा हाकिम हैं, बात यह अवान्तर नहीं, मतलब है इसका।

रतन नया हुक्का ले आया और चिलम चढ़ाकर दे गया। दादाजी ने जरा गौर किया और बोले—'इसे कहीं देखा है, ऐसा लग रहा है ?'

रतन झट बोल उठा—'जी हाँ, देखा है। गाँव पर जब बाबूजी बीमार थे।'

'ओ ! तभी तो कह रहा हूँ, शक्ल पहचानी-सी लग रही है।'

'जी हाँ।'—रतन चला गया।

दादाजी का चेहरा बेहद गम्भीर हो गया। आदमी बड़े धूर्त हैं—शायद सब कुछ याद हो आया उन्हें। तम्बाकू पीते-पीते बोले—'आते वक्त पत्र दिखाया था। दिन बड़ा शुभ है। चाहता हूँ आशीर्वाद हो ही जाए। नये बाजार में सब कुछ मिलता है। नौकर को भेज दो न। क्यों ?'

यकायक जवाब न मिला। किसी तरह से कहा—'नहीं।'

'नहीं ? नहीं क्यों ? बारह बजे तक तो साइत बड़ी अच्छी है। पत्रा है ?

मैंने कहा, पत्रा का क्या होगा। ब्याह मैं नहीं करूँगा।'

दादाजी ने हुक्के को दीवाल से लगाया। रतन देखकर समझ गया, जंग के लिए तैयार हो रहे हैं। गले को खूब शान्त और गम्भीर करके कहा—'तैयारियाँ एक प्रकार से पूरी हो ही चुकी हैं। लड़की की शादी की बात है, कोई मजाक नहीं। जबान देकर अब नकारने से कैसे काम चलेगा ?'

पुण्टू उधर मुँह किए खिड़की पर खड़ी थी और दरवाजे की ओट से रतन सब सुन रहा था।

मैंने कहा—वचन नहीं दे आया था—यह मैं भी जानता हूँ, आप भी जानते हैं। मैंने कहा था, एक जने की अनुमति मिले तो राजी हो सकता हूँ।'

'अनुमति नहीं मिली?'

'नहीं।'

दादाजी एक पल चुप रहकर बोले—'पुण्टु के पिताजी कुल मिलाकर एक हजार देंगे। जोर-शोर करो तो सौ-दो सौ और बढ़ सकते हैं। क्यों?'

रतन ने अन्दर आकर कहा—'चिलम ताजा कर दूँ?'

'कर दो। तुम्हारा नाम क्या है भला?'

'रतन।'

'रतन? बड़ा अच्छा नाम है। रहते कहाँ हो?'

'काशी में।'

'काशी में? यानी देवीजी आजकल काशी में रहती हैं? करती क्या हैं वहाँ?'

रतन ने कहा—'यह जानने की आपको क्या जरूरत?'

दादाजी मुस्कराकर बोले—'अरे नाराज क्यों होते हो भैया, नाराजगी की तो इसमें कोई बात नहीं। अपनी ही बस्ती की हैं न, इसी से जानने की इच्छा होती है। हो सकता है, उनके पास जाने की ही नौबत आ पड़े। मजे में है न?'

रतन जवाब दिए बिना ही चला गया। जरा देर में चिलम फूँकते हुए आया और हुक्का उन्हें थमाकर लौटने लगा कि दो-एक दम लगाकर ही दादाजी उठ खड़े हुए। बोले—'जरा रुक जाओ। पाखाना कहाँ है, दिखाते जाओ। सुबह हो चल पड़ा था न।' वे रतन से पहले ही तेजी से निकल पड़े।

पुण्टु ने इधर मुड़कर कहा—'दादाजी की बात पर आप यकीन मत करें। बाबूजी हजार रुपये कहाँ से लाएँगे कि आपको देंगे? दीदी की शादी भी उन्होंने माँ के गहनों से की—नतीजा यह है कि ससुराल वाले दीदी को लिवा नहीं जाते हैं। कहते हैं, उस लड़के की दूसरी शादी कर देंगे।'

अब तक पुण्टु ने इतनी बात मुझसे न की थी। अचरज-सा हुआ मुझे। पूछा—'सच ही तुम्हारे पिता हजार रुपये नहीं दे सकते?'

पुण्टु ने गर्दन हिलाकर कहा—'हर्गिज नहीं। कुल चालीस रुपये तो रेल में महावार मिलते हैं उन्हें। स्कूल की फीस के लिए छोटे भाई का पढ़ना न हो

सका। बेचारा कितना रोता है'—कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं।

मैंने पूछा—'क्या सिर्फ रुपये के लिए ही तुम्हारी शादी नहीं हो रही है?'

पुण्टु ने कहा—'जी हाँ, रुपये के लिए। गाँव के अमूल्य बाबू से पिताजी ने पक्का रिश्ता किया था। अमूल्य बाबू की बेटियाँ ही उमर में मुझसे बड़ी हैं। माँ ने कहा, यह शादी होगी तो डूब मरूँगी। खैर। रुक गई शादी। अब पिताजी शायद किसी की न सुनेंगे, वहीं कर देंगे ब्याह।'

मैंने पूछा—'पुण्टु, मैं तुम्हें पसन्द हूँ?'

शर्म से सिर झुकाकर उसने जरा गर्दन हिलाई।

'लेकिन मैं तो तुमसे चौदह-पन्द्रह साल बड़ा हूँ?'

पुण्टु ने इसका कोई जवाब नहीं दिया।

पूछा—'तुम्हारा और कहीं रिश्ता नहीं हुआ था?'

पुण्टु ने खिलकर कहा—'हुआ था! आप अपने यहाँ के कालीदास बाबू को जानते हैं? उन्हीं के छोटे लड़के से। बी॰ ए॰ पास किया है। उम्र में मुझसे कुछ ही बड़ा है। नाम है शशधर।'

'वह तुम्हें पसन्द है?'

पुण्टु फिक् करके हँस पड़ी।

मैंने कहा—'मगर शशधर अगर तुम्हें पसन्द न करे?'

पुण्टु ने कहा—'वाह! वह तो हरदम हमारे घर के सामने चक्कर काटता था। दादीजी मजाक में कहती थीं—ऐसा मेरे ही लिए करता था।'

'लेकिन शादी फिर हुई क्यों नहीं?'

पुण्टु का चेहरा मुरझा गया। बोली—'उसके पिता ने हजार रुपये का गहना और हजार रुपया नकद माँगा। खर्च भी पाँच सौ से कम क्या पड़ता? इतना तो जमींदार की लड़की के लिए ही सम्भव है। है न? वे बड़े आदमी हैं, बहुत रुपया है। मेरी माँ ने उनके यहाँ जाकर बहुत निहोरा-विनती की, मगर उन्होंने हर्गिज न माना।

'शशधर ने कुछ नहीं कहा?'

'नहीं, कुछ नहीं कहा। वह ज्यादा बड़ा भी तो नहीं—माँ-बाप जिन्दा हैं।'

'ठीक है। शशधर की शादी हो गई?'

पुण्टु ने सकुचाकर कहा—'अभी नहीं हुई। सुना है, जल्दी ही होगी।'

'लेकिन वहाँ शादी होने पर घर वाले अगर तुम्हें प्यार न करें ?'

'प्यार न करें ? क्यों ? मैं रसोई जानती हूँ, सिलाई जानती हूँ—गिरस्ती का सब काम कर सकती हूँ। मैं अकेले ही उनके सब काम करूँगी।'

इससे ज्यादा बंगाली लड़कियाँ जानती भी क्या हैं ! शारीरिक श्रम से ही वे सारे अभावों को भरना चाहती है। पूछा—'उनके सब काम करोगी न ?'

'जरूर करूँगी।'

'तो तुम अपनी माँ से जाकर कहो, श्रीकान्त भैया ढाई हजार रुपया भेज देंगे।'

'आप देंगे ? ब्याह के दिन आप आएँगे न ?'

'हाँ। आऊँगा।'

दरवाजे पर दादाजी की आहट मिली। धोती के छोर से मुँह पोंछते हुए वे अन्दर आए। बोले—'वाह, पाखाना तो पाखाना ही है। लेट जाने को जी चाहता है। रतन कहाँ गया, जरा फिर से चिलम चढ़ा देना एक बार।'

चार

संसार का सबसे बड़ा सत्य यह है कि आदमी को सदुपदेश देने से कोई लाभ नहीं होता। अच्छी सलाह कोई भी नहीं सुनता। लेकिन चूँकि सत्य है इसलिए अचानक इसका व्यतिक्रम भी होता है। वही बताऊँ।

दोनों निशोरकर भरपूर आशीर्वाद देकर दादाजी चले गए; पुण्टू ने चरणों की काफी धूल लेकर आज्ञा का पालन किया—लेकिन उनके चले जाने के बाद मेरे पछतावे की सीमा न रही। सारा मन विद्रोही होकर मुझे धिक्कारने लगा, आखिर मैं हूँ कौन कि परदेश का दुःख काटकर जो थोड़ा-बहुत जोड़ा है, वह इनको दे दूँ ? झोंक में कह बैठा, इसलिए दाता कर्ण बनना ही पड़ेगा, इसके क्या मानी है ? जाने कहाँ की कौन यह लड़की, ट्रेन में पेड़ा-दही खिलाकर इसने तो मुझे अच्छा फाँसा ! एक फन्दा छुड़ाने गया और दूसरे में गिर गया। छुटकारे का उपाय सोचते हुए दिमाग गर्म हो उठा और उस बेचारी लड़की पर मेरी खीझ और क्रोध की सीमा न रही। और ये दादाजी ! इच्छा होने लगी कि वह कमबख्त घर ही न पहुँच पाए, रास्ते में ही चल बसे। लेकिन यह आशा निर्मूल थी। जानता था कि वह हर्गिज नहीं

मरेगा और उसने जब मेरा डेरा देख लिया है तो फिर आएगा और रुपया वसूल करके ही दम लेगा। हो सकता है, इस बार उस हाकिम फूफाजी को साथ लाए। एक ही उपाय है—स पलायति। टिकट के लिए गया, लेकिन जहाज में जगह नहीं मिली—सवेरे टिकटें बिक चुकी थीं। लाचार दूसरे मेल की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सात-आठ दिन।

दूसरा उपाय था, डेरा बदल देना कि दादाजी को पता न चले। मगर इतनी जल्दी अच्छी जगह मिले कहाँ? लेकिन हालत ऐसी थी कि भली-बुरी जगह का सवाल ही बेकार—पथारण्य तथा गृहम्—शिकारी के हाथों से जान बचाने की पड़ी थी।

डर था, मेरे छिपे उद्वेग को रतन न ताड़ ले। मुसीबत मगर यह थी कि उसे खिसकने की इच्छा न थी, काशी से कलकत्ता उसे ज्यादा अच्छा लगा था। मैंने पूछा—'खत का जवाब लेकर तुम क्या बस ही आना चाहते हो रतन?'

रतन तुरन्त बोला—'जी नहीं। दोपहर में ही माँजी को पत्र लिख दिया, मुझे दो-चार दिन देर लगेगी। मरी और जिन्दा सोसाइटी देखे बिना नहीं लौटता। फिर आने कब आना हो।'

मैंने कहा—'लेकिन उन्हें तो घबराहट हो सकती है—'

'जी नहीं। नाड़ी की हरारत गई नहीं। मैंने लिख दिया है।'

'और चिट्ठी का जवाब?'

'जी, दीजिए न। बस रजिस्ट्री कर दूँगा। माँजी की चिट्ठी वहाँ यमराज भी खोलने का साहस नहीं कर सकते।'

चुप बैठ गया। इस कमबख्त हुक्काम के आगे एक न चली। प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

जाते समय दादाजी रुपये की बात का प्रचार कर गए। यह न समझें कि उदारता या मन की सरलता से; बल्कि गवाह बना गए।

रतन ने ठीक वही चर्चा छेड़ी। कहा—'कुछ ख्याल न करें तो एक बात कहूँ बाबूजी!'

'कौन-सी बात?'

आगा-पीछा करके वह बोला—ढाई हजार रुपये कुछ कम नहीं होते—ये हैं कौन कि उनकी लड़की की शादी में आप आपसे इतनी रकम का वचन दे बैठे

और ये दादा जी हों, आदमी भले नहीं हैं। उनसे यह कहना ठीक नहीं हुआ।'

उसकी बात से जितनी खुशी हुई, मन को उतना ही बल मिला। यही चाह रहा था। फिर भी आवाज में सन्देह का पुट चढ़ाकर बोला—'ऐसा कहना ठीक नहीं हुआ, क्यों रतन ?'

रतन बोला—'बेशक ठीक नहीं हुआ। रकम कम है उतनी ? और फिर किसलिए ?'

'दुरुस्त। मैंने कहा, तो फिर नहीं दूँगा।'

अचरज से मुझे ताकते हुए वह बोला—'मगर वह क्यों छोड़ने लगा ?'

मैंने कहा—'छोड़ेगा नहीं तो करेगा क्या ? लिखा-पढ़ी तो नहीं की है।'

'फिर तब तक मैं यहाँ रहूँगा या वर्मा चला जाऊँगा, यही कौन जानता है ?'

रतन जरा देर चुप रहकर हँसा। बोला—'उस बुड्ढे को आपने पहचाना नहीं बाबूजी—वैसों को लाज-शर्म, अपमान कुछ भी नहीं। रो-धोकर भीख के रूप में या डरा-धमकाकर जबर्दस्ती—जैसे भी हो, रुपया वह लेकर ही रहेगा। आपसे भेंट न होगी तो उस लड़की के साथ माँजी के पास काशी पहुँचकर उनसे वसूल कर लेगा। माँजी को बड़ी शर्म आएगी, आप यह इरादा छोड़ दें।'

सुनकर स्तब्ध रह गया। रतन मुझसे कहीं ज्यादा बुद्धिमान है। निरर्थक आकस्मिक दया के हठ का जुर्माना मुझे भरना ही पड़ेगा। कोई उपाय नहीं।

रतन ने गवई दादाजी को पहचानने में भूल नहीं की, यह बात तब समझ में आई जब चौथे दिन दादाजी आ धमके। मैंने यह सोचा था कि हाकिम फूफा जी भी आएँगे—लेकिन नहीं, अकेले ही आए। बोले—'दसियों गाँवों में धन्य-धन्य की धूम मच गई है भैया, सब ही कहते हैं कि कलजुग में ऐसा कभी नहीं सुना। गरीब ब्राह्मण की नैया को इस तरह पार करते किसी ने किसी को नहीं देखा।'

पूछा—'शादी कब है ?'

बोले—'इसी महीने की पच्चीस तारीख को। सिर्फ दस दिन बच रहे हैं। कल बात पक्की होगी। तीन बजे के बाद साइत ठीक नहीं, इसलिए उसके पहले ही सब कर लेना पड़ेगा। मगर तुम्हारे गए बिना कुछ न होगा—सब बन्द। यह लो पुण्टू की चिट्ठी। अपने हाथों लिखकर भेजी है। मगर यह भी कह रक्खूँ, जो रतन तुमने गँवाया, उसका जोड़ा नहीं मिलने का।'—दादाजी ने एक मुड़ा हुआ पीला-सा कागज मुझे दिया।

कौतूहलवश चिट्ठी को पढ़ना चाहा। दादाजी हठात् एक लम्बी उसाँस लेकर बोले—'पैसा होने से क्या, कालिदास आदमी बड़ा नीच है—चमार। चक्षुलज्जा नाम की चीज उसे है ही नहीं। रुपये सब नकद ही देने पड़ेंगे—गहने-पात वे खुद सुनार से गढ़वा लेंगे। उसे किसी पर भरोसा नहीं, मुझ पर भी नहीं।'

सचमुच आदमी बड़ा बुरा है, दादाजी तक पर विश्वास नहीं—ताज्जुब! पुण्टू ने स्वयं चिट्ठी लिखी थी। एक-दो पन्ना नहीं, चार-चार पन्ने—घनी लिखावट। चारों पन्ने में कातर निहोरा। गाड़ी पर राँगा दीदी ने कहा भी था, उसकी चिट्ठी के आगे आजकल का नाटक नावल मात। आजकल का क्यों, सब दिन का, सब काल का। इसी लिखने के बल पर नन्दरानी का पति सातवें दिन चौदह दिन की छुट्टी लेकर आ पहुँचा था, नवीन हो गया।

मैं भी दूसरे दिन उनके साथ चल पड़ा। रुपये मैंने साथ ले लिए हैं, बहाना नहीं कर रहा हूँ—दादाजी ने यह आँखों देख लिया। बोले—'रास्ता चलिए चुनकर, रुपया लीजिए गिनकर। हम आखिर देवता तो हैं नहीं, भूल होते क्या लगती है!'

बेशक! रतन रात ही काशी लौट गया। खत का जवाब भेज दिया—तथास्तु। ठीक नहीं है इसलिए ठिकाना नहीं लिखा। अनुरोध किया कि इस त्रुटि को वह माफ करे।

समय पर गाँव पहुँचा। घर भर की फिक्र दूर हुई। आदर-सत्कार जो मिला वह बताने के शब्द नहीं।

बात पक्की होने के सिलसिले में कालिदास बाबू से परिचय हुआ।

जैसा सुना, वैसा ही दम्भी। उन्हें बहुत धन है, हर समय हर को यह याद दिलाने के सिवा उन्हें दूसरा कोई कर्तव्य भी है, ऐसा नहीं लगा।

सारी अपनी कमाई। गर्व साथ बोले—'जनाब, भाग्य पर मुझे विश्वास नहीं, जो करता हूँ, अपने बाहुबल से। देवी-देवता से दया की भीख मैं नहीं माँगता। दैव की दुहाई कायर देता है।'

धनी और तालुकेदार के नाते गाँव के प्राय सभी आए थे। सभी के वे महाजन भी हैं—जुल्मी महाजन—सो सबने तुरन्त उनकी बात पर हामी भरी। तर्करत्नजी ने कौन-सा तो एक श्लोक पढ़ा और अगल-बगल में दो-एक पुरानी कहानी भी उनकी हो गईं।

अपरिचित और मामूली आदमी समझकर उन्होंने कटाक्ष से मुझे देखा। रुपये

के शोक से मेरा जी जल रहा था, वह नजर मुझे बर्दाश्त न हुई। मैं अचानक बोल उठा—'आपका बाहुबल कितना है, यह मैं नहीं जानता, मगर रुपया कमाने में दैव और भाग का जोर जबर्दस्त है, यह मैं भी मानता हूँ।'

'मतलब आपका ?'

मैंने कहा—'इसका मतलब मैं खुद हूँ। दुल्हे को भी नहीं चीन्हता। दुलहिन को भी नहीं, लेकिन रुपये खर्च मेरे हो रहे हैं और वे जा रहे हैं आपके बक्से में। भाग्य इसे नहीं तो और किसे कहते हैं ? आपने अभी-अभी कहा, देवी-देवता की दया का दान नहीं लेते लेकिन आपके बेटे की अँगूठी से लेकर आपकी बहू के गले का हार तक मेरे ही अनुग्रह के दान से बनेगा। खान-पान का खर्च भी शायद मुझी को जुटाना पड़े।'

घर में बिजली गिरने से भी लोग शायद इतना नहीं घबरा जाते। दादाजी ने क्या-क्या तो कहने की कोशिश की, लेकिन कुछ भी समझने लायक साफ न हो सका। कालिदास बाबू आग-बबूला होकर बोले—'रुपये आप दे रहे हैं, यह मैं कैसे मानूं ? और दे भी क्यों रहे हैं ?'

मैंने कहा—'दे क्यों रहा हूँ, यह आप न समझेंगे, आपको समझाना भी नहीं चाहता। इलाके भर के लोग जान गए कि रुपये मैं दे रहा हूँ, सिर्फ आपने ही नहीं सुना ? लड़की की माँ आप लोगों के पैरों पड़ी, निहोरा विनती की, लेकिन आपने बी ए पास लड़के की कीमत ढाई हजार से फूटी पाई कम नहीं की। लड़की का बाप चालीस रुपल्ली नौकरी करता है, उसे चालीस पैसे देने की फुरसत नहीं—आपने यह नहीं सोचा कि एकाएक उसके पास लड़के को खरीदने के लिए इतने रुपये कहाँ से आ गये ? खैर, लड़का बेचकर रुपये बहुतेरे लोग लेते हैं, आप भी ले रहे हैं यह कोई गुनाह नहीं। लेकिन सारे गाँव को बुलाकर आइन्दे रुपयों का इतना गर्व न दिखाएँ और यह भी याद रक्खें कि एक बाहरी आदमी की भीख के रुपयों से अपने लड़के का ब्याह किया है।'

उद्वेग और भय से सबका चेहरा स्याह पड़ गया। सबको लगा अब खामखा ही कुछ होकर रहेगा। फाटक बन्द करवा कर कालिदास बाबू पीटे बिना किसी को घर नहीं वापिस जाने देंगे।

लेकिन कुछ देर चुप बैठे रहे। उसके बाद बोले—'रुपये मैं नहीं लूँगा।'

मैंने पूछा, 'यानी आप लड़के की शादी यहाँ नहीं करेंगे ?'

कालिदास बाबू ने सिर हिलाकर कहा, 'नहीं-नहीं। मैंने ज़बान दी है, उसके खिलाफ नहीं हो सकता। कालिदास मुखर्जी बात देकर नहीं बदल सकता। आपका नाम ?'

दादाजी ने जल्दी-जल्दी मेरा परिचय दिया।

कालिदास बाबू पहचान गए। बोले—'ओ! इसी के पिता ने एक बार मेरी फौजदारी चलाई थी न!'

दादाजी बोले—'जी हाँ। आप कुछ नहीं भूलते। यह उसी का लड़का है। रिश्ते में मेरा भी पोता लगता है।'

कालिदास बाबू खुश होकर बोले—'अच्छा! मेरा बड़ा लड़का ज़िन्दा होता तो इतना ही बड़ा होता। गदाधर के ब्याह में आना पड़े। मेरी ओर से न्योता रहा।'

गदाधर वहीं था। कृतज्ञता-भरी आँखों से एक बार मेरी तरफ ताककर ही उसने नज़र झुका ली।

मैंने उन्हें प्रणाम करके कहा—'मैं जहाँ भी रहूँ बाबू, दावत के दिन नई बहू के हाथ की रसोई ज़रूर खा जाऊँगा। आपको मैंने कड़वी बातें कहीं, इसके लिए क्षमा करेंगे।'

कालिदास बाबू बोले—'बातें कड़वी ज़रूर कहीं, मगर मैंने माफ भी कर दिया। लेकिन तुरन्त नहीं जा सकते तुम, इस मौके पर कुछ खान-पान का इन्तज़ाम कर रखा है, खाकर जाना पड़ेगा।'

'जैसी आज्ञा।' कहकर मैं बैठ गया।

उस दिन सब कुछ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। अध्याय के आरम्भ में मधुवंश के बारे में जिस नियम की चर्चा की थी, कुण्डू का विवाह उसी के व्यतिक्रम का एक उदाहरण है। दुनिया में अपनी आँखों से मैंने यही देखा। क्योंकि किसी अभागी लड़की के बाप का कान मलने से ही जहाँ रुपये मिलते हैं, वहाँ वैष्णव बनकर हाथ जोड़ने से बाप के जबड़े से रिहाई नहीं मिलती। बेरहम निर्दयी कहकर गाली देने से, भाग्य को कोसने से क्षोभ थोड़ा मिट सकता है, लेकिन प्रतिकार नहीं होता। क्योंकि इसका प्रतिकार दुलहे के बाप के हाथों नहीं, लड़की के बाप के ही हाथों है।

पाँच

गौहर को खोजने गया, तो नवीन से भेंट हो गई। मुझे देखकर वह खुश हुआ, लेकिन मिजाज बड़ा रूखा। बोला—'उन वैष्णवियों के अड्डे पर तलाश करें। कल से तो घर ही नहीं आए।'

'क्या कह रहे हो नवीन! यह वैष्णवी कहाँ से आ जुटी?'

'एक? पूरी जमात आ जुटी है।'

'कहाँ रहती हैं वे?'

'मुरारीपुर के अखाड़े में।' इसके बाद लम्बी साँस लेकर नवीन ने कहा—'हाय, न वह राम रहे, न वह अयोध्या रही अब। बूढ़े मथुरादास बाबाजी गुजर गए, उनकी गद्दी पर आ बैठा एक छोकरा वैरागी। उसके कई गुण्डे सेवा-दासी हैं। द्वारकादास वैरागी से अपने बाबू का बड़ा मेल है—प्रायः वहीं रहते हैं।'

मैंने अचरज से पूछा—'तुम्हारे बाबू तो लेकिन मुसलमान हैं, वैरागी उन्हें अपने अखाड़े में क्यों रहने देंगे?'

नवीन ने दुःख से कहा—'इन बाउल-बाऊलों को भी धरम अधरम का ज्ञान है? जात पाँत नहीं मानते ये। जो उनसे सटते हैं, उन्हीं को अपना लेते हैं।'

मैंने पूछा—'पिछली बार मैं यहाँ छः-सात दिन रह गया। लेकिन गौहर ने कभी तो उनका जिक्र नहीं किया?'

नवीन बोला—'कहते तो कमललता की पोल ही खुल जाती। उन दिनों बाबू अखाड़े के पास भी नहीं फटके। इधर आप भी गए और कागज-कलम लेकर बाबू जा पहुँचे वहाँ।'

पूछताछ से मालूम हुआ, बाउल द्वारकादास गीत-लटका लिखने में कुशल हैं। गौहर इसी लोभ में फँस गया है। अपनी कविता सुनाकर उससे संशोधन करता है। कमललता एक वैष्णवी है। अखाड़े में ही रहती है। देखने में खूबसूरत है। अच्छा गाती है। उसकी बात सुनकर लोग लुभा जाते हैं। वैष्णवों सेवा के लिए गौहर समय-समय पर पैसा-कौड़ी देता है। अखाड़े की चारदीवारी टूट गई। गौहर ने अपनी लागत से मरम्मत करवा दी। अपने जात-बिरादरी से छुपाकर ही ऐसा किया है।

मुझे याद आ गया, बचपन में इस अखाड़े के बारे में सुना था। बहुत पहले

महाप्रभु चैतन्य के किसी शिष्य ने इसकी प्रतिष्ठा की थी। तब से यह परम्परागत चला आ रहा है।

बड़ा कौतूहल हुआ। कहा—'मुझे जरा वह अखाड़ा दिखा दोगे नवीन?' गर्दन हिलाकर उसने इनकार किया।—'बहुत काम पड़ा है। आप भी तो इसी जवार के हैं, पूछते-पाछते चले नहीं जाएँगे? मील भर से ज्यादा नहीं है। उस सामने वाले रास्ते से उत्तर तरफ चले जाएँ, दिखाई पड़ेगा। किसी से पूछने की जरूरत नहीं। सामने के तालाब के पास मौलसरी तले वृन्दावन लीला चल रही है—दूर से ही आवाज सुनाई पड़ेगी।'

मेरे जाने का प्रस्ताव नवीन ने पहले ही पसन्द नहीं किया।

मैंने पूछा—'वहाँ होता क्या है, कीर्तन?'

नवीन बोला—'हाँ दिन-रात। झाँझ-करताल की कमी नहीं।'

हँसकर बोला—'अच्छा तो है। मैं गोहर को पकड़ लाऊँ।'

अबकी नवीन हँसा। बोला—'हाँ जाइए। लेकिन देखिए, कमललता के कीर्तन से खुद भी न अटक जाएँ!'

'देखो, क्या होता है।' यह कहकर कमललता के अखाड़े की ओर चल पड़ा।

अखाड़े का पता जब तक लगा, साँझ हो चुकी थी। दूर से न तो झाँझ करताल की आवाज सुनाई दी, न कीर्तन की। मौलसरी का पुराना पेड़ जरूर दिखाई पड़ गया। नीचे टूटी-फूटी एक वेदी। आदमी-जन कोई नहीं। एक आँकी-बाँकी पग-डण्डी चहारदीवारी से सटी-सटी नदी की तरफ को गई थी। अन्दाजा लगाया, शायद उधर किसी से भेंट हो जाए। यह सोचकर उधर को ही कदम बढ़ाया। भूल नहीं की मैंने, पतली नदी के सकरे किनारे पर गोबर से लिपी एक ऊँची जगह पर गोहर बैठा था। बगल में और एक आदमी। सोचा, यही अखाड़े का मालिक द्वारिकादास है। नदी का किनारा था, इसलिए साँझ का अँधेरा उतना गाढ़ा नहीं हुआ था। बाबाजी को मैं साफ देख सका। आदमी अच्छे घर का और उच्चजाति का लगा। साँवला रंग। दुबला होने की वजह से जरा लम्बा लग रहा था। बाल सामने जूड़े-से बँधे। मूँछ-दाढ़ी ज्यादा नहीं—थोड़ी-थोड़ी। चेहरे पर स्वाभाविक हँसी का भाव। उम्र का ठीक अन्दाज नहीं कर सका। लेकिन, लगा, पैंतीस-छत्तीस से ज्यादा न होगी। मेरे आने का पता किसी को न चला, दोनों नदी के उस पार पश्चिम क्षितिज की ओर नजर गड़ाए चुप थे। क्षितिज पर रंग-बिरंगे मेघ के टुकड़ों में

तृतीया का चाँद उगा था पीला-पीला और मानो ठीक उसी के भाल पर टीका-सा जड़ा था सन्ध्यातारा। एकबारगी नीचे दूर गाँव के पेड़ों की नीली पाँत दिखाई दे रही थी—उनका मानो अन्त नहीं, सीमा नहीं। काले, सफेद, फीके—नाना रंग के बिखरे बादलों में उस वक्त भी डूबते सूरज की अन्तिम किरणें चमकती फिर रही थीं।

पतली-सी धारा वाली नदी के कुछ हिस्से के सेवार को लोगों ने साफ किया था। सामने के उतने ही से काले पानी पर चाँद और तारे की रोशनी छोटी लकीरों में झिलमिल कर रही थी मानो सुनार कसौटी पर घिसकर सोने की जाँच कर रहा हो। झाड़ियों में पास ही कहीं शायद बेशुमार काठ-मल्लिका फूली होगी, जिसकी खुशबू से हवा भारी हो उठी थी और पास ही किसी पेड़ पर बगलों के घोंसले होंगे, जहाँ से उनके बच्चों के झुम-झुम शब्द बड़ी मिठास के साथ कानों में पहुँच रहे थे। सब कुछ अच्छा था और जो दो जने एकाग्र हो अड़भरत-से बैठे थे, वे भी कवि हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। मगर मैं यह देखने को तो जगत में आया न था। नवीन बोला था, वैष्णवियों की जमात हो है और उन सब में अच्छी कमललता है। वे सब कहाँ हैं?

आवाज दी—'गौहर!'

उसका ध्यान टूटा। वह अवाक् मेरी ओर ताकता रह गया। बाबाजी ने उसे जरा ठेलकर कहा—'तुम्हारा श्रीकान्त है न!'

गौहर उठा। लपककर उसने मुझे जकड़ लिया। ऐसी हालत हुई कि उसका आवेग रोके नहीं रुकने लगा। मैं किसी कदर बैठा। पूछा—'बाबाजी मुझे कैसे पहचान गए?'

बाबाजी बोले—'ऊँहूँ! आदरसूचक छोड़ो, तब क्या रस जमेगा।'

मैंने कहा—'यही सही। मगर मुझे पहचान कैसे गए?'

बाबाजी ने कहा—'पहचान कैसे गए। तुम तो हमारे वृन्दावन के चीन्हे-पहचाने आदमी हो—तुम्हारी आँखें रस के समुद्र जो हैं—देखते ही पड़ जाती हैं! जिस दिन कमललता आई—उसकी आँखें ऐसी ही थीं—देखते ही पहचान गया—कमललता, इतने दिनों कहाँ थी? वही जो कमल अपनी हुई तो विरह-वियोग का नाम न रहा। गुसाईं, यही तो साधना है, इसी का नाम है रस की दीक्षा।'

मैं बोला—'कमललता को देखने ही तो आया। कहाँ है वह?'

बाबाजी बहुत खुश हुए। बोले—'देखोगे उसे ? लेकिन वह तुम्हारी अनपहचानी नहीं। वृन्दावन में उसे बहुत बार देखा है। शायद हो कि याद नहीं, लेकिन देखते ही पहचान लोगे कि यह वही कमललता है। गुसाईं, पुकारो न उसे एक बार।' बाबाजी ने गौहर को बुलाने का इशारा किया। इनके लिए हर कोई गुसाईं है। बोले—'कहना, श्रीकान्त तुम्हें देखने आया है।'

गौहर के चले जाने पर पूछा—'लगता है, गौहर ने मेरे बारे में तुमसे सब कुछ कहा है ?'

बाबाजी ने सिर हिलाकर कहा—'हाँ, सब कुछ कहा है। उससे पूछा था, छ-सात दिनों से आए क्यों नहीं गुसाईं ? वह बोला, श्रीकान्त आया था। तुम जल्द ही फिर आने वाले हो, यह भी बताया। बर्मा जाओगे, यह भी मालूम है।'

सुनकर सन्तोष की साँस ली। मन-ही-मन कहा, खैर। डर हो गया था कि क्या सच ही किसी अलौकिक शक्ति से ये मुझे पहचान गए। जो भी हो, यह मानना ही होगा कि ऐसी स्थिति में मेरे बारे में उनका अन्दाज गलत नहीं हुआ।

बाबाजी अच्छे ही लगे। रस-में-रस अमायु जैसे न लगे। सरल। पता नहीं, इनसे गौहर ने मेरी सब बातें क्यों कहीं—यानी जितनी वह जानता है। बाबाजी ने सहज ही स्वीकारा। कुछ पगले-से शायद कविता या वैष्णव रसचर्चा से विभ्रान्त।

कुछ ही देर में गौहर गुसाईं के साथ कमललता आ पहुँची। तीस से ज्यादा उम्र की नहीं। साँवला रंग। कसा हुआ छरहरा बदन। कलाई में कुछ चूड़ियाँ—शायद पीतल की। सोने की भी हो सकती हैं। बाल छोटे नहीं, गाँठ बँधे पीठ पर झूलते हुए। गले में तुलसी की माला। हाथ में थैली के अन्दर भी तुलसी की जप-माला। टीका-वीका का वैसा बाहुल्य नहीं, या कि सुबह को समय रहा हो, अब पुंछ गया हो। चेहरे की तरफ देखकर लेकिन अजीब अचरज से पड़ गया। अचरज के साथ ऐसा लगा, शक्ल मानो चीन्ही हुई सी हो और चलने का ढंग भी पहले कहीं देखा हो।

तुरंत समझ गया कि यह नीच स्तर की नहीं। उसने जरा-सी भूमिका नहीं बाँधी। सीधे मेरी ओर देखकर कहा—'पहचान रहे हो गुसाईं !'

कहा—'नहीं। लेकिन कहीं देखा है, ऐसा लग रहा है।'

वैष्णवी बोली—'देखा है वृन्दावन में। बड़े गुसाईं जी से मालूम नहीं हुआ ?'

मैंने कहा—'सुना तो, लेकिन मैं तो जनम से वृन्दावन कभी गया नहीं।'

वैष्णवी बोली, 'बेशक गए हो। बहुत दिन की बात है। याद नहीं आ रही। जहां गौएँ चराते थे, फूल तोड़ लाते थे, वनफूलों की माला हम पहनाते थे—भूल गए सब?'—होंठ दबाकर हँसने लगी वह।

समझा, मजाक कर रही है, मगर यह नहीं समझ सका कि मजाक मुझसे या बड़े गुसाईं जी से। बोली—'रात हो रही है, अब जंगल में क्यों? अन्दर चलो।'

मैंने कहा—'जंगल से होकर मुझे अभी दूर जाना है। कम न होगा, फिर आऊँगा।'

वैष्णवी ने पूछा—'यहाँ का पता किसने बताया? नवीन ने?'

'हाँ।'

'कमललता के बारे में न बोला?'

'हाँ। वह भी बताया।'

'उसने तुम्हें सावधान नहीं किया कि वैष्णवी के फन्दे से निकलना कठिन होता है?'

हँसकर बोला—'सावधान भी कर दिया है।'

वैष्णवी हँस पड़ी। बोली—'नवीन होशियार है। उसकी बात न मानकर अच्छा नहीं किया तुमने।'

'सो क्यों?'

वैष्णवी ने इस बात का जवाब नहीं दिया। गौहर की तरफ इशारा करके बोली—'गुसाईं ने बताया, तुम नौकरी करने के लिए परदेश जा रहे हो। तुम्हें है तो कोई नहीं, नौकरी क्यों करोगे?'

'फिर क्या करूँगा?'

'जो हम करते हैं। गोविन्दजी का प्रसाद तो कोई नहीं छीनेगा।'

'जानता हूँ। वैरागीगिरी, लेकिन मेरे लिए वह नई नहीं।'

वैष्णवी हँसकर बोली—'समझ गई। भालूम नहीं पड़ती?'

'हाँ। ज्यादा दिन नहीं चल पाती।'

होंठ दबाकर वह हँसी। बोली—'तुम्हारे लिए कम ही ठीक है। अन्दर आओ, औरों से परिचय करा दूँ। यह कमल का वन ही है।'

'सुन चुका हूँ। मगर अँधेरे में वापस कैसे जाऊँगा?'

वैष्णवी फिर हँसी। बोली—'अँधेरे में तुम्हें हम लौटने ही क्यों देने लगीं?

अँधेरा कट जाएगा, फट जाएगा। तब जाना। चलो।'

'चलो।'

वैष्णवी बोली—'गौर! गौर!'

गौर-गौर कहकर मैं भी उसके पीछे हो लिया।

छः

यद्यपि धरम-करम में अपनी रुचि नहीं, मगर जिसे है, उसे बाधा भी नहीं डालता। मन से निस्सन्देह समझता हूँ कि इस गूढ़ विषय का अता-पता मुझे ढूँढ़े न मिलेगा। फिर भी धार्मिकों को मैं भक्ति करता हूँ। नामी स्वामीजी और प्रसिद्ध साधुजी—मैं किसी को छोटा-बड़ा नहीं समझता, दोनों के वचन मेरे कानों में अमृत डालते हैं।

विशेषज्ञों की जबानी सुना है, बंगाल की आध्यात्मिक साधना का गूढ़ रहस्य वैष्णव सम्प्रदाय में छिपा है। और यही बंगाल की खास अपनी चीज है। साधुओं का सत्संग भी कर चुका हूँ, क्या मिला, यह बताने की इच्छा नहीं। परन्तु भाग्य से इस बार अगर खासी चीज मिल रही है, तो इस मौके को हाथ से निकलने न दूँगा। संकल्प किया। पुटू के ब्याह की दावत में शामिल होना ही पड़ेगा तो एक दिन कलकत्ते के सूने मेस में बिस्तर की बजाय वैष्णवी अखाड़े के आस-पास बिता सकूँ तो और चाहे जो हो, जीवन में सचय की कोई क्षति न होगी।

अन्दर जाकर देखा, कमललता ने झूठ नहीं कहा। कमल का वन ही है, पर, रौंदा हुआ। मदमत्त हाथियों का पता न चला, लेकिन उनके पैरों के निशान बहुत थे। वैष्णवियाँ अलग-अलग उम्र की, रंग-रंग के चेहरे और सब अलग-अलग कामों में लगी। कोई दूध उबाल रही थी तो कोई खीर पका रही थी। कोई आटा गूंद रही थी, कोई फल-फूल कूट रही थी। रात के भोग की तैयारी। एक कम उम्र की वैष्णवी फूलों की माला गूंद रही थी और उसी के पास बैठी एक दूसरी रंगीन कपड़ों के कुछ टुकड़ों में चुनट देकर सहेज रही थी—शायद कल स्नान के बाद गोविन्दजी पहनेंगे। बैठी कोई न थी। उनके काम की लगन और एकाग्रता देखकर चकित होना पड़ा। सबने मेरी तरफ ताका, लेकिन एक पल के

लिए। कौतूहल का मौका नहीं, सबके होंठ हिल रहे थे—मन-ही-मन नाम-जप रही हो शायद। इधर वेला डूब गई। एकाध दिया जलना शुरू हो गया। कमल-लता ने कहा—'चलो, ठाकुर को प्रणाम कर लो। लेकिन हाँ, तुम्हें पुकारूँ क्या कहकर? नया गुसाईं कहूँ तो कैसा?'

मैंने कहा—'बेजा क्या है? तुम्हारे यहाँ गौहर भी जब गुसाईं हो सकता है, तो मैं तो कम-से-कम ब्राह्मण बालक हूँ। लेकिन मेरा जो नाम है, उसने कौन सा अपराध किया? उसी के साथ गुसाईं जोड़ दो तो न बने?'

कमललता मुस्कराकर बोली—'उँहूँ, वह नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। वह नाम मुझे नहीं लेना चाहिए। दोष होगा। चलो।'

'चलता हूँ मगर दोष काहे का होगा?'

'काहे का यह सुनकर क्या करोगे? खूब आदमी हो तुम!'

जो वैष्णवी माला गूँथ रही थी, वह हँस पड़ी और तुरत सिर झुका लिया।

ठाकुरघर में श्याम पत्थर तथा पीतल की युगल मूर्ति थी राधाकृष्ण की। एक नहीं, बहुतेरी। यहाँ भी पाँच-छः वैष्णवियाँ काम में जुटी हुई थीं। आरती का समय होता आ रहा था। किसी को दम मारने की फुर्सत न थी।

भक्ति के साथ प्रणाम करके मैं बाहर निकल आया। ठाकुर के सिवाय सारे घर कच्चे, मगर सफाई-सजावट में त्रुटि नहीं। कहीं भी बिना आसन के बैठ जाने में हिचक नहीं होती। कमललता ने तो भी पूर्वी बरामदे के एक ओर आसन बिछा दिया। बोली—बैठो। मैं तुम्हारे रहने का कमरा ठीक कर आऊँ।'

'मुझे आज यहीं रहना पड़ेगा क्या?'

'क्यों, डर कैसा? मेरे होते तुम्हें कोई तकलीफ न होगी।'

मैं बोला—'तकलीफ की बात नहीं, गौहर नाराज होगा।'

वह बोली—'यह जिम्मा मेरा रहा। मैं रोकूँ तो तुम्हारा दोस्त ज़रा भी नाराज न होगा।'—यह कहकर हँसती हुई वह चली गई।

अकेला बैठा दूसरी वैष्णवियों के काम देखता रहा। वास्तव में उन्हें समय बर्बाद करने का समय न था। पलटकर किसी ने मेरी तरफ ताका तक नहीं। दसेक मिनट बाद जब कमललता लौटी, तब तक काम खत्म करके सब-की-सब जा चुकी थीं। मैंने पूछा—'मठ की सर्वेसर्वा तुम्हीं हो क्या?'

कमललता ने जीभ काटकर कहा—'हम सभी गोविन्द जी की दासी हैं—'

छोटी-बड़ी कोई नहीं। सब पर अलग-अलग भार है, मुझे प्रभु ने यही जिम्मेदारी दी है।'—उसने हाथ जोड़कर मन्दिर के उद्देश्य को अपने कपाल से लगाया। बोली—'फिर ऐसा न कहना।'

मैंने पूछा—'अच्छा बड़े गुसाईं, गौहर गुसाईं को क्यों नहीं देख रहा हूँ?'

वह बोली—'आ ही गए थे। नदी गए हैं। नहाने।'

'शाम के? वहाँ नदी में?'

वैष्णवी बोली—'हाँ।'

'गौहर भी?'

'हाँ गौहर गुसाईं भी।'

'लेकिन मुझे क्यों नहीं नहलवाया?'

वह हँसकर बोली—'हम किसी को नहीं नहलवाते वे आप ही नहाते हैं। प्रभु की दया होगी तो कभी तुम भी नहाओगे, उस समय मनाही से भी न मानोगे।'

मैंने कहा—'गौहर भाग्यवान है लेकिन मेरे पास तो रुपये नहीं, मैं गरीब हूँ, मुझ पर प्रभु की दया न होगी।'

वैष्णवी ने इशारे को शायद समझा और दुखी होकर कुछ कहना चाहने लगी, मगर बोली नहीं। फिर बोली—गौहर गुसाईं चाहे जो हों, मगर हम भी गरीब नहीं हैं। बहुत रुपये देकर जो पराई लड़की का ब्याह करा दे सकता है ठाकुर उसे गरीब नहीं समझते। तुम पर भी दया होने में आश्चर्य नहीं है।'

मैं बोला—'फिर तो यह डरने की बात है। खैर नसीब में जो है, होगा। रोका नहीं जा सकता। लेकिन यह पराई लड़की के ब्याह की बात तुम्हें कैसे मालूम हुई?'

उसने कहा—'भीख के लिए हमें तमाम जगह जाना पड़ता है। हमें सब खबर मिल जाती है।'

'लेकिन यह खबर शायद अभी तक नहीं मालूम हुई कि अन्त तक रुपये देकर मुझे उसका ब्याह नहीं करना पड़ा।'

वह बोली—'नहीं, यह तो नहीं सुना। तो हुआ क्या आखिर? शादी टूट गई?'

हँसकर कहा—'शादी तो नहीं टूटी, टूट गए खुद कालीदास बाबू, दुल्हे के

बाप। दूसरे के दान के रुपये दहेज में लेने में उन्हें शर्म आई। मेरी जान बची।'
—मैंने संक्षेप में किस्सा कह सुनाया।

वैष्णवी स्तम्भित होकर बोली—'ऐं ! यह तो असम्भव सम्भव हो गया।'

मैंने कहा—'ठाकुर की दया, क्या सिर्फ गौहर गुसाईं ही पर नदी के सड़े पानी में गोता लगाने से ही होनी है, दुनिया में और कहीं क्यों नहीं होगा ? फिर उनकी लीला का प्रकाश ही कैसे होगा, कहो ?'—बात बोलते ही मैंने उसकी शक्ल देख कर समझा, यह कहना ठीक नहीं हुआ। मात्रा से ज्यादा हो गई।

उसने लेकिन प्रतिवाद नहीं किया। हाथ बाँधकर मन्दिर को देखते हुए माथे से लगाया, मानो दोष के लिए क्षमा चाह रही हो।

सामने से थाली में पूरियाँ लेकर एक वैष्णवी मन्दिर में गई। मैंने कहा—'आज तो समारोह-सा लग रहा है। कोई पर्व है क्या ?'

वह बोली—'नहीं, पर्व नहीं है। यह हमारा नित्य का व्यापार है। ठाकुर की दया से अभाव कभी नहीं होता।'

मैंने कहा—'खुशी की बात है। मेरा ख्याल है, ऐसा आयोजन ज्यादा रात को ही करना पड़ता है ?'

वैष्णवी बोली—'यह भी नहीं। सेवा का सांझ-विहान क्या ! दया करके दो दिन रह जाओ, खुद ही सब देखोगे। हम दासियों की दासी हैं, उनकी सेवा के सिवा संसार में हमें कोई काम नहीं।' इतना कहकर मन्दिर की ओर देखकर उसने फिर नमस्कार किया।

मैंने पूछा—'दिनभर तुम्हें करना क्या होता है ?'

वह बोली—'जाने के बाद जो देखा, वही।'

मैंने कहा—'आकर तो देखा, मसाला पीसना, दूध उबालना, माला गूँथना, कपड़ा रँगना—बहुत कुछ करना होता है। दिनभर क्या तुम लोग सिर्फ यही करती हो ?'

'हाँ, दिनभर केवल यही करती हैं।'

'लेकिन यह सब तो गिरस्ती का धन्धा है। सभी औरतें करती हैं। भजन-साधन आखिर कब करती हो ?'

वह बोली—'भजन-साधना हमारी यही है।'

'रसोई-पानी, कूटना-पीसना, माला गूँथना—इन्हीं सबको साधन कहती हो ?'

वैष्णवी ने कहा—'हाँ, इसी की साधना करती हूँ। इससे बड़ी साधना दासी को और मिलेगी कहाँ गुसाईं?'—कहते-कहते उनकी सजल आँखें मानो अनिर्वचनीय माधुर्य से भर उठीं।

मुझे लगा, इस अनचीन्हे मुखड़े जैसा सुन्दर मुख मैंने दुनिया में कभी नहीं देखा। पूछा—'कमललता, तुम्हारा घर कहाँ है?'

आँचल से आँखें पोंछकर हँसते हुए बोली—'पेड़ तले।'

'लेकिन सदा तो पेड़ तले नहीं था।'

वह बोली—'पहले था ईंट-काठ के किसी घर का एक कमरा। लेकिन वे बातें करने का तो अभी समय नहीं है। चलो मेरे साथ, तुमको तुम्हारा कमरा दिखा दूँ।'

बड़ा सुन्दर कमरा। बाँस की अलगनी पर एक धोती पड़ी थी, उसे दिखाती हुई बोली—'इसे पहन कर ठाकुर घर में चलो। देर मत करो।'—यह कहकर वह तेजी से चली गई।

एक ओर छोटे-से तख्त पर बिछौना लगा था। पास ही एक तिपाई पर कुछ किताबें और एक दगुन-फूल। अभी-अभी कोई दीया जलाकर धूप जला गया है; कमरा धुएँ और महक से भरा ही था। बड़ा अच्छा लगा। दिनभर की थकावट तो थी ही—ठाकुर-देवता से जीवन भर कतराता रहा अत: उसका आकर्षण न था—कपड़े बदलकर झट लेट गया। क्या जाने, यह कमरा किसका है, सेज किसकी है—अजानी वैष्णवी एक रात के लिए यह मुझे उधार दे गई। या हो सकता है, यह उसी का हो, लेकिन यह सब सोचने से स्वभावतः ही मेरा मन बड़ा संकोच करता है—परन्तु आज कुछ लगा ही नहीं, सोचा जाने कितने दिनों के अपने जन के पास अचानक आ निकला हूँ। शायद आँखें जरा लग आई थीं। किसी ने जैसे बाहर आवाज दी—'नये गुसाईं, मन्दिर नहीं चलोगे? वे तुम्हें बुला रहे हैं।'

हड़बड़ाकर उठ बैठा। मजीरे के साथ कीर्तन की धुन कानों में पहुँची। सामूहिक कोलाहल नहीं, गीत का एक-एक शब्द जितना ही स्पष्ट, उतना ही मधुर। नारीकण्ठ। उस स्त्री को आँखों बिना देखे भी समझ गया, कमललता है यह। नवीन का ख्याल है, इसी मीठी आवाज ने उसके मालिक को मोह लिया है। मुझे लगा, यह सोचना असम्भव भी नहीं, असम्भव भी नहीं।

मन्दिर मे जाकर मैं चुपचाप एक ओर बैठ गया। किसी ने नजर उठाकर देखा नहीं। सबकी आँखें राधाकृष्ण की युगलमूर्ति पर टिकी थी। बीच में खड़ी कमललता कीर्तन गा रही थी—'मदन गोपाल जय-जय यशोदा दुलाल की, यशोदा दुलाल जय-जय नन्द के लाल की। गिरधारी लाल जय-जय गोविन्द गोपाल की।'

इन कुछ सहज और मामूली शब्दों के आलोडन मे भक्त के हृदय को मथकर कौन-सी सुधा उफन आती है, यह समझना ही कठिन है—लेकिन मैंने देखा, वहाँ जो लोग थे, उनमे से किसी की आँखें सूखी न थी। गाने वाली की दोनों आँखों से झर-झर आँसू की धारा बह रही थी और भावावेग से गला रुँध-रुँध आता था। ऐसे रस का रसिक मैं हूँ नहीं, मगर मेरे मन के भीतर भी सहसा कैसा तो हो उठा। द्वारकादास बाबाजी आँखें मूँदे एक दीवार से टिके बैठे थे। चेत थे या अचेत, समझ मे नही आया, और थोडी ही पहले हास परिहास मे चञ्चल न केवल कमललता, बल्कि साधारण कामों मे जुटी जो वैष्णवियाँ तुच्छ और कुरूपा लगी थीं, वे भी मानो धूप के धुएँ से भरे कमरे के मद्धिम प्रकाश मे मेरी आँखों मे पल के लिए अपरूप हो उठीं। मुझे भी ऐसा लगने लगा कि थोडी ही दूर पर रखी पत्थर की मूर्ति मानो आँख खोलकर देख रही है और कान लगाकर कीर्तन का सारा रस पी रही है।

भाव के इस विह्वल मुग्ध भाव से मैं बहुत डरता हूँ। परेशान-सा बाहर निकल आया—किसी ने गौर भी न किया। देखा, प्रांगण के एक ओर गौहर बैठा है। कहीं से तो रोशनी की एक लकीर आकर उस पर पडी है। मेरे पैरों की आहट से उसका ध्यान नही टूटा। और उस तल्लीन मुखड़े को देखकर मैं भी हिल न सका। वही स्तब्ध खडा हो गया। लगने लगा, सिर्फ मुझी को अकेला छोडकर आश्रम के लोग किसी और देश को चले गए हैं, जहाँ की राह मुझे मालूम नहीं। कमरे मे आया। बत्ती बुझाकर लेट गया। निश्चित समझता हूँ कि ज्ञान, विद्या मे मैं इन सबसे बडा हूँ, परन्तु पता नही किस पीडा से, मन रोने लगा और वैसे ही अनजान कारण से आँख के कोने से आँसू की बडी बडी बूँदें टपकने लगीं।

कब तक सोया रहा, पता नहीं। कानो मे आवाज आई—'नये गुसाईं।' जगकर उठ बैठा—'कौन?'

'मैं हूँ, साँझ की साथिन तुम्हारी। इतना भी क्या सोना।'

चौखट पर कमललता खड़ी थी। कहा—'जगे रहने से ही क्या लाभ था? कम-से-कम ज़रा सद्व्यवहार तो हुआ समय का।'

'समझती हूँ। लेकिन प्रसाद नहीं पाओगे?'

'पाऊँगा।'

'फिर सो जो रहे हो?'

'जानता हूँ कि प्रसाद मिलेगा तो रुकावट नहीं आ सकती। मेरी साँझ की साथिन रात को भी मेरा परित्याग नहीं करेगी।'

वह बोली—'यह वैष्णव की जमीं है, तुम लोगों की नहीं।'

मैंने कहा—'भरोसा मिले तो वैष्णव होने में कितनी देर लगती है? तुमने गोहर तक को गुसाईं बना लिया, मैं ही क्या इतनी अवज्ञा के लायक हूँ? हुक्म हो तो वैष्णव के दास का भी दास बन सकता हूँ।'

कमललता का कण्ठस्वर ज़रा गम्भीर हो गया। बोली—'वैष्णवों का मज़ाक नहीं करना चाहिए, गुसाईं, पाप होता है। तुमने गोहर गुसाईं को भी गलत समझा है। उसके अपने लोग भी उसे काफ़िर कहते हैं। लेकिन उन्हें मालूम नहीं। वह पक्का मुसलमान है। बाप-दादे के धर्म को उसने नहीं छोड़ा है।'

'लेकिन उसके भाव से तो ऐसा नहीं लगता।'

वैष्णवी बोली—'यही आश्चर्य है। ख़ैर, देर न करो। जाओ।' ज़रा सोचकर बोली—'न हो तो प्रसाद यहीं ला दूँ?'

कहा—'कोई बात नहीं। लेकिन गोहर कहाँ है। वह दोनों को साथ ही दो न।'

'उसके साथ बैठकर खाओगे?'

कहा—'खा तो सकता हूँ। बचपन में उसकी माँ ने मुझे बहुत फलाहार कराया है, उस समय वह तुम लोगों के प्रसाद से कम मीठा नहीं लगता था। इसके सिवाय गोहर भक्त है, कवि है—कवि की जात नहीं पूछनी चाहिए।'

अँधेरे में भी मुझे महसूस हुआ कि वह एक निश्वास दबा गई। उसके बाद बोली—'गोहर गुसाईं है नहीं। कब चला गया पता न चला।'

मैंने कहा—'उसे मैंने बाहर बैठा देखा। तुम लोग क्या उसे अन्दर नहीं जाने देते हो?'

वैष्णवी बोली—'नहीं।'

मैंने कहा—'आज मैंने गोहर को देखा। कमललता, मेरे मज़ाक पर तुम

नाराज हुई, लेकिन अपने देवता से तुम कुछ कम मजाक नहीं करती। अपराध एक ही ओर होता है, ऐसा नहीं।'

वैष्णवी ने इस अभियोग का उत्तर नहीं दिया। चुपचाप बाहर चली गई। थोड़ी ही देर मे दूसरी वैष्णवी के हाथ दीया और आसन तथा खुद प्रसाद लेकर आई। बोली—'अतिथि सेवा मे त्रुटि होगी नये गुसाई किन्तु यहाँ तो सब ठाकुर का प्रसाद है।'

हँसकर कहा— घबराने की बात नही साँझ की साथिन, वैष्णव न होते हुए भी तुम्हारे नये गुसाई को रस बोध है। अतिथि की त्रुटि से वह रसभग नहीं करता। क्या है रखो। लौटकर देखना, प्रसाद का एक कण भी बचा नही रहेगा।'

'प्रसाद तो ऐसे ही खाना चाहिए। —कमललता ने झुककर सारी सामग्रियाँ सजाकर रख दी।

दूसरे दिन घण्टा घड़ियाल के विकट शब्द से तड़के ही नींद टूट गई। बाजे-गाजे के साथ आरती शुरू हो गई थी। कीर्तन का पद सुनाई पड़ा— कान्हू गले बनमाला विराजे राधा के उर मोती माजे। अगणित चरणे मंजीर रंजित खजन गजन लागे।' उसके बाद दिनभर ठाकुर सेवा, पूजा पाठ, कीर्तन, नहलाना-खिलाना, चन्दन लगाना, माला पहनाना—विराम नहीं। सभी व्यस्त। सभी काम में जुटी। लगा, देवता पत्थर के होते हैं, तभी इतनी सेवा झेल सकते हैं। और कुछ होता तो जाने कब घिस गया होता!

कल वैष्णवी से पूछा था साधन-भजन कब करती हो? उसने जवाब दिया था, यही तो है साधन भजन। अचरज से पूछा था, यह रसोई-पानी, फूल तोड़ना, माला गूँथना, दूध उबालना, इसी को साधना कहती हो? सिर हिलाकर उसने तुरन्त कहा था, हाँ साधना हम इसी को कहते हैं, हमारा और कोई साधन भजन नहीं है।

आज दिनभर जो रवैया देखा, उससे समझ गया कि बात अक्षर अक्षर सत्य है। जरा भी अत्युक्ति नहीं, अतिरंजना नहीं। दोपहर को मौका पाकर कहा— 'कमललता मैं जानता हूँ कि तुम औरो जैसी नहीं हो। सच-सच बताओ, भगवान की प्रतीक यह पत्थर की मूर्ति '

हाथ उठाकर उसने मुझे रोक दिया। कहा—'प्रतीक क्या, यही तो साक्षात् भगवान हैं! ऐसी बात फिर कभी जबान पर मत लाना नये गुसाई।'

मेरी बात से तो उसी को मानो ज्यादा शर्म आई। मैं भी कुछ अप्रतिभ हो पड़ा,

तो भी धीरे-धीरे बोला—'मुझे तो मालूम नहीं, इसी से पूछता हूँ—तुम लोग सच ही क्या यह सोचती हो कि पत्थर की मूर्ति में ही भगवान की शक्ति और चैतन्य, उनका'

मेरी बात भी पूरी न हो पाई, वह बोल उठी—'सोचने की क्या पड़ी है भला, यह तो प्रत्यक्ष है। तुम चूँकि संस्कार के मोह को हटा नहीं सकते, इसलिए सोचते हो कि हाड़-मांस की देह के बिना चैतन्य के और कहीं रहने की गुंजाइश ही नहीं लेकिन ऐसा क्यों ? और यह भी कहूँ, शक्ति और चैतन्य का पता तुम सबने ही सब पा लिया है कि वह कहाँ पत्थर में उसकी जगह ही होगी ? जगह होती है। भगवान को कहीं रहने में बाधा नहीं। वही हो तो हम उसे भगवान क्यों कहें ?'

जहाँ तक युक्ति का सवाल है, बातें न तो स्पष्ट हैं, न ही पूर्ण—लेकिन बात तो नहीं, वह तो उसका जीवन विश्वास है। उसकी उस सहज और निश्छल उक्ति के आगे सकपका गया—प्रतिवाद करने का साहस न हुआ, इच्छा भी न हुई। बल्कि सोचने लगा, सच ही तो, पत्थर हो चाहे जो हो, ऐसा एकान्त विश्वास में अपने को नितान्त समर्पित न कर सके होते तो इन्हें वर्षों की ऐसी अविच्छिन्न सेवा का बल कहाँ से मिलता ? इस प्रकार से निश्चित निर्भय तन पर खड़े होने का अवलम्ब कहाँ मिलता ? शिशु तो ये हैं नहीं, बच्चों की खिलवाड़ में इस झूठे अभिनय से सुविधा-भरा मन तो ग्लानि के अवसाद में दो ही दिन में टूट पड़ता। लेकिन ऐसा तो नहीं होता। भक्ति और प्रीति की अखण्ड एकाग्रता से आत्मनिवेदन का आनन्दोत्सव बल्कि उनका बढ़ता ही जाता है। तो क्या इस जीवन में पाने की दृष्टि से सब भूल ही है, सब अपने को ठगना है !

वैष्णवी बोली—'क्यों गुसाईं, चुप हो गए ?'

मैंने कहा—'सोच रहा हूँ।'

'किसको सोच रहे हो ?'

'सोच रहा हूँ तुम्हीं को।'

'इस ! बड़ा सौभाग्य मेरा !' जरा देर में बोली—'फिर भी तो रहना नहीं चाहते, कहीं किस बर्मा मुल्क में नौकरी करने जाना चाहते हो।'

'नौकरी क्यों करोगे ?' वह बोली।

मैंने कहा—'मुझे न तो मठ की पूँजी प्राप्त है, न चकड़ो [illegible] दल ही,

खाऊँगा क्या ?'

'ठाकुर देंगे।'

मैं बोला—'दुराशा है यह। यह भी तो नहीं लगता कि तुम्हें भी ठाकुर का पूरा भरोसा है। होता तो भीख माँगने को क्यों जाती ?'

वैष्णवी बोली—'जाती हूँ इसलिए कि हर द्वार पर लेने के लिए वे हाथ बढ़ाकर खड़े रहते हैं, वरना अपनी गर्ज नहीं। रहती भी तो जाती नहीं, भूखों मरती तो भी नहीं।'

'कमललता, तुम्हारा घर कहाँ है ?'

'कल ही तो बताया गुसाईं, घर है पेड़ तले, देश है राहों में।'

'तो फिर पेड़ तले या राह में न रहकर मठ में क्यों रहती हो ?'

'जमाने तक राह में ही रही। संगी-साथी मिले तो फिर एक बार राह को ही सबल बनाऊँ।'

कहा—'तुम्हें संगी की कमी है, इस पर तो विश्वास नहीं होता कमललता। जिसे बुलाओगी, वही तैयार हो जाएगा।'

हँसकर वह बोली—'तुम्हें बुलाती हूँ, हो राजी ?'

मैं भी हँसा। कहा—'हाँ, राजी। अल्पवयस्क था, तब जिसने यात्रा-दल का भय नहीं किया, बालिग होने पर उसे वैष्णवी से क्या भय ?'

'यात्रा-मण्डली में भी थे क्या ?'

'हाँ।'

'तब तो गीत भी गाते होंगे।'

'न। अधिकारी ने उतनी दूर तक नहीं बढ़ने दिया, उसने पहले ही जवाब दे दिया। हाँ अधिकारी तुम होती, तो क्या होता, नहीं जानता।'

वैष्णवी हँसने लगी। बोली—'मैं भी जवाब देती। खैर, हम दोनों में से एक ही के गीत गाना जानने से चल जाएगा। इस देश में जैसे-तैसे भी भगवान का नाम ले लो, भीख की कमी नहीं। चलो न, हम निकल पड़ें। कह रहे थे, तुमने वृन्दावन कभी देखा नहीं। चलो, दिखा लाऊँ। घर बैठे बहुत दिन गुजरे। राह का नशा फिर मानो खींचना चाहता है।'

'सच, चलोगे नये गुसाईं ?'

सहसा उसके चेहरे की ओर ताकने से बड़ा अचम्भा लगा। कहा—'चौबीस

घण्टे का भी परिचय नहीं हमारा, मुझ पर इतना विश्वास कैसे हो गया।'

वैष्णवी बोली—'चौबीस घण्टा तो एक तरफा ही नहीं गुसाईं, दुतरफा है। मेरा विश्वास है, राह-बाट में मुझ पर भी तुम्हें अविश्वास नहीं होगा। कल पंचमी है, निकल पड़ने का बड़ा अच्छा दिन है—चलो। रास्ते में रेल की लाइन तो है ही, अच्छा न लगे तो लौट आना, मना नहीं करूंगी।'

एक वैष्णवी कह गई—'ठाकुर का प्रसाद रख आई हूं।'

कमललता बोली—'चलो, तुम्हारे कमरे में बैठूं।'

'मेरे कमरे में ? वहीं सही।'

एक बार फिर उसके चेहरे की तरफ ताका। अब सन्देह की गुंजाइश ही न रही कि वह मजाक कर रही है। यह भी सच है कि मैं महज उपलक्ष हूं, किन्तु चाहे जिस वजह से हो, यहां के बन्धन को तोड़कर वह भाग सके तो जी जाए—एक घड़ी की देर भी उसे बर्दाश्त नहीं।

कमरे में आकर खाने बैठ गया। खूब स्वादिष्ट प्रसाद—भागने का षड्यन्त्र अच्छा जमता, लेकिन कोई आकर जरूरी काम से कमललता को बुला ले गया। लिहाजा चुपचाप अकेले ही सेवा समाप्त करनी पड़ी। बाहर निकला तो किसी पर नजर नहीं पड़ी। द्वारकादास बाबाजी ही कहां गए ? दो-चार जनी बुढ़िया वैष्णवियां घूम-फिर रही थीं—कल सांझ को मन्दिर में धूप के धुएं में ये अप्सरा जैसी लगी थीं पर आज दिन की धूप की कड़ाकी जोत में वह अध्यात्म सौन्दर्यबोध अटूट न रह सका, जी कैसा हो उठा। आश्रम से बाहर निकल आया। वही मेंड़ार से भरी दुबली मन्द स्रोत वाली नदी, वही झूप-झाड़ियों का कंटकमय किनारा और वही सांप भरे बेंतों के कुंज, बांसों का जंगल। जमाने से अभ्यास जाता रहा था, सो बदन छम-छम कर उठा। चल देने की सोच रहा था कि एक आदमी, जो और कहीं बैठा था, पास आया। पहले तो चकित रह गया यहां भी आदमी रहता है। उम्र उसकी मेरी ही जैसी—दस साल ज्यादा भी हो तो आश्चर्य नहीं। दुबली और छोटी आकृति—रंग बहुत काला नहीं, लेकिन मुंह के नीचे का हिस्सा अजीब ढंग का छोटा, दोनों भवें भी लम्बाई-चौड़ाई में अस्वाभाविक रूप से फैली हुई। आदमी के इतनी मोटी भवें भी होती हैं, मुझे पहले यह मालूम न था। दूर से सन्देह हुआ कि प्रकृति के मजाकिया स्वभाव से मोटी मूंछें होंठों के ऊपर होने की बजाय इसके कपाल पर उग आई हैं। गले में तुलसी की मोटी माला—वैष्णव

जैसी, लेकिन जितनी मैली, उतनी ही जीर्ण।

'महाशय!'

ठिठककर कहा—'फरमाइए।'

'आप यहाँ कब आए हैं जान सकता हूँ?'

'बेशक। कल तीसरे पहर आया हूँ।'

'रात अखाड़े में ही थे, क्यों?'

'जी हाँ! था।'

'ओह।'

मिनटभर चुपचाप कटा। मैंने कहना चाहा कि वह बोला—'आप तो वैष्णव नहीं हैं, भले आदमी हैं। आपको अखाड़े में रहने दिया?'

मैंने कहा—'यह तो वही बता सकते हैं। उन्हीं से पूछिएगा।'

'ओह! कमललता ने रहने को कहा होगा?'

'हाँ।'

'ओह! उसका असली नाम क्या है, मालूम है? ऊषांगिनी। घर है सिलहट। लेकिन देखने में कलकत्ते की लड़की सी लगती है। मेरा भी घर सिलहट है। गाँव का नाम है माम्दपुर। उसके चरित्तर की क्या कहें?'

मैंने कहा—'नहीं।' लेकिन उसके हाव भाव से सब ही अचम्भे में आ गया।

पूछा—'कमललता से आपका क्या कोई सम्बन्ध है?'

'है नहीं भला।'

'कौन-सा सम्बन्ध?'

उसने कुछ देर आगा-पीछा करके गरजकर कहा—'क्यों? झूठ थोड़े है? वह मेरी घरवाली है। उसके बाप ने स्वयं से हम दोनों का कण्ठी-बदल किया था। इसका गवाह है।'

जाने क्यों तो मुझे विश्वास नहीं हुआ। पूछा—'आप किस जात के हैं?'

'हम द्वादस तेली हैं।'

'और कमललता?'

जवाब में उसने अपनी मोटी भौंहें नफरत से सिकोड़कर कहा—वह [illegible]डो है उसके छुए पानी से हम पाँव नहीं धोते। एक बार उसे बुला देंगे?'

'नहीं। अखाड़े में सभी जा सकते हैं। जो चाहे, आप भी जाइए।'

वह दुखी होकर बोला—'हाँ-हाँ जाऊँगा। दारोगा को खिला-पिलाकर रक्खा है, सिपाही को साथ लेकर झोंटा पकड़कर निकाल लाऊँगा—बाबाजी का बाप भी रोक नहीं सकेगा। साला। राक्षस।'

मैं चुपचाप चल पड़ा। उस आदमी ने रूखे स्वर से पीछे से कहा—'इसमें आपका क्या बिगड़ता। ज़रा बुला ही देते तो शरीर आपका घिस जाता क्या? जी, भलेमानस हैं!'

उलटकर देखने का जी नहीं हुआ। कहीं अपने को सम्हाल न सकूँ और उस कमज़ोर आदमी पर हाथ छोड़ दूँ, इस डर से तेज़ी से चल दिया। लगा, कमललता के भागने का हेतु शायद कहीं यहीं से जुड़ा हुआ है।

तबीयत खट्टी हो गयी थी। मन्दिर में नहीं गया, कोई बुलाने भी न आया। पर तिपाई पर कुछ वैष्णव ग्रन्थावली धरी थी। उन्हीं में से एक उठा ली। दीये को सिरहाने के पास सरकाया, और लेट गया।

अध्ययन के लिए नहीं, समय काटने के लिए। क्षोभ के साथ एक बात बार-बार याद आ रही थी, कमललता जो गई है, फिर नहीं आई। साँझ की आरती शुरू हुई, उसका मीठा शब्द बार-बार सुनाई देने लगा और घूम-फिरकर मन में वही बात आने लगी—कमललता ने तब से मेरी कोई सुध न ली। और वह भौंहों वाला आदमी! उसकी शिकायत में क्या सच्चाई नहीं?

और भी एक बात। गौहर कहाँ है? उसने भी तो आज मेरी खोज-पूछ न की! सोचा था, पद्म के ब्याह तक मैं कुछ दिन यहीं गुज़ारूँगा—मगर अब वह होने का नहीं। कल ही शायद कलकत्ते चल दूँ।

आरती और कीर्तन की समाप्ति हुई। कल वाली वैष्णवी आज भी जतन से मेरे लिए प्रसाद रख गई, लेकिन जिसकी बाट जोह रहा था, उसके दर्शन न मिले। बाहर लोगों की बातचीत, आने जाने की आहट की आवाज़ धीरे धीरे शान्त हो आई। उसके आने की कोई आशा नहीं, यह समझकर हाथ-मुँह धोया, बत्ती बुझाई और सो रहा।

रात बहुत जा चुकी होगी। आवाज़ आई—'नए गुसाईं?'

जाग पड़ा। कमललता अँधेरे कमरे में खड़ी थी। धीमे-धीमे कहा—'मैं नहीं आई, इससे दुखी हुए हो, है न?'

मैंने कहा—'हाँ।'

वह जरा देर चुप रही—फिर बोली, 'जंगल मे वह आदमी तुमसे क्या कह रहा था ?'

'तुमने देखा था क्या ?'

'हाँ।'

कह रहा था—'वह तुम्हारा पति है—सामाजिक तौर पर तुम उसकी कण्ठी-बदल की पत्नी हो।'

'तुम्हें यकीन हुआ ?'

'नही। नही हुआ।'

वैष्णवी फिर कुछ क्षण मौन रही। उसके बाद बोली—'उसने मेरे स्वभाव-चरित्र का इशारा नही किया ?'

'किया।'

'मेरी जात का ?'

'हाँ, वह भी।'

वैष्णवी कुछ थमकर बोली—'मेरे बचपन का इतिहास सुनोगे ? लेकिन हो सकता है, तुम्हे घृणा हो।'

मैंने कहा—'तो फिर छोडो। मैं सुनना नही चाहता।'

'क्यों ?'

कहा—'उससे लाभ क्या है ? तुम बडी भली लगी हो मुझे। लेकिन मैं कल चला जाऊँगा, फिर कभी भेंट भी न हो शायद। सो मेरे उस भले लगने को नाहक ही नष्ट करने से क्या फायदा ?'

वैष्णवी अबकी देर तक चुप रही। अँधेरे मे खडी-खडी वह क्या कर रही है, सोच नही सका। पूछा—'क्या सोच रही हो ?'

'सोच रही हूँ, कल तुम्हे जाने नही दूँगी।'

'फिर कब जाने दोगी ?'

'जाने कभी भी न दूँगी। लेकिन रात ज्यादा हो गई, सो रहो। मच्छरदानी ठीक से लगी है तो ?'

'क्या पता, लगी होगी।'

हँसकर वह बोली—'लगी होगी ! वाह क्या खूब !'—यह कहकर वह करीब आई, अँधेरे मे ही टटोलकर चारो तरफ से बिछौने को देखा और बोली—'सो

जाओ गुसाईं, मैं जाती हूँ।' पाँव दबाकर वह बाहर निकल गयी। और, बड़ी सावधानी के साथ बाहर से दरवाजे को बन्द कर दिया।

सात

वैष्णवी ने आज बार-बार मुझसे इस बात की शपथ कराई कि उसका पिछला इतिहास सुनकर मैं घृणा करूँगा या नहीं ?

मैंने कहा—'मैं सुनना नहीं चाहता और सुनूँगा तो घृणा नहीं करूँगा।'

उसने पूछा—'लेकिन करोगे क्यों नहीं ? यह सुनकर क्या औरत, क्या मर्द, सभी तो घृणा करते हैं।'

'तुम क्या कहोगी, मैं नहीं जानता, लेकिन अन्दाजा लगा सकता हूँ। उसे सुनकर औरतें ही औरतों को सबसे ज्यादा घृणा करती हैं, यह मैं जानता हूँ और इसका कारण भी जानता हूँ, परन्तु तुमसे मैं कहना नहीं चाहता। पुरुष भी करते हैं, पर बहुत बार वह होती है छलना, बहुत बार आत्मवंचना। तुम जो कहोगी, उससे कहीं अधिक घिनौनी बात मैंने तुम लोगों के मुँह से सुनी है, आँखें भी देखी हैं। फिर भी घृणा नहीं होती।'

'क्यों नहीं होती ?'

'शायद स्वभाव है मेरा। बन ही तो वह चुका, उसकी जरूरत नहीं। सुनने को मैं जरा भी उत्सुक नहीं। और फिर कौन मैं, कहाँ का—वे किस्से न ही सुनाइए।'

वैष्णवी बड़ी देर तक चुप रहकर क्या सोचती रही। उसके बाद पूछा—'अच्छा गुसाईं, तुम पूर्व जन्म, पर-जन्म मानते हो ?'

'नहीं।'

'नहीं क्यों ? तुम्हारे ख्याल में यह सच नहीं ?'

'मेरे ख्याल में और भी बातें हैं। इन बातों के ख्याल का शायद समय नहीं।'

वैष्णवी फिर जरा चुप रहकर बोली—'एक घटना तुम्हें बताऊँ ? यकीन करोगे ? ठाकुर की तरफ मुँह किए कह रही हूँ, झूठ नहीं कहूँगी।'

हँसकर बोला—'करूँगा; यकीन करूँगा। ठाकुर की कसम न खाकर भी कहो तो भी यकीन करूँगा।'

वह बोली—'तो कहूँ। एक दिन गौहर गुसाईं ने बताया, एकाएक मेरा छुटपन का साथी आ पहुँचा था। मैं सोचने लगी, जो आदमी यहाँ आए बिना एक दिन भी नहीं रह सकता, वह छुटपन के किस साथी के साथ छ-सात दिन तल्लीन रहा। फिर सोचा, वह ब्राह्मण दोस्त भी कैसा, जो मुसलमान के यहाँ रह गया, किसी की परवाह नहीं की। उसका क्या कोई कहीं नहीं ? पूछने पर गौहर गुसाईं ने भी ठीक यही बात बताई। कहा, संसार में उसका अपना कोई नहीं, इसलिए उसे न तो भय है, न चिन्ता।

'सोचा, ऐसा ही होगा। गौहर से पूछा, तुम्हारे दोस्त का नाम।

'नाम सुनकर चौंक उठी। जानते तो हो, वह नाम मुझे नहीं लेना चाहिए।'

हँसकर कहा—'यह तुमसे सुन चुका हूँ।'

वैष्णवी ने कहा—'फिर गौहर से पूछा कि दोस्त तुम्हारा देखने में कैसा है ? उम्र क्या है ? गौहर गुसाईं ने जो कहा, कुछ तो कानों में पहुँचा कुछ नहीं, लेकिन कलेजा धड़कने लगा। तुम सोचोगे, ऐसी औरत ही नहीं देखी, नाम सुनकर ही पागल। लेकिन सिर्फ नाम सुनकर ही औरत पागल होती है गुसाईं—सच है ?'

मैंने कहा—'उसके बाद ?'

वैष्णवी ने कहा—'उसके बाद खुद मैं भी हँसने लगी, लेकिन फिर भूल न सकी। हर काम-धन्धे में एक यही बात घुमड़ती—तुम फिर कब आओगे। कब तुम्हें आँखों देखूँगी।'

सुनकर चुप हो रहा। उसकी ओर ताककर हँसते नहीं बना। वैष्णवी बोली—'केवल कल शाम तो तुम आए हो, मगर मुझसे ज्यादा संसार में तुम्हें कोई प्यार नहीं करती। पूर्व जन्म अगर सत्य नहीं है तो एक दिन में ऐसा होना सम्भव है भला।'

एक क्षण थमकर बोली—'मैं जानती हूँ, तुम रहने को नहीं आए, रहोगे भी नहीं। निहोरा-विनती कितनी क्यों न करूँ, दो-एक दिन में चले जाओगे, मैं जाने कितने दिनों में यह धक्का सम्हाल सकूँगी, यही सोचती हूँ।'—यह कहकर अचानक उसने आँचल से आँखें पोंछी।

चुप रहा। इतने कम समय में ऐसी साफ भाषा में किसी स्त्री के प्रेम-निवेदन की कहानी पहले कभी किताब में भी नहीं पढ़ी, किसी से सुनी भी नहीं। और यह अभिनय नहीं है, यह तो अपनी ही आँखों देख रहा हूँ। देखने में कमललता अच्छी

है, मात्रा अक्षर भर बराबर भी नहीं—बातचीत, गीत, अतिथि-सेवा की आन्तरिकता से वह मुझे अच्छी लगी और उस अच्छा लगने की प्रशस्ति और रसिकता की अत्युक्ति से जताने में मैंने भी कंजूसी नहीं की—लेकिन देखते-देखते बात इतनी गहरी हो उठेगी, वैष्णवी के आवेदन, अश्रुमोचन और माधुर्य के प्रचुर आत्मप्रकाश से मेरा मन तिक्तता से ऐसा भर उठेगा, थोड़ी देर पहले इसको मैं क्या जानता था! किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। न केवल रोंगटे ही खड़े हुए बल्कि एक अजानी आशंका से जी में कहीं चैन न रही। पता नहीं कि किसी साल में किसी में फँसा था—एक पुण्टू के जाल से छूटा तो दूसरी पुण्टू के फन्दे में बुरी तरह आ गिरा। इधर उम्र जवानी की सीमा लाँघ रही है—ऐसे में अयाचित नारी-प्रेम की बाढ़ उमड़ी क्या! कहाँ भागकर जान बचाऊँ, सोच न सका। युवती नारी की प्रेम-भिक्षा भी पुरुष के लिए ऐसी अरुचिकर हो सकती है, इसकी धारणा भी न थी। सोचा, मेरी कीमत एकाएक इतनी बढ़ कैसे गई? राजलक्ष्मी का प्रयोजन भी मुझसे खत्म नहीं होना चाहता—जगपूठ को टीका करके वह मुझे छुटकारा नहीं देने की, यह मीमांसा हो चुकी। लेकिन यहाँ और नहीं। सामुनग से बाज आया मैं। तय किया, कल ही यहाँ से चल दूंगा।

वैष्णवी हठात् बोल उठी—'तुम्हारे लिए चाय जो मँगवाई है!'

'चाय? चाय कहाँ मिली?'

'शहर में। क्या लाऊँ। कहीं भाग मत जाना।'

'नहीं-नहीं। लेकिन चाय बनाना आता तो है।'

उसने जवाब नहीं दिया। सिर्फ गर्दन हिलाकर हँसती हुई चली गई।

वह चली गई तो उस ओर ताककर मन में जाने कैसी एक पीड़ा जगी। चायपान की व्यवस्था आश्रम में नहीं—शायद हो कि उसकी मनाही ही हो। लेकिन चाय पीना मैं पसन्द करता हूँ, यह उसे मालूम हुआ और आदमी भेजकर उसने शहर से चाय मँगाई। उसके पिछले जीवन का इतिहास नहीं जानता, वर्तमान का भी नहीं—इशारे में इतना ही जाना है कि वह अच्छा नहीं है—निन्दनीय, सुनकर घृणा होती है। मगर उसने मुझसे छिपाना नहीं चाहा, सुनने के लिए ही तंग करती रही, मैं ही राजी न हुआ। मुझे कौतूहल नहीं है, क्योंकि जरूरत नहीं है। जरूरत उसे है। अकेले उस जरूरत की बात सोचते हुए साफ समझा, मुझे सुनाए बिना उसके हृदय की ग्लानि मिट नहीं रही है—किसी भी

तरह से वह मन में बल नहीं पा रही है ।

सुना, श्रीकान्त नाम कमललता को उच्चारण नहीं करना चाहिए। पता नहीं, उसका वह परम पूज्य गुरुजन कौन है और कब वह इस लोक से विदा हुआ है। भाग्य में हमारे नाम के इस एक होने ने ही शायद यह विपत्ति लाई है और तब से पिछले जन्म के स्वप्न-सागर में गोते लगाकर उसने दुनिया की सारी वास्तविकता को जलांजलि दी है।

फिर भी लगता है, अचरज की कोई बात नहीं। गले तक रस की साधना में डूबे रहने के बावजूद उसकी एकान्त नारी प्रवृत्ति ने आज भी शायद रस के तत्त्व को नहीं पाया·· वह केवल भूखी प्रवृत्ति इस अटूट भावविलास के सामान सँजोने में शायद आज थक गई है दुविधा से पीड़ित हो उठी है। उसका वह राह भूला, भटका हुआ मन अपने अजाने में कहीं सहारा ढूँढ़कर मर रहा है, उसे यह मालूम नहीं—आज इसलिए वह चौंककर बार-बार अपने पिछले जनम के बन्द दरवाजे पर हाथ फैलाकर अपराध की सान्त्वना माँग रही है। उसकी बातों से यह लगता है कि मेरे श्रीकान्त नाम को ही पाथेय मानकर वह आज भाव खोलना चाहती है।

वैष्णवी चाय ले आई। सारा हो गया इन्तजाम। पीकर बड़ा आनन्द मिला। आदमी का मन कितना सहज ही बदलता है—उसके खिलाफ अब मानो कोई शिकायत नहीं।

पूछा—'कमललता, तुम लोग जात के सूँड़ी हो।'

कमललता हँसकर बोली—'नहीं, स्वर्ण वनिक। लेकिन तुम्हारे लिए तो भेद नहीं, वह दोनों एक ही हैं।'

मैं बोला—'कम-से-कम मेरे लिए यही है। यो ही क्यों, सभी एक होते तो हर्ज नहीं था।'

वह बोली—'ऐसा ही लगता है। तुमने तो गौहर की माँ के भी हाथ का खाया है।'

बोला—'उन्हें तुम नहीं जानतीं। गौहर अपने बाप जैसा नहीं हुआ है, उसे अपनी माँ का स्वभाव मिला है। ऐसा शान्त, सीधा और मीठा आदमी तुमने देखा है कभी। उसकी माँ वैसी ही थी। गौहर के पिताजी से एक बार उनकी लड़ाई की मुझे याद है। छिपाकर किसी को बहुत-से रुपये देने के कारण झगड़ा हुआ। गौहर के बाप गुस्सेबाज थे। हम तो डर से भाग गए। घण्टेभर बाद लौटकर

देखा, उनकी माँ चुप बैठी है। उनके पिता के बारे में पूछने पर पहले तो वे बोली नहीं लेकिन मेरी ओर देखकर हठात् हँसकर लोट पड़ी। आँखों से आँसू की कुछ बूँदें चू पड़ीं। यह भी आदत उनकी।'

वैष्णवी ने पूछा—'इसमें हँसने की क्या बात हुई ?'

मैंने कहा—'हमने भी तो यही सोचा। लेकिन हँसी थमी तो कपड़े से आँखें पोंछ कर बोली, मैं क्या मूरख स्त्री हूँ ! वह मज़े में खा-पीकर नाक बजाता हुआ सो रहा है और मैं भूखी-प्यासी गुस्से के मारे जलकर मर रही हूँ। मुझे क्या पड़ी है कहो ! और कहते-न-कहते उनका राग-रोष धुल गया। औरतों की यह मिलन कितनी बड़ी है, भुक्तभोगी के सिवाय कोई नहीं जानता।'

उसने पूछा—'तुम भुक्तभोगी हो क्या गुसाईं ?'

मैं झेंपा। सवाल उलटी बजाय मेरे सिर आएगा, यह नहीं सोचा था। कहा, 'सब कुछ क्या अपने को ही भोगना पड़ता है कमललता, दूसरे को देखकर भी सीखा जाता है। उस भी वाले से क्या तुमने कुछ नहीं सीखा ?'

वह बोली—'लेकिन वह तो मेरा बिगाना नहीं।'

मेरे मुँह से और कोई सवाल नहीं निकला। स्तब्ध रह गया। वैष्णवी आप भी कुछ देर तक निस्तब्ध रही, उसके बाद हाथ जोड़कर बोली—'विनती करती हूँ, मेरी पिछली कहानी सुन लो।'

'ना। कहो।'

लेकिन कहने चली तो उसे लगा, कहना सहज नहीं। मेरी तरह उसे भी कुछ देर सिर झुकाए रहना पड़ा। लेकिन उसने हार नहीं मानी। अन्दर के द्वन्द्व पर जयी होकर एक बार जब उसने सिर उठाया तो मुझे भी लगा, उसकी स्वाभाविक मुस्की पर एक दमक आ गई। बोली—'अहंकार तो मरकर भी नहीं मरता गुसाईं। हमारा बड़ा गुसाईं कहता है, वह मानो भूसे की आग हो। बुझकर भी नहीं बुझती। राख को हटाओ कि वह जलती मिलेगी। मगर फूँक मारकर उसे लहकाना भी तो ठीक नहीं। तब तो मेरा इस राह पर आना ही वृथा हो जाएगा। सुनो। मगर औरत हूँ, खोलकर सब कह भी न सकूँ शायद।'

मेरी कुण्ठा का अन्त न रहा। अन्तिम बार विनय की—'औरतों की भूल के ब्यौरे में मुझे दिलचस्पी नहीं, उत्सुकता नहीं—मुझे कभी सुनना पसन्द नहीं आता। तुम्हारी वैष्णव-साधना में महापुरुषों ने अहंकार के नाश के बारे में प्रन

बताए हैं, मैं नही जानता, लेकिन अपने छिपे पाप को उघारने का हठपूर्ण तरीक़ा ही अगर तुम्हारे प्रायश्चित का विधान हो, तो ऐसे बहुत से लोग तुम्हें मिलेंगे, जिन्हें ऐसी कहानियो से रुचि है। मुझे माफ करो। इसके सिवाय मैं शायद कल ही चला जाऊँ। जिन्दगी मे फिर कभी शायद हमारी भेंट भी न हो।'

वैष्णवी बोली—'तुमसे तो मैं पहले ही कह चुकी हूँ गुसाईं, जरूरत तुम्हें नही, मुझे है। परन्तु कल के बाद हमारी कभी मुलाकात न होगी, तुम क्या यही कहना चाहते हो? ऐसा हर्गिज नही हो सकता। मेरी आत्मा कह रही है, फिर मुलाकात होगी। मैं इसी उम्मीद पर रहूँगी। लेकिन सच ही क्या तुम्हे मेरे बारे मे कुछ भी जानने की इच्छा नही होती? सदा एक सन्देह और अनुमान लिए ही रहोगे?'

मैंने पूछा—'जगल मे आज जिस शख्स से मेरी भेंट हुई थी, जिसे तुम आश्रम मे घुसने नही देती, जिसकी हरकतो से तुम भाग खडी होना चाहती हो, वह क्या सच ही तुम्हारा कोई नही? बिल्कुल बिगाना है?

'किस डर से भागना चाहती हूँ, तुमने समझा?'

'लगता तो है। लेकिन वह है कौन?'

'कौन! वह मेरे इहकाल-परकाल की नर्क-यन्त्रणा है। अभी तो हरदम रो-रोकर ठाकुर से कहती हूँ, प्रभु, मैं तुम्हारी दासी हूँ। मनुष्य के प्रति मेरे मन मे इतनी बडी घृणा को तुम पोंछ दो। मैं फिर से सहज साँस लेकर जी सकूँ।'

उसकी निगाहो मे आत्मग्लानि फूट उठी। मैं चुप हो रहा। वैष्णवी बोली—'लेकिन एक दिन उससे ज्यादा अपना मेरा कोई न था। ससार म उतना प्यार शायद किसी ने किसी को नही किया।'

उसकी बात से मेरे विस्मय की सीमा न रही और इस खूबसूरत औरत की तुलना मे प्यार के उस बदसूरत पात्र की वीभत्स मूर्ति याद आते ही जी बड़ा छोटा हो गया।

मेरा चेहरा देखकर वह बुद्धिमती इसे ताड गई। कहा—'गुसाईं, यह तो सिर्फ उसका बाहरी रूप है, भीतर का सुनो।'

'कहो।'

वह बोली—'मेरे भाई और भी दो हैं। छोटी लडकी पिता की मैं एक ही हूँ। घर है श्रीहट। पिता व्यापारी ठहरे। कारोबार कलकत्ते मे रहने के कारण

मैं वहीं पली। माँ देश में ही घर-गिरस्ती सम्हालती। पूजा-पूजा में मैं कभी आती तो महीनेभर से ज्यादा नहीं रहती। अच्छा भी नहीं लगता मुझे। कलकत्ते में ही मेरा ब्याह हुआ, सत्रह साल की उम्र में मैंने कलकत्ते में ही उन्हें खो दिया। उनके नाम के नाते ही गोहर गुसाईं से तुम्हारा नाम सुनकर मैं चौंक उठी। अभी तुम्हें नये गुसाईं कहती हूँ, वह नाम नहीं ले सकती।'

मैंने कहा—'मैं समझ गया। फिर ?'

वैष्णवी बोली—'आज जिससे तुम्हारी भेंट हुई, उसका नाम मन्मथ है। वह था हमारा सरकार।' यह कहकर वह एक क्षण मौन रही और बोली—'जब मैं इक्कीस साल की थी, सन्तान सम्भावना हुई।'

वैष्णवी कहने लगी—'मन्मथ का एक भतीजा, जिसके बाप नहीं था, वह हमारे यहाँ रहता था। उम्र मुझसे कम थी। कितना प्यार करता था, कह नहीं सकती। उसे बुलाकर कहा, यतीन, तुमसे मैंने कभी कुछ माँगा नहीं भाई! मेरी इस मुसीबत में मेरी आखिरी मदद करो, मुझे एक रुपये का जहर ला दो।

'पहले तो वह समझ नहीं सका। वह मुझे देवी समझता था। दीदी कहकर पुकारता था। उसे इतनी चोट लगी कि आँखों के आँसू नहीं थमते थे। बात समझी तो उसका चेहरा मुर्दे की तरह विकृत हो गया। मैंने कहा, देर करने से काम नहीं चलेगा भाई, तुरन्त ला देना होगा। इसके सिवाय और चारा नहीं।

'वह बोला, उषा दीदी, आत्महत्या से बड़ा पाप नहीं। एक अन्याय के कन्धे दूसरा बड़ा अन्याय लादकर तुम राह निकालना चाहती हो? लेकिन शर्म से बचने का अगर यही उपाय तुमने तय किया हो, तो मैं तुम्हारी हर्गिज मदद नहीं करूँगा। इसके सिवाय मुझे जो भी आज्ञा दोगी, सिर-आँखों पर।

'उसी के कारण मेरा मरना न हुआ।'

'धीरे-धीरे बात पिताजी के कानों पहुँची। वे निष्ठावान वैष्णव तथा शान्त और निरीह प्रकृति के आदमी थे। मुझसे उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, पर दुःख और शर्म से दो-तीन दिनों तक बिस्तर से उठ नहीं सके। फिर गुरुदेव की राय से मुझे नवद्वीप लिवा गए। तय पाया कि मन्मथ और मैं—दोनों लेकर वैष्णव होंगे—फूल और तुलसी की माला बदलकर नये सिरे से हमारा विवाह होगा। उससे पाप का प्रायश्चित्त होगा या नहीं, नहीं जानती, लेकिन जो शिशु गर्भ में आ चुका है, माँ होकर उसकी हत्या नहीं करनी पड़ेगी, इसी भरोसे मेरी आधी पीड़ा

जाती रही। तैयारियाँ शुरू हुईं। दीक्षा कहो या भेख यह भी हो गया। मेरा नया नाम पड़ा, कमललता। लेकिन मुझे तब तक भी यह पता नहीं था कि पिताजी ने दस हजार रुपये देने का वचन देकर ही मन्मथ को इसके लिए राजी कर पाया था। पता नहीं किस कारण से, ब्याह का दिन कितने दिन बढ़ गया। हफ्तेभर बढ़ा होगा। मन्मथ का खास पता नहीं रहता। नवद्वीप के डेरे पर मैं अकेली ही रहती। कई दिन बीत गए। ब्याह का शुभ दिन आ पहुँचा। नहाकर पवित्र होकर, ठाकुर की प्रसादी माला हाथ में लिये इन्तजार में रही।

'उदास चेहरा लिए पिताजी एक बार घूम गए। वैष्णव के बाने में मन्मथ जब दिखाई दिया तो मन के अन्दर जैसे बिजली कौंध गई। खुशी या गम की, ठीक नहीं जानती। शायद हो कि दोनों ही हो। जी में आया, उठकर उनके चरणों की धूल माथे लगाऊँ, पर लाज से वैसा न कर सकी।

'कलकत्ते की दाई सब सामान ले आई। उसने मुझे पाल-पोस कर बड़ा किया था। तिथि बढ़ने का कारण उसी से सुना।'

जाने कब की बात, मगर उसकी आँखें गीली होकर गला भर आया। मुँह फेरकर वैष्णवी आँसू पोंछने लगी।

पाँच छः मिनट के बाद पूछा—'क्या कारण बताया उसने?'

वह बोली— बताया कि मन्मथ अचानक दस के बदले बीस हजार रुपया माँग बैठा। मुझे खाक भी खबर न थी। पूछ बैठी, तो मन्मथ क्या रुपये लेकर राजी हुआ? और पिताजी बीस हजार देने को तैयार हो गए हैं? दाई ने कहा, उपाय क्या है? बात ऐसी-वैसी तो है नहीं, जाहिर हो जाए, तो कुल, मान, जात-समाज —सब जाएगा।

'मन्मथ ने असली बात अन्त में जाहिर कर दी कि करतूत तो मेरी है नहीं, यतीन की है। लिहाजा बिना कसूर के अगर जात ही गँवानी पड़े तो बीस हजार से कम पर नहीं। फिर दूसरे के बच्चे का बाप होना स्वीकारना क्या कम कठिन है!

'यतीन अपने कमरे में बैठा पढ़ रहा था। उसे बुलाकर यह कहा गया। सुनकर पहले तो वह भौंचक्का रह गया, उसके बाद बोला—झूठ!

'चचा मन्मथ चीख उठा—पाजी, कमीना, नमकहराम! जिसने अन्न-वस्त्र देकर तुझे पढ़ाया-लिखाया, तूने उसी का सर्वनाश किया। कैसे विषधर को मैंने

मालिक के यहाँ रख दिया था। सोचा था, माँ-बाप नहीं हैं, एक ठौर-ठिकाना हो जाएगा। छि छि छि —यह कहकर वह छाती-कपाल पीटने लगा। कहा, उषा ने खुद यह कहा है और तू इनकार कर रहा है?

'यतीन चौंक उठा। उषा दीदी ने खुद मेरा नाम लगाया है? मगर वे तो कभी झूठ नहीं बोलतीं। इतना बड़ा झूठा अपवाद तो उनके मुँह से नहीं निकल सकता।

'मन्मथ फिर चीख उठा, फिर भी इन्कार करता है रे पाजी। मालिक से पूछ देख, वे क्या कहते हैं।

'मालिक ने कहा।

'यतीन बोला, दीदी ने स्वयं मेरा नाम लिया।

'मालिक ने गर्दन हिलाकर फिर कहा।

'पिताजी को वह देवता मानता था। प्रतिवाद नहीं किया। कुछ देर काठ का मरा-सा खड़ा रहा फिर सिर झुकाकर धीरे-धीरे चला गया। क्या सोचा, वही जाने।

'रात किसी ने उसकी खोज न की। सवेरे किसी ने खबर दी। सब दौड़े-दौड़े गए। देखा, हमारे टूटे अस्तबल में एक कोने में यतीन गले में रस्सी डाले झूला पड़ा है।'

वैष्णवी बोली—'शास्त्र में भतीजे की आत्महत्या के लिए चाचा के अशौच की विधि है या नहीं नहीं मालूम; शायद नहीं है, शायद गंगा नहाने से ही शुद्ध हो जाता है—खैर जो हो, ब्याह का दिन बढ़ गया—उसके बाद गंगा नहाकर पवित्र हो मन्मथ गुसाईं माला-तिलक किए मेरे पाप-विमोचन के लिए नवद्वीप पधारे।

एक क्षण चुप रहकर वह फिर बोली—'मैं ठाकुर की प्रसादी माला को उन्हीं के चरणों में लौटा आई। मन्मथ का अशौच गया। लेकिन पापिन उषा का अशौच इस जीवन में तो नहीं गया गुसाईं।'

पूछा—'उसके बाद?'

वह मुँह फेरे हुई थी। जवाब नहीं दिया। समझा, इस बार सम्हलने में देर लगेगी। देर तक दोनों चुप ही रहे।

इसका अन्त सुनने के लिए उत्सुकता प्रबल हो उठी। पूछूँ या नहीं, सोच रहा

या कि गीले कण्ठ से वह आप ही बोली—'गुसाईं, जानते हो, ससार मे यह पाप नाम की चीज ऐसी भयकर क्यो है ?'

कहा—'अपनी धारणा के मुताबिक तो जानता हूँ, तुम्हारी धारणा से उसका शायद मेल न हो।'

जवाब मे उसने कहा—'तुम्हारी धारणा क्या है, नही जानती, लेकिन उस रोज से मैंने इसे अपने हिसाब से समझ रखा है गुसाईं। ढिठाई से तुम बहुतो को कहते हुए पाओगे—कुछ नही होता। बहुतो की नजीर देकर वे अपनी बात साबित करना चाहेगे। लेकिन उसकी तो कोई जरूरत नही। इसका प्रमाण तो मन्मथ है, मैं खुद हूँ। हमे आज भी कुछ नही हुआ। हुआ होता तो इसे इतना भयकर मैं नही कहती। लेकिन वैसा नही है, इसका दण्ड भोगते हैं निर्दोष, निरपराध लोग। यतीन को आत्महत्या से बडा डर था, लेकिन वह उसी से अपनी दीदी के अपराध का प्रायश्चित्त कर गया। तुम्ही कहो गुसाईं, इससे कठोर और भयकर ससार मे क्या है ? लेकिन ऐसा ही होता है; इसी प्रकार ठाकुर अपनी सृष्टि की रक्षा करते है।'

इस पर तर्क करने से लाभ नही। उसकी दलील और भाषा, कुछ भी प्राजल नही। फिर भी यही सोच लिया, उसकी दुष्कृति की शोकभरी स्मृति, हो सकता है, इसी उपाय से अपने पाप-पुण्य की उपलब्धि करके सान्त्वना पा गई।

पूछा—'कमललता, इसके बाद क्या हुआ ?'

सुनकर वह मानो व्याकुल हो उठी। कहा—'सच कहो गुसाईं, इसके बाद भी तुम्हें मेरी बात सुनने की इच्छा होती है ?'

'सच कहता हूँ, होती है।'

वैष्णवी बोली—'मेरा सौभाग्य है कि इस जन्म मे फिर तुम्हारे दर्शन मिलें।' इसके बाद चुप होकर कुछ मेरी तरफ देखकर वह बोली—'चारेक दिन बाद एक मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ। उसे गगा के किनारे गाडकर नहा करके लौटी। पिताजी रोकर बोले, मैं तो अब रह नही सकता बेटी। मैंने कहा, नहीं, आप घर जाइए। बहुत कष्ट दिया। आप अब मेरी चिन्ता न करें।

'पिताजी ने कहा, 'बीच-बीच मे कुशल तो भेजोगी ?'

'कहा, 'नही। मेरी खबर की फिक्र आप बिल्कुल छोड दें।'

''लेकिन तुम्हारी माँ तो अभी जिन्दा ही है उषा ?'

'कहा, 'मैं नही मरूँगी पिताजी, मगर मेरी सती माँ से कह दें उषा मर गई। माँ को तकलीफ होगी, पर यह सुनकर और भी तकलीफ होगी कि मैं जिन्दा हूँ।'

'आँखें पोंछकर पिताजी कलकत्ता चले गए।'

मैं चुप होकर बैठ गया। कमललता कहने लगी—'पास मे रुपये थे। मकान किराया चुकाकर मैं भी निकल पड़ी। साथी भी मिल गए—वे वृन्दावन जा रहे थे। मैं भी साथ हो गई।'

वैष्णवी जरा रुककर बोली—'उसके बाद कितने तीरथ, राह-बाट और पेड़ो तले कितने दिन बीत गए।'

मैंने कहा—'सो तो समझा, लेकिन कितने बाबाजी की कितनी निगाहो का ब्यौरा तो नही बताया?'

वह हँस पड़ी। कहा—'बाबाजी लोगों की दृष्टि बड़ी निर्मल होती है, उनके बारे मे अश्रद्धा की बात नही कहनी चाहिए।'

मैंने कहा—'नही-नही, अश्रद्धा नही, बड़ी श्रद्धा के साथ ही मैं उनकी कहानी सुनना चाहता हूँ कमललता।'

अब की वह हँसी जरूर नही, लेकिन दबी हँसी को छिपा भी न सकी। बोली, 'जो बाबाजी प्यार करता हो, उसे तमाम बातें खोलकर नही कहनी चाहिए। अपने वैष्णवी शास्त्र मे इसकी मनाही है।'

मैंने कहा—'तो रहने दो, तमाम बातो से मतलब नहीं, लेकिन एक बात बताओ, गुसाई द्वारकाप्रसाद को कहाँ से खोज निकाला?'

सकोच से कमललता ने जीभ काटकर कपाल पर हाथ रखा। कहा—'मजाक नही करना चाहिए, वे मेरे गुरुदेव हैं।'

'गुरुदेव! तुमने उन्ही से दीक्षा ली है?'

'नही, दीक्षा तो नही ली, लेकिन वे गुरु की नाई ही पूज्य हैं।'

'लेकिन ये इतनी-इतनी देवदासियाँ-सेवादासी या क्या तो कहते हो तुम'''

कमललता ने जीभ काटकर कहा—'वे सब मेरी ही तरह उनकी शिष्या हैं। उन्होंने उन सबका भी उद्धार किया है।'

मैंने कहा—'उद्धार जरूर किया है, लेकिन परकीया-साधना या ऐसी ही कौन साधना-पद्धति तुम लोगो मे है—उसमे तो दोष नहीं—'

मुझे रोककर वैष्णवी बोली—'तुम लोग असल से सदा हमारी खिल्लियाँ ही

उगाते रहे, पास जाकर कभी कुछ देखा नहीं। अभी ऐसा व्यंग्य कर सकते हो। हमारे बड़े गुसाई संन्यासी हैं, उनका उपहास करने से अपराध होगा। ऐसी बात फिर कभी जबान पर मत लाना।'

उसकी बात और गम्भीरता से कुछ अप्रतिभ हुआ। इसे देखकर वैष्णवी मुस्कराकर बोली –'दो दिन हमारे साथ रह न जाओ गुसाईं ? मैं केवल बड़े गुसाईं के नाते नहीं कह रही हूँ, मुझे तो प्यार करते हो तुम, आइन्दे कभी हमारी भेंट न भी हो, तो भी यह तो देख जाओगे कि वास्तव में कमललता दुनिया में क्या लिए रहती है। यतीन को मैं आज भी नहीं भूली हूँ—रुको दो दिन—मैं कहती हूँ, तुम्हें सचमुच ही खुशी होगी।'

चुप रहा। ऐसा नहीं कि इन लोगों के बारे में मैं कुछ जानता ही नहीं, असली वैष्णवी की सच्ची टगर की भी याद आ गई, मगर मजाक करने की इच्छा नहीं हुई। इन सारी चर्चाओं में यतीन की प्रायश्चित वाली घटना मुझे भी रह-रहकर अनमना किए दे रही थी।

वैष्णवी ने एकाएक पूछा—'अच्छा गुसाईं, सच ही क्या तुमने अब तक कभी किसी को प्यार नहीं किया ?'

'तुम्हारा क्या ख्याल है ?'

'मुझे लगता है, नहीं। असल में तुम्हारा मन वैरागियों जैसा है, उदासीन। तितली जैसा। बन्धन तुम कभी कबूल ही न कर सकोगे।'

हँसकर बोला—'तितली की उपमा तो ठीक नहीं हुई कमललता, यह बहुत कुछ माली जैसी हुई। कहीं भी अगर मेरी कोई प्रेमिका हो और यह बात उसके कानों तक पहुँचे तो अनर्थ होगा !'

वैष्णवी भी हँसी। बोली—'घबराओ मत गुसाईं, सच ही कोई हो तो मेरी बात पर वह विश्वास ही नहीं करेगी और तुम्हारे मीठे धोखे को जीवन में वह पकड़ भी न पाएगी।'

मैंने कहा—'फिर उसका दुःख क्या ? धोखा ही हो, मगर उसके पास तो वही सत्य बनी रहेगी।'

सिर हिलाकर वैष्णवी ने कहा—'यह नहीं हो सकता गुसाईं, झूठ कभी सच की जगह लेकर नहीं रह सकता। वे समझें चाहे नहीं, कारण उनके आगे स्पष्ट न हो, लेकिन मन उनका सदा अश्रुमुख ही बना रहता है। झूठ की हकीकत देख चुकी

है। इस राह पर ऐसे आए तो बहुतेरे, पर जिनके लिए यह राह सही नहीं थी, पानी के प्रवाह में सूखी बालुका-राशि की नाईं उनकी सारी साधना ही सदा अलग-अलग रह गई—जम नहीं सकी।'

ज़रा रुककर वह मानो अचानक अपने ही आप बोल उठी—'वास्तव में रस का पता तो उन्हें होता नहीं, इसलिए प्राणहीन निर्जीव पुतले की निरर्थक सेवा में उनके प्राण दो ही दिन में हाँफ उठते हैं। सोचने लगते हैं, जाने किस माया के कारण अपने को ठग रहे हैं! और ऐसों को ही देखकर तुम लोग हमारा मज़ाक उड़ाना सीखते हो—मगर मैं नाहक यह सब बकवास क्या कर रही हूँ, मेरे इन असम्बद्ध प्रलाप की तुम तो एक भी बात नहीं समझ सकोगे। ऐसी अगर कोई तुम्हारी हो—तुम उसे भूलोगे, परन्तु वह न तो तुम्हें भूल सकेगी, न ही सूख पाएगी कभी उसकी आँखों की अश्रुधारा।'

मैंने मान लिया कि उसके कथन के पहले अंश को मैं नहीं समझ सका। दूसरे अंश का प्रतिवाद करते हुए बोला—'तो तुम क्या मुझे यही कहना चाहती हो कि मुझे प्यार करने का मतलब ही दुःख पाना है?'

'दुःख तो मैंने कहा नहीं, मैंने तो आँसू की बात कही।'

'बातें लेकिन एक ही हैं, सिर्फ शब्दों का उलट-फेर है।'

वैष्णवी बोली—'नहीं। बात दोनों एक नहीं हैं। न तो शब्दों का हेर-फेर है, न ही भावों का। औरतें उसके इस पक्ष का भी भय नहीं करतीं और उसे टालना भी नहीं चाहतीं। लेकिन इसे तुम कैसे समझोगे?'

'जब कुछ समझ ही नहीं सकता तो मुझसे कहना भी क्या?'

'कहे बिना भी तो रह नहीं सकती गुसाईं। प्रेम की वास्तविकता पर जब तुम पुरुषों का दल क्षीण होकर चलता है तो सोचती हूँ, हमारी तो जात ही अलग है। तुम्हारे और हमारे प्यार करने की प्रकृति ही अलग है। तुम विस्तार चाहते हो, हम चाहती हैं गहराई; तुम्हें उत्थान पसन्द है, हमें रखनी है शान्ति। जानते हो, प्यार के नशे से हम हृदय से डरती हैं, उसकी मादकता से हमारे दिल की धड़कन नहीं थमती।'

कुछ पूछने जा रहा था, पर उसने परवाह ही न की, भाव के आवेग में कहने लगी—'वह हमारे लिए सत्य भी नहीं, अपना भी नहीं। उसकी दौड़-धूप की चपलता जिस दिन रुकती है, हम केवल उसी दिन सन्तोष की साँस लेते हैं। नशे

गुसाईं, निर्भर हो पाने जैसी प्रेम की बड़ी प्राप्ति औरतों के लिए और नहीं है, लेकिन वही चीज तो तुमसे कभी किसी को नहीं मिलेगी।'

मैंने पूछा—'नहीं मिलेगी, यह तुम निश्चित जानती हो ?'

वह बोली—'हाँ, निश्चित। तभी तुम्हारी बड़ाई बर्दाश्त नहीं होती।'

चकित हुआ। कहा—'बड़ाई तो तुम्हारे सामने कभी की नहीं कमललता ?'

उसने कहा—'जानकारी नहीं की—लेकिन तुम्हारा वह उदासीन वैरागी मन—उससे बड़ा अहंकार संसार में और कुछ है क्या ?'

'लेकिन सिर्फ इन दो दिनों में तुमने मुझे इतना कैसे जान लिया ?'

'तुम्हें प्यार किया, इसलिए।'

सुनकर मन-ही-मन कहा, तुम्हारे दुःख और आँसू के प्रभेद को अब समझा। लगातार भाव की पूजा और रस की आराधना का शायद यही परिणाम होता है।

पूछा—'प्यार किया, यह बात क्या सच है ?'

'सच।'

'लेकिन तुम्हारा जप तप, कीर्त्तन, ठाकुर-सेवा इन सबका क्या होगा ?'

वह बोली—'इनसे तो ये और भी सत्य, और भी सार्थक हो उठेंगे। चलो न गुसाईं, सब छोड़-छाड़कर हम दोनों राह में निकल पड़ें।'

गर्दन हिलाकर कहा—'नहीं कमललता, कल मैं चला जाऊँगा। किन्तु जाने के पहले गौहर के बारे में जान जाने की इच्छा होती है।'

उसने निश्वास छोड़कर कहा—'गौहर के बारे में ? न, वह जानने की जरूरत नहीं तुम्हें। लेकिन सच ही तुम चले जाओगे कल ?'

'सच ही चला जाऊँगा।'

वह जरा देर स्तब्ध रहकर बोली—'लेकिन इस आश्रम में तुम फिर आओगे और तब कमललता को यहाँ लेकिन नहीं पाओगे।'

आठ

यहाँ अब एक पल भी रहना ठीक नहीं, इस बात में सन्देह नहीं था, पर सोचते ही कोई मानो ओट में खड़ी होकर कनखियों से मना करते हुए कहती, जा क्यों रहे

हो ? छ-सात दिन रहने की सोचकर ही तो आए थे, रहो न ! तकलीफ क्या है ?

रात बिस्तर पर पड़े-पड़े सोच रहा था, ये आखिर हैं कौन, एक ही शरीर में रहकर, एक ही समय परस्पर विरोधी अभिप्राय देते हैं ? किसकी बात अधिक सत्य है ? कौन ज्यादा अपने हैं ? विवेक, बुद्धि प्रवृत्ति, मन—ऐसे जाने कितने नाम हैं, जाने कितनी दार्शनिक व्याख्याएँ हैं इनकी, लेकिन विश्वस्त सत्य की प्रतिष्ठा कौन कर सका ? जिसे अच्छा मानकर कदम बढ़ाता हूँ, इच्छा वहीं आकर बाधा क्यों देती है ? अपने अन्दर के इस विरोध, इस द्वन्द्व का अन्त क्यों नहीं होता ? मन कहता है, मेरा चला जाना ही ठीक है, कल्याणकर है, लेकिन तुरन्त उसी मन की दोनों आँखों में आँसू क्यों भर आते हैं ? बुद्धि, विवेक, प्रवृत्ति, मन—इन सब बातों की सृष्टि करके सान्त्वना कहाँ है ?

मगर जाना ही पड़ेगा—पीछे हटने से काम नहीं चल सकता और चल ही। सोचने लगा, यह जाने वाला काम किस तरह से सम्पन्न करूँ। बचपन का एक तरीका जानता हूँ, गायब हो जाना। विदाई के बोल नहीं लौट आने का आश्वासन-वाक्य नहीं, हेतु प्रदर्शन नहीं, प्रयोजन के कर्तव्यबोध का निवारण नहीं—मैं था और मैं नहीं हूँ, सिर्फ इस सच्ची घटना के आविष्कार का भार उन पर छोड़ देना, जो रह गए।

सोचा, सोना नहीं चाहिए। ठाकुर की मंगल-आरती शुरू होने से पहले ही अँधेरे में छिपकर निकल पड़ूँगा। एक ही मुसीबत थी, पुण्टू के दहेज में देने के रुपये बैग के साथ कमललता के पास थे। खैर छोड़ो। या तो कलकत्ते में या जाकर बर्मा से पत्र लिखूँगा। इसमें और भी एक काम होगा कि मेरे लौटने तक कमललता को मजबूर होकर यहीं रहना पड़ेगा—राह-घाट में भटकने की नौबत नहीं आएगी। जेब में जो थोड़े-से रुपये हैं, कलकत्ता पहुँचने के लिए काफी हैं वे।

बड़ी रात इसी तरह बीती और क्योंकि यह संकल्प कर लिया था कि नहीं सोऊँगा, इसीलिए शायद किसी वक्त सो गया। कब तक सोया था, पता नहीं। अचानक ऐसा मालूम हुआ कि सपने में गीत सुन रहा हूँ। जी में हुआ, शायद रात का ही कार्यक्रम अभी शेष नहीं हुआ, फिर लगा भोर की मंगल-आरती शुरू हो गई—लेकिन घण्टा-घड़ियाल की वह परिचित कर्कश आवाज नहीं थी। अधूरी नींद टूटना भी नहीं चाह रही थी, आँख खोलकर देख भी नहीं सकता था, लेकिन तब तक भोर के सुर में मीठी आवाज कानों में पहुँची—'राधे जागो, जागो री ! गुसाईं

जी, और कितना सोओगे, उठो।'

बिछावन पर उठ बैठा। मसहरी उठी हुई थी, पूरब की खिड़की खुली थी—सामने आम की डाल पर लवंग मंजरी के कुछ गुच्छे नीचे तक लटक आए थे—उन्हीं की फाँक में से दिखाई दिया, आसमान के कुछ हिस्से में फीकी आभा का आभास हो आया है—अँधेरी रात में दूर किसी गाँव में आग लगने जैसी मन में कहीं मानो पीड़ा हो आई। कुछ चमगादड़ अपने अड्डे को लौटे आ रहे थे शायद, उनके पंखों की फड़फड़ाहट कानों में आई। समझ गया, रात खत्म हो रही है। कोयल, बुलबुल और काली मैना का देश। शायद हो कि राजधानी कलकत्ता हो। मौलसरी का वह विशाल पेड़ उनके काम-कारबार का बड़ा बाजार है—दिन में उस पर की भीड़ देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है। तरह-तरह की शक्ल, तरह-तरह की भाषा रंग-बिरंगी पोशाकों का अजीब जमघट। और रात में अखाड़े के चारों ओर पेड़ों की डालों पर उनके अनगिनत अड्डे। नींद टूटने की की आहट मिलने लगी, ऐसा लगा, मानो हाथ-मुँह धोकर तैयार हो रही हैं—अब दिनभर नाचगीत का महोत्सव शुरू हो जाएगा। सबकी सब लखनऊ की उस्ताद हैं, थकती भी नहीं, कसरत भी नहीं रोकती। अन्दर के वैष्णवों का गाना तो कभी थमता भी है—बाहर वह बला ही नहीं। यहाँ छोटे-बड़े, भले-बुरे का विचार नहीं चलता, इच्छा और समय हो या नहीं हो, गीत सुनना ही पड़ेगा। इधर का यही शायद नियम है। याद आया, कल दोपहर में पिछवाड़े के बाँस की झाड़ियों में हुल्लोरी चिड़ियों की चीख-पुकार से मेरी दिवा-निद्रा में काफी बाधा पड़ी थी। खुशकिस्मती कहिए कि इधर मोर नहीं होते, नहीं तो उस महफिल में वे शामिल हो जाते, तो लोगों का यहाँ टिकना मुश्किल था। खैर, दिन का उत्पात अभी आरम्भ नहीं हुआ था, मजे में और थोड़ी देर सो सकता था, लेकिन रात के संकल्प की याद आ गई। दुबककर भाग जाने की भी गुंजाइश न थी—पहरेदार की चौकसी से इरादे पर पानी फिर गया। नाराज होकर कहा—'मैं न तो राधा हूँ, न ही मेरे बिस्तर पर श्याम हैं—आधी रात को जगा देने की क्या जरूरत थी?'

वैष्णवी बोली—'रात कहाँ है भला। सुबह की गाड़ी से आज तुम्हारे कलकत्ता जाने की बात थी। मुँह-हाथ धो लो, मैं चाय बना लाती हूँ। मगर नहाना मत। आदत नहीं है, तबियत खराब हो सकती है।'

मैंने कहा—'हो सकती है तबियत खराब। जिस गाड़ी से बनेगा, चला

जाऊँगा। लेकिन तुम इतनी उतावली क्यों हो, सो तो कहो ?'

वह बोली—'किसी और के जगने से पहले मैं तुम्हें बड़े रास्ते तक छोड़ आना चाहती हूँ।'

उनका चेहरा साफ दीखा नहीं, लेकिन बिखरे बालों को देखकर कमरे की उतनी कम रोशनी में भी समझ में आ गया कि वे गीले हैं—वैष्णवी नहाकर तैयार है।

मैंने पूछा—'मुझे वहाँ तक पहुँचाकर आश्रम ही लौट आओगी न ?'

वह बोली—'हाँ।'

रुपये की थैली मेरे बिस्तर पर रखकर वह बोली—'तुम्हारा बैग। राह में इसे सावधानी से रखना। रुपये गिन लो।'

सहसा कोई बात न फूटी। ठहरकर बोला—'कमललता, तुम बेकार ही इस रास्ते आईं। कभी तुम्हारा नाम कमला था, आज भी तुम वही कमला ही हो—जरा भी नहीं बदली।'

'क्यों भला ?'

'तुम्हीं कहो कि मुझे रुपये गिन लेने को क्यों कहा ? क्या सचमुच ऐसा ख्याल है कि मैं गिन लूँगा ? जो सोचते और तरह से हैं, बोलते और तरह से हैं, उन्हें पाखण्डी कहते हैं। जाने से पहले बड़े गुसाईं जी से मैं कह जाऊँगा कि आश्रम की बही से वे तुम्हारा नाम काट दें। तुम वैष्णवों में कलंक हो।'

वह चुप रही।

मैं भी कुछ देर चुप रहकर बोला—'आज सवेरे जाने की इच्छा नहीं है।'

'नहीं है ? तो कुछ देर और सो रहो। जगने पर सफर करना—हाँ ?'

'लेकिन अभी तुम करोगी क्या ?'

'मुझे काम है। फूल तोड़ने जाऊँगी।'

'इस अँधेरे में ? डर नहीं लगेगा ?'

'डर काहे का ? सवेरे की पूजा के फूल मैं ही लाती हूँ। न लाऊँ तो उन्हें बड़ा कष्ट होता है।'

'उन्हें' से मतलब दूसरी वैष्णवियों से था। दो दिन यहाँ रहकर मैं गौर कर रहा था कि सबकी ओट में रहकर यहाँ का सारा भारी भार कमललता अकेली ही ढोया करती है। सभी व्यवस्था में उसका कर्तव्य सबसे ऊपर। लेकिन स्नेह सौजन्य

से, विनम्र कर्म-कुशलता से यह कर्तव्य ऐसी सहज शृंखला से प्रवाहित था कि ईर्ष्या-द्वेष का ज़रा भी मैल नहीं जम पाता। और, आश्रम की वही लक्ष्मी आज बड़ी बेकली के साथ जाने को तैयार है। यह कितनी बड़ी दुर्घटना है, कैसी असहाय दुर्गति में यहाँ के इतने-इतने स्त्री-पुरुष पड़ जाएंगे, यह अनुभव करके मुझे भी क्लेश हुआ। दो ही दिन से इस मठ में हूँ, किन्तु कैसा एक आकर्षण अनुभव कर रहा हूँ—ऐसा ही मनोभाव कि अन्तर से इसकी शुभ कामना किए बिना नहीं रह सकता। सोचा, लोग गलत कहते हैं कि आश्रम सबके मिलने से है, यहाँ सभी समान हैं। लेकिन आँखों के सामने ही मैं यह देखने लगा कि एक के न होने से केन्द्र से छूटे उपग्रह की तरह सारा आकार ही दिशा दिशा में बिखर सकता है। मैंने कहा—'अब सोऊँगा नहीं कमललता, चलो, तुम्हारे साथ फूल तोड़ने चलूँ।'

उसने कहा—'तुमने स्नान नहीं किया, कपड़े नहीं बदले, तुम्हारे छुए फूलों से पूजा कैसे होगी ?'

मैंने कहा—'न सही, फूल मत तोड़ने दो, डाल नवा देने तो दोगी। तो भी तुम्हारी सहायता होगी।'

वैष्णवी बोली—'पौधे छोटे-छोटे हैं, डाल नवाने की जरूरत ही नहीं पड़ती, मैं खुद सब कर लेती हूँ।'

कहा—'साथ रहूँगा, तो सुख-दुःख की दो बातें तो करूँगा। इससे भी तुम्हारा गम कुछ हल्का होगा।'

अबकी वैष्णवी हँसी। कहा—'एकाएक बड़ी हमदर्दी हो आती है। खैर। चलो, मैं टोकरी ले आऊँ। इतने में तुम हाथ-मुँह धो लो।'

आश्रम के बाहर कुछ ही दूर पर फूलों का बगीचा। आम के घने बगीचे के बीच से राह। सिर्फ अँधेरे की वजह से नहीं, झड़े पत्तों की भीड़ से राह की रेखा तक छिप गई थी। वैष्णवी आगे, पीछे-पीछे मैं। तो भी डर लगने लगा, कहीं साँप पर पैर न रख दूँ। कहा—'कमललता, रास्ता भूल तो नहीं जाओगी ?'

वह बोली—'नहीं। आज कम-से-कम तुम्हारे लिए मुझे राह पहचानकर चलना होगा।'

'एक अनुरोध रखोगी कमललता ?'

'कौनसा अनुरोध ?'

'यहाँ से कहीं चली मत जाना।'

'जाने से तुम्हारा क्या नुकसान ?'

उत्तर नहीं दे सका। चुप रह गया।

वैष्णवी ने कहा—'मुरारी ठाकुर का एक गीत है। भावार्थ है, 'हे सखी, लौटकर जो अपने घर जाती है, वह जीते जी मरकर अपने को खाती है। उसे तुम क्या समझाओगी ?' गुसाईं, दोपहर के बाद तुम कलकत्ता चले जाओगे—एक शाम से ज्यादा नहीं रह सकोगे—न ?'

कहा—'कैसे कहूँ। सवेरा पहले बीत ले।'

वैष्णवी ने जवाब नहीं दिया। जरा रुककर गुन-गुन कर गाने लगी—

'कहे चण्डीदास सुन विनो दिने। सुख-दुख दुटि भाई—
सुखेर लागिया ये करे पीरीति दुख जाय तारइ ठाईं।'

रुकी तो, मैंने पूछा—'उसके बाद ?'

'उसके बाद नहीं जानती।'

कहा—'तो और ही कुछ गाओ।'

'चण्डीदास वाणी सुन विनोदिनी पीरीति ना कहे कथा,
पीरीति लागिया पराण छाड़िले पीरीति मिलाय तथा।'

अबकी भी रुकी तो कहा—'उसके बाद ?'

वह बोली—'उसके बाद कुछ नहीं। यही शेष है।'

शेष ही है ! दोनों जने चुप हो रहे। बड़ी इच्छा होने लगी, जल्दी से उसके पास जाऊँ और कान में कुछ कहकर इस अँधेरी राह में उसका हाथ पकड़कर चलूँ। जानता हूँ, वह नाराज न होगी, बाधा नहीं देगी, मगर किसी भी तरह पैर न बढ़े, मुँह से बात भी न निकली। जैसे चल रहा था, वैसे ही धीरे-धीरे चुपचाप वन से बाहर आ निकला।

आश्रम का बगीचा रास्ते के किनारे है। घिरा हुआ। ठाकुर की पूजा के फूल रोज यहीं से आते हैं। खुली जगह में अब वैसा अँधेरा न था, लेकिन प्रकाश भी वैसा नहीं हुआ था। फिर भी नजर आया, मल्लिका के बेहिसाब फूले फूलों से सारा बगीचा मानो सफेद हो उठा है। सामने घना लदे हुए कचरा के पेड़ में फूल नहीं था—किन्तु पास ही असमय में कहीं रजनीगन्धा के दो-चार फूल फूले थे, जिनसे वह कमी पूरी हो गई थी। बीच वाली जगह सबसे ज्यादा ऊब रही थी। भोर की धुंधली आभा में भी पहचाने जा रहे थे, स्थलपद्म के कुछ पेड़ फूलों की

गिनती नहीं—हजारों सुर्ख आँखें फैलाए वे बगीचे के चारों तरफ देख रहे थे।

मैं कभी इतना सवेरे बिस्तर से नहीं उठता। यह समय सदा ही नींद की जड़ता में बीत जाता है। आज कितना अच्छा लगा, कह नहीं सकता। पूरब के लाल दिगंत में ज्योतिर्मय का आभास मिल रहा है, निस्तब्ध महिमा से सम्पूर्ण आकाश शान्त हो रहा है और सामने लता-लता, सौरभ शोभा, फूल-फूल से भरा उपवन। कुल मिलाकर यह मानो निःशेष रात की वाक्यहीन आँसू रुँधी विदाई की भाषा हो।

पलभर में करुणा, ममता और अयाचित दाक्षिण्य में मेरा सारा हृदय भर उठा। सहसा बोल उठा, 'कमललता, जीवन में तुमने बहुत दुःख उठाया है, बहुत कष्ट पाया है, प्रार्थना करता हूँ, अब जिसमें सुखी होओ।'

फूल की खाली टोकनी को चम्पा की डाल से लटकाकर वह बड़े का बन्धन खोल रही थी, चकित होकर उसने मुड़कर देखा—'एकाएक तुम्हें हो क्या गया गुसाईं?'

अपनी बात अपने ही कानों कैसी लगी थी, उनके सविस्मय प्रश्न से बड़ा अप्रतिभ हो उठा। जवाब न मिला लज्जित का एक आवरण है अर्थहीन हँसी की चेष्टा—वह भी सफल न हुई। लाचार चुप ही रहा।

कमललता बगीचे के अन्दर गई। मैं भी गया। फूल तोड़ते हुए वह बोली—'मैं सुखी हूँ गुसाईं। जिनके चरण-कमलों में अपने को चढ़ा दिया है, वे कभी दासी को परित्याग नहीं करेंगे।'

सन्देह हुआ कि कहने का मतलब स्पष्ट नहीं है—लेकिन स्पष्ट करने के लिए कहने का साहस भी न हुआ। वह मीठे स्वर में गुनगुनाने लगी।

रोकना पड़ा। मैंने कहा—'रहने भी दो। उधर घड़ियाल बजने लगा। लौटोगी नहीं?'

मेरी ओर देखकर हँसते हुए वह फिर गा उठी

'धरम करम जाउब ताहे ना डराइ,
मनेर मरमे पाछे बन्धुरे हाराइ।'

'अच्छा नये गुसाईं, जानते हो, स्त्री का गाया हुआ गीत बहुत-से लोग नहीं सुनना चाहते हैं—उन्हें बड़ा बुरा लगता है।'

कहा—'जानता हूँ। मगर मैं उतना बर्बर नहीं हूँ।'

'तो फिर मुझे रोक क्यों दिया?'

'उधर आरती शुरू हो गई है। तुम्हारे न रहने से कमी रहेगी।'

'यह झूठ फरेब है गुसाईं।'

'फरेब कैसे ?'

'कैसे, सो तुम्हीं जानते हो। यह बात तुमसे कही किसने ? मेरे न रहने से ठाकुर की सेवा में कमी रहेगी, ऐसा तुम विश्वास करते हो ?'

'करता हूँ। मुझसे किसी ने कहा नहीं, मैंने अपनी आँखों देखा है। उसने और कुछ न कहा। कैसी अनमनी-सी कुछ देर मेरे चेहरे की तरफ देखती रही। उसके बाद फूल तोड़ने लगी। टोकरी भर गई तो कहा, बस, और नहीं।

'स्थलपद्म नहीं तोड़ा ?' मैंने पूछा।

'न, स्थलपद्म नहीं तोड़ती। इसे यहीं से ठाकुर को चढ़ा देती हूँ। चलो, अब चलें।

सबेरे की रोशनी फूटी। लेकिन गाँव से बाहर है यह मठ, इसलिए इधर लोग कम ही आते हैं। इतने सबेरे भी रास्ता सूना था, अभी भी सूना है। चलते-चलते मैंने फिर वही प्रश्न किया—'तुम क्या सच ही यहाँ से चली जाओगी ?'

'बार-बार यह जानने से तुम्हें लाभ क्या गुसाईं ?'

इस बार भी जवाब देते न बना। सिर्फ अपने ही आपसे पूछा—ठीक तो, क्यों मैं बार-बार यह जानना चाहता हूँ—जानकर लाभ क्या है मुझे !

मठ में लौटा, तो सभी अपने-अपने प्रात्यहिक कार्य में लगे थे। उस समय घड़ियाल की आवाज से बेकार ही मैंने उससे जल्दी की चेतावनी दी थी। पता चला, वह मंगल-आरती नहीं थी; ठाकुर को जगाया जा रहा था।

हम दोनों को बहुतों ने देखा, पर किसी की नजर में कौतूहल न था। सिर्फ पद्मा की उम्र चूँकि कम है, इसलिए उसी ने जरा हँसकर सिर झुका लिया था। वह भगवान की माला गूँथा करती है। फूल की टोकरी उसी के पास रखकर कमललता स्नेह से गरज उठी—'हँसी क्यों री मुँहजली ?'

उसने लेकिन फिर सिर नहीं उठाया। कमललता ठाकुर-घर में दाखिल हुई। मैं भी अपने कमरे में चला गया।

नहाना-खाना जैसे होना है, समय पर समाप्त हुआ। तीसरे पहर की गाड़ी से मुझे जाना था। वैष्णवी की खोज की तो वह ठाकुरघर में ठाकुर का शृंगार कर रही थी। मुझे देखते ही बोली, 'आ ही गए नये गुसाईं, तो जरा मेरी मदद

कर दो। पद्मा का सिर दुख रहा है—लेट गई है। लक्ष्मी सरस्वती दोनों बहनों को बुखार हो आया है। कैसे क्या होगा, नहीं जानती। बसन्तो रंग के इन दोनों कपड़ों में चुनत डाल दो न।'

सो ठाकुर के कपड़े ठीक करने लगा। जाना नहीं हुआ। उसके दूसरे दिन भी नहीं, उसके भी दूसरे दिन नहीं। वैष्णवी के सवेरे फूल तोड़ने का साथी न बना। सवेरे, दोपहर, साँझ—कोई-न-कोई काम वह मुझसे करा लेती। दिन ऐसे मानो स्वप्न में कटते। सेवा, सहृदयता, आनन्द, आराधना, फूल, सुगन्ध भजन, चिड़ियों के गीतों से ज़रा भी अवकाश नहीं—लेकिन सन्देहालु मन बीच-बीच में धिक्कार दे उठता, यह क्या बचपना है? बाहर का सारा सम्पर्क बन्द करके कुछ निर्जीव खिलौनों को लेकर यह कैसी मत्तता! इतनी बड़ी आत्मवंचना से मनुष्य जीता कैसे है? लेकिन फिर भी अच्छा लगता। जाते-जाते भी जा नहीं पाता। इधर मलेरिया का प्रकोप कम है, फिर भी बहुत-से लोग ज्वरग्रस्त हो रहे थे। गौहर एक दिन आया था, उसके बाद फिर नहीं आया। उसकी भी खोज नहीं कर पा रहा था, यही अजीब मुसीबत थी!

एकाएक भय और तिरस्कार से मन भर उठा—आखिर मैं कर क्या रहा हूँ? संगीत-दोष से कचेरी ये चीजें विश्वास तो नहीं बन जाएँगी? तय किया, जो भी हो, कल मुझे यहाँ से भागना ही पड़ेगा।

रोज ही वैष्णवी भोर में मुझे जगाया करती। भैरवी में जगाने का गीत गाती। भक्ति और प्रेम का अनोखा आवेदन! तुरन्त उठ नहीं बैठता, कान लगाकर सुनता। आँखें डबडबा जातीं।

मेरी मसहरी उठाकर वह जब खिड़की खोल देती, तो खीजकर उठ बैठता। मुँह-हाथ धोता, कपड़े बदल लेता और उसके साथ जाता।

कई दिनों से आदत-सी हो गई थी! आज अपने आप नींद खुल गई। लगा, अभी रात बाकी है। सन्देह हुआ। बिस्तर से उठकर बाहर निकला। देखा रात कहाँ, सवेरा हो गया। किसी ने खबर कर दी! कमललता आकर खड़ी हुई। ऐसा अस्नात और प्रस्तुत मुखड़ा उसका पहले कभी नहीं देखा था।

घबराकर पूछा—'तबीयत खराब है क्या?'

फीकी हँसी हँसकर बोली—'आज तुम जीत गए गुसाईं।'

'किस बात में?'

'जी आज कुछ अच्छा नहीं, समय पर जाग नहीं सकी।'

'तो फिर फूल तोड़ने आज कौन गई?'

प्रांगण के एक ओर टगर का एक अधमरा-सा पेड़ था। उसमें थोड़े-से फूल थे। वही दिखाकर बोली—'इस समय इसी से काम चल जाएगा।'

'और माला?'

'ठाकुर को माला आज नहीं पहना सकूँगी।'

सुनकर कैसा लगा। उस निर्जीव पुतले के लिए ही हमदर्द हो आई। कहा—'नहाकर मैं ले आऊँ?'

'जा सकते हो। लेकिन इतना सवेरे नहाना नहीं होगा। तबीयत खराब हो जाएगी।'

पूछा—'बड़े गुसाईं को नहीं देख रहा हूँ?'

वह बोली—'वे तो यहाँ हैं नहीं। अपने गुरुदेव को देखने के लिए नवद्वीप गए हैं।'

'कब लौटेंगे?

'यह तो मालूम नहीं है।'

मठ में इतने दिन रह गया, लेकिन द्वारकादास जी से घनिष्ठता न हो सकी—कुछ तो अपनी गलती से और कुछ उनके निर्लिप्त स्वभाव के कारण। वैष्णवों की जबानी सुना, खुद भी देखकर यह जाना कि इस आदमी में कपट नहीं है, अनाचार नहीं है और मास्टरी करने का शौक नहीं है। उनका ज्यादा समय वैष्णव ग्रन्थों के साथ अपने निर्जन में कटता है। उनके धर्ममत पर अपनी आस्था नहीं, विश्वास नहीं—लेकिन आदमी की बातें इतनी विनम्र हैं, दृष्टि इतनी स्वच्छ और गम्भीर है, विश्वास और निष्ठा से रात-दिन ऐसे भरपूर हैं कि उनके मत और पथ के खिलाफ चर्चा करने में न केवल संकोच होता है, बल्कि दुःख होता है। आप ही समझ में आता है कि यहाँ तर्क करना बेकार है। एक दिन मामूली-सी एक युक्ति की बात उठाई कि हँसते हुए चुपचाप वे इस तरह से देखते रहे कि मुझसे और बोलते ही न बना। उसके बाद से दिन भर उनसे कतराता रहा हूँ, लेकिन एक कौतूहल था। इतनी स्त्रियों में घिरे रहकर रस के अनुशीलन में निमग्न रहते हुए भी चित्त को शान्त और मन को निर्मल रख पाने का रहस्य क्या है—जाते समय यह पूछ जाने की इच्छा थी लेकिन इस बार तो लगता है, वह अवसर नहीं मिला।

खैर, फिर कभी।

वैष्णव मठ मे भी आमतौर से मूर्ति को ब्राह्मण के सिवाय दूसरे लोग नही छूते। यहाँ लेकिन ऐसा नियम नही था। एक वैष्णव पुजारी है। बाहर रहता है। आज भी पूजा वही आकर कर गया। परन्तु ठाकुर की सेवा का भार मुझ पर पड़ा। वैष्णवी बता-बता देने लगी, मैं करता गया। जी लेकिन तीखा हो उठा। यह कौन-सा पागलपन मेरे सिर पर सवार है। जाना लेकिन आज भी रुक गया। खुद को शायद यह कहकर समझाया कि इतने दिनो से यहाँ हूँ, इस मुसीबत मे कैसे जाऊँ? कृतज्ञता भी तो एक चीज है दुनिया मे!

और भी दो दिन बीते। जब नही। कमललता की तबीयत ठीक हो गई। लक्ष्मी-सरस्वती भी चंगी हो गईं। द्वारकादास कल शाम लौट आए। उनसे विदा माँगने गया।

उन्होंने कहा—'आज जा रहे हो? फिर कब आओगे?'

'यह तो नही कह सकता।'

'कमललता लेकिन रोते-रोते बेहाल है।'

हमारी बात इनके कानो तक भी पहुँच गयी है, यह जानकर खीझ हुई। कहा—'वह क्यो रोने लगी?'

गुसाईं जी हँसकर बोले—'तुम्हें मालूम नही?'

'नही।'

'उसका स्वभाव ही ऐसा है। किसी के जाने पर वह शोक से कातर हो जाती है।'

यह बात और भी बुरी लगी। मैंने कहा—'शोक करना जिसका स्वभाव ही है, उसे मैं रोकूँ कैसे?'—यह कहकर उनकी ओर से जैसे ही मैंने आँखें फिराईं देखा पीछे कमललता खड़ी है।

द्वारकादास कुण्ठित स्वर मे बोले—'उस पर नाराज न हो गुसाईं। सुना, वे सब तुम्हारा जतन नही कर सकी। बीमार हो जाने से तुमसे बहुत काम कराया। वे लोग स्वयं मेरे पास इस बात का दुःख कर रही थीं, और वैरागियो के पास ज्यादा-जतन करने को है भी क्या? हाँ, फिर कभी इधर आना हो, तो भिखारियों को दर्शन दे जाना। आओगे न?'

गर्दन हिलाकर हामी भरते हुए बाहर चला आया। कमललता वहीं उसी

तरह खड़ी रही। हठात् यह हो क्या गया? विदाई की घड़ी में क्या-क्या कहने की, सुनने की कल्पना थी, सब नष्ट कर दी! अनुभव कर रहा था कि मन की दुर्बलता की ग्लानि धीरे-धीरे अन्तर में जमा हो रही थी, लेकिन स्वप्न में भी यह नहीं सोचा था कि सोम्य असहिष्णु मन ऐसी अशोभन रूढ़ता से अपनी मर्यादा नष्ट कर देगा।

नवीन आ पहुँचा। गौहर की तलाश में आया था। कल से गौहर अपने घर नहीं गया। अचम्भे में पड़ कहा—'कह क्या रहे हो नवीन, वह तो अब यहाँ भी नहीं आता!'

नवीन विचलित न हुआ। बोला—'तो फिर जंगली-झाड़ियों में घूम रहा होगा। नहाना-खाना छोड़ दिया है। अब साँप काटे की खबर मिले तो निश्चिन्त हो जाऊँ।'

'उसकी खोज करना तो जरूरी है।'

'जरूरी तो है, जानता हूँ। लेकिन खोजूँ कहाँ? जंगल की खाक छानकर अपनी जान तो नहीं गँवा सकता। मगर वे कहाँ हैं? एक बार पूछ तो लूँ।'

'वे, वे कौन हैं?'

'वही, कमललता।'

'लेकिन, उसे क्या पता?'

'उसे पता क्यों नहीं। सब पता है।'

तर्क से उत्तेजित न करके नवीन को मठ के बाहर ले गया। कहा—'वास्तव में कमललता को कुछ नहीं मालूम है नवीन। वह खुद ही बीमार थी। तीन-चार दिन अखाड़े से बाहर ही नहीं निकली।'

नवीन ने इस पर विश्वास नहीं किया। नाराज होकर बोला—'उसे पता नहीं है? उसे सब पता है! जादू जानती है—वह क्या नहीं कर सकती। पड़ती कभी नवीन के पाले, आँख-मुँह घुमाकर उसका कीर्तन गाना निकाल देता। बाप का इतना-इतना रुपया छोड़कर ने छूमन्तर कर दिया!'

उसे शान्त रहने के लिए कहा—'कमललता रुपया लेकर क्या करेगी नवीन? वैष्णवी है, गीत गा-गाकर, भीख माँगकर ठाकुर देवता की सेवा करती है—दो जून दो मुट्ठी भोजन हो तो चाहिए। रुपये की भूखी तो वह नहीं लगती।'

नवीन कुछ नर्म पड़ा। बोला—'खुद नहीं है, यह हम भी मालूम है। देखने में

भले घर-की-सी लगती है। शक्ल भी अच्छी, बातचीत भी। बड़ा गुसाईं लोभी नहीं है। लेकिन इतनी खाने वाली जो है। ठाकुर-सेवा के नाम पर उन्हें तो पूड़ी-मिठाई, घी-दूध रोज चाहिए। नैन चकरवरती की काना-फूंकी से पता चला है, मठ के नाम पर बीस बीघा जमीन खरीदी गई है। कुछ भी नहीं रहने का बाबूजी, जो भी है, सब एक दिन इन्हीं वैरागियों के पेट में जा रहेगा।'

मैंने कहा—'यह अफवाह ठीक हो सकती है। लेकिन इस विषय में तुम्हारे नयन चक्रवर्ती भी तो कुछ कम नहीं हैं।'

नवीन सहज ही मान गया—'सो ठीक है। वह बाम्हन बड़ा मक्कार है। मगर आप ही कहिए, विश्वास कैसे न करूँ? उस दिन खामखा ही मेरे लड़कों के नाम दस बीघा जमीन लिख दी। लाख मना किया, न माना। मानता हूँ, बाप बहुत छोड़ गया है, पर यों लुटाने से कै दिन? एक दिन कहा गया, जानते हैं! कहा, हम फकीर के खानदान के हैं। अपनी फकीरी तो कोई नहीं लेता। सुन लीजिए उसकी बात!'

नवीन चला गया। एक बात मैंने देखी, उसने यह पूछा भी नहीं कि मैं इतने दिनों से यहाँ क्यों पड़ा हूँ। पूछता तो पता नहीं, क्या जवाब देता। मन-ही-मन लज्जित हो जाता। उसी से यह भी पता चला कि कल कालीदास बाबू के लड़के की बड़ी धूमधाम से शादी हो गई। सत्ताईस तारीख की मुझे याद नहीं थी।

नवीन की बातों की छानबीन करने पर बिजली जैसा एक सन्देह सहसा मन में कौंध गया, वैष्णवी यहाँ से चली क्यों जाना चाहती है। इस भले आदमी के स्वामित्व के दावे के डर से जरूर नहीं—गौहर के कारण। मेरे यहाँ रहने के बारे में इसीलिए उस दिन वैष्णवी ने कहा था, मैं रहने को कहूँ तो वह नाराज नहीं होगा। नाराज होने वाला आदमी तो वह है नहीं, लेकिन अब वह आता क्यों नहीं? पता नहीं आप ही अपने मन में क्या सोच लिया है। दुनियादारी से गौहर की आसक्ति नहीं। अपना कोई है भी नहीं। रुपया-पैसा, जगह-जायदाद लुटा देने से ही मानो हलका होगा। प्यार उसने किया भी होगा तो मुंह खोलकर कभी कहेगा नहीं। कहीं कोई अपराध न हो। कमललता यह जानती है और उसी अनुल्लंघनीय बाधा से प्रणय के घुटते हुए निष्फल हृदयदाह से इस शान्त सीधे आदमी को छुटकारा दिलाने के लिए वह यहाँ से भागना चाहती है।

नवीन चला गया। मौलसिरी की उस टूटी हुई बेदी पर बैठकर सोच रहा

था। घड़ी देखी। पाँच बजे की गाड़ी पकड़नी है, तो और देरी करने से काम नहीं चलेगा। लेकिन रोज ही न जाने की ऐसी आदत-सी हो गई थी कि जल्दी करने की बजाय मन पीछे हटने लगा।

वचन दे आया था कि जहाँ भी चाहे रहूँ, पुण्टू के ब्याह की दावत खा जाऊँगा। लापता गोहर की खोज करना मेरा फर्ज था। अब तक तो अनावश्यक अनुरोध बहुत मानता आया, आज जब सही कारण मौजूद है तो कौन मना करने वाला है। देखा, पद्मा आ रही है। करीब आकर उसने कहा—'दीदी तुम्हें बुला रही है गुसाईं।'

फिर लौटा। प्रांगण में खड़ी होकर वैष्णवी ने कहा—'कलकत्ता पहुँचने में तुम्हें रात हो जाएगी गुसाईं। प्रसाद रखा है। अन्दर चलो।'

रोज की तरह आसन की तैयारी। बैठ गया। खिलाने के लिए यहाँ तंग करने का नियम नहीं। और जरूरत हो तो माँग लेना पड़ता है। जूठ नहीं छोड़ा जाता।

जाने के समय वह बोली—'फिर आओगे तो सही गुसाईं?'

'तुम रहोगी तो?'

'तुम्हीं बताओ, मुझे कितने दिन रहना पड़ेगा?'

'तुम भी बताओ, मुझे कितने दिन में आना होगा?'

'नहीं तुमसे यह नहीं कहूँगी मैं।'

'न सही। एक दूसरी बात का जवाब दोगी, कहो?'

इस बार वह जरा हँसकर बोली—'न, तुमसे यह भी नहीं कहूँगी मैं। तुम्हारे जो जी में आए, सोचो। कभी आप ही उसका जवाब पाओगे।'

बहुत बार कण्ठ तक आया—'अब समय नहीं रहा कमललता, अब जाऊँगा।' लेकिन यह बात हर्गिज कही न गई।

चला।

पद्मा पास आई। कमललता की देखादेखी उसने भी हाथ उठाकर नमस्कार किया।

कमललता बिगड़कर बोली—'हाथ उठाकर कैसा नमस्कार है। मुँहजली! पाँवों की धूल लेकर प्रणाम कर।'

इस बात से चौंका। उसके चेहरे की ओर देखना चाहा। उसने तब तक दूसरी

ओर मुँह फेर लिया था। फिर कोई बात न की। उनके आश्रम से बाहर निकल आया।

नौ

बुरी साइत में कलकत्ते के लिए निकला। इसके बाद इससे भी कष्टकर बर्मा का निर्वासन। वापस आने का शायद अब अवकाश भी न होगा, जरूरत भी नहीं पड़ेगी। यही शायद अन्तिम बार का जाना हो। गिनकर देखा, दस दिन। दस दिन जीवन में होता कितना है। फिर भी यह समझने में कठिनाई न थी कि दस दिन पहले आने वाला और आज विदा होकर जाने वाला मैं एक नहीं।

दुःख के साथ बहुतों को कहते सुना है, अमुक ऐसा करेगा, यह किसने सोचा था! गर्ज कि अमुक का जीवन सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण के समान उनके अनुमान के पत्र में निर्मूल लिखा हिसाब हो! बेमेल होना सिर्फ प्रभावित नहीं बल्कि अन्याय है। गोया उनकी बुद्धि के लगाए लेखे के बाहर दुनिया में और कुछ है ही नहीं। जानते भी नहीं कि दुनिया में न केवल विभिन्न प्रकार के लोग ही हैं, बल्कि एक ही आदमी कितने विभिन्न मनुष्यों में बदलता है, उसका अन्दाज लगाने जाना भी बेकार है। यहाँ एक क्षण भी तीक्ष्णता और तीव्रता में जीवन को अतिक्रम कर सकता है।

सीधी राह छोड़कर जंगल के भीतर से यह राह, वह राह तय करता हुआ स्टेशन की तरफ जा रहा था। बहुत कुछ उसी तरह से जैसे बचपन में पाठशाला जाता था। गाड़ी का समय मालूम न था, जानने की इच्छा भी न थी। इतना ही जानता था कि जब पहुँचूं, कभी-न-कभी कोई गाड़ी मिलेगी ही। चलते-चलते अचानक ऐसा लगा, मानो सारे पहचाने हुए हैं। जैसे कितनी ही बार इस रास्ते से आया-गया होऊँ। पहले ये बड़े थे, अब जाने कैसे संकरे हो गए हैं, बस। अरे वह खाँ परिवार का बगीचा है न, जहाँ गले में रस्सी डालकर वह फूल गया था? वही तो है। वह तो अपने ही गाँव के दक्खिनी टोले के छोर से चल रहा है। उसने तब तो शूल की पीड़ा से ऊबकर इमली के डाल से रस्सी लगाकर आत्महत्या की थी।

की भी थी या नहीं, नहीं मालूम। जैसी हर गाँव में होती है, यह भी एक जनश्रुति है। वह पेड़ रास्ते के ही किनारे है। छुटपन में उस पर नजर पड़ते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे। आँखें बन्द करके हम दौड़कर भाग जाते थे।

पेड़ वैसा ही है। पहले लगता था, इस गुनहगार पेड़ का तना पहाड़-सा है, मानो आसमान में सट गया है। आज गौर किया, इस बेचारे का गर्व करने लायक कुछ भी नहीं है। और इमली के पेड़ जैसे होते हैं, यह भी वैसा ही है। गाँव के सूने छोर पर अकेला खड़ा है। बचपन में जिसे इसने बहुत डराया, आज अनेक वर्षों के बाद पहली ही भेंट में दोस्त की तरह कनखी मारकर मानो इसका मजाक किया, क्यों दोस्त, कैसे हो? डर तो नहीं लगता?

पास गया। बड़े स्नेह से उस पर हाथ फेरा। मन-ही-मन कहा, अच्छा ही है भाई। डर क्यों लगने लगा। तुम तो मेरे बचपन के पड़ोसी हो, अपने हो।

साँझ की रोशनी बुझती जा रही थी। विदा माँगी। तकदीर अच्छी है, भेंट हो गई। चल दिया मित्र।

कतारों में बहुत-से बगीचों के बाद थोड़ी-सी सूनी जगह। अनमना-सा पार ही हो जाता, लेकिन बहुत दिनों की भूली हुई-सी एक मीठी महक से चौंका। इधर-उधर ताका तो नजर पड़ गया था। यह तो अपनी उसी यशोदा वैष्णवी के यहाँ के उस फूल की खुशबू है। बचपन में जाने कितनी चिरौरी की है इसके लिए। इस किस्म के पेड़ इधर नहीं पाए जाते। जाने कहाँ से लाकर उसने अपने आँगन में एक ओर लगाया है। टेढ़ा-कुबड़ा गाँठों से भरा बदन—बूढ़े जैसा। पहले जैसी आज भी उसकी एक ही गरीब डाल, और उसी पर सब्ज पत्तों में कुछ फूल। सफेद। इसी के नीचे यशोदा के स्वामी की समाधि थी। उसके स्वामी को हम लोगों ने नहीं देखा। वे हमारे जन्म से ही पहले गुजर गए थे। उन्हीं की छोटी-सी मनिहारी दुकान को यह विधवा चलाती थी। दुकान क्या एक टोकरी में सस्ता आईना-कंघी, नकली मोतियों की माला, तेल-मसाला, काँच के खिलौने, टिन की बाँसुरी रखकर घर-घर घूमकर बेचा करती थी। उसके अलावा मछली-शिकार के सरो-सामान। ज्यादा कुछ नहीं, दो-एक पैसे का डोरी-काँटा। इन्हीं चीजों के लिए जब-तब हम लोग जाकर उसे तंग करते थे। मूल में उसी पेड़ की एक डाल पर थोड़ी सी मिट्टी डालकर यशोदा शाम को दीया जलाया करती थी। फूल के लिए कभी तंग करता तो वह समाधि को दिखाकर कहती, नहीं बेटे, ये फूल मेरे देवता के हैं। तोड़ने से

नाराज होंगे।

यशोदा अब नहीं है, कब उसका स्वर्गवास हुआ नहीं जानता, शायद ज्यादा दिन नहीं हुए। पेड के पास ही माटी का दूसरा टीला नजर आया। यह शायद यशोदा की समाधि हो। बहुत सम्भव है, लम्बी प्रतीक्षा के बाद देवता के पास ही उसने थोड़ी-सी जगह बना ली है। स्तूप की मिट्टी उर्वर है, इससे कटीली झाडियों की भीड लग गई है—सँवारने वाला कोई नहीं।

रास्ते से हटकर बचपन के परिचित उस पेड के पास जाकर खडा हुआ। देखा, सन्ध्या-प्रदीप नीचे गिरा है और उसी पर तेल से काली हुई वह टोकरी औंधी पडी है।

यशोदा का छोटा-सा घर अभी तक एकबारगी नहीं गिर गया है—फूँस का असख्य छेदों वाला छप्पर दरवाजे पर लुढककर जी-जान से उसकी रखवाली कर रहा है।

बीस पच्चीस साल पहले की कितनी ही बातें याद आईं। बाँस की करची से घिरा यशोदा का लिपा-पुता आँगन और वह छोटा-सा घर। यह दशा है उसकी। लेकिन इससे भी कहीं अधिक करुण वस्तु देखने को अभी रह गई थी। एकाएक औंधे छप्पर के नीचे से घुडककर अन्दर से एक हड्डियों के ढाँचे-सा कुत्ता बाहर निकला। मेरे पैरों की आहट से चौंककर शायद वह मेरे अनधिकार प्रवेश का प्रतिवाद करना चाह रहा था।

मैंने कहा—'क्यों रे, कोई कसूर तो नहीं किया ?'

मेरी तरफ ताककर जाने क्या सोचकर वह दुम हिलाने लगा। कहा—'तू अभी भी यहीं है ?'

जवाब मे उसने सिर्फ आँखें फैलाकर मुझको असहाय की तरह देखा।

कुत्ता यह यशोदा का है, इसमे सन्देह नहीं। कपडे की रंगीन कोर का फूलदार बकलस अभी भी उसके गले मे था। सन्तानहीन स्त्री के बडे स्नेह की निधि यह कुत्ता इस उजडे सूने घर मे क्या खाकर अब तक जिन्दा है, नहीं समझ सका। टीले मे जाकर छीन-झपटकर खाने की ताकत न थी, आदत भी नहीं, जात-भाई से मेल-मिलाप करने का भी ढग उसे नहीं आया—भूखा, अधभूखा यहाँ पडा वह शायद उसी की राह देख रहा है, जो उसे प्यार करती थी। शायद यह सोचता हो कि कहीं गई है, कभी न कभी जरूर आएगी। मन मे सोचा, सिर्फ यही क्या ऐसा है ?

इस प्रत्याशा को मन से बिल्कुल पोंछ देना क्या संसार में इतना आसान है?

जाने के पहले छप्पर की फांक से अन्दर झांक लिया। अंधेरे में खास कुछ दिखाई नहीं पड़ा; दीवार में चिपकाए पट ही सिर्फ नजर आए। राजा-रानी से लेकर विभिन्न देवी-देवताओं की तस्वीरें। यह सब यशोदा नये कपड़ों की गांठों में संग्रह किया करती थी। याद आया, बचपन में मुग्ध आंखों ने इन्हें बहुत बार देखा है। बारिश के छींटे और गर्द-गुबार सहकर भी ये आज तक किसी कदर साबित हैं।

और बगल के ताख पर बदतर हालत में वह रंग-पुती हांडी पड़ी थी। देखते ही याद आ गया, इसमें उसके महावर की पोटली रहती थी। और भी जाने क्या-क्या तो इधर-उधर बिखरी पड़ी थी, अंधेरे में अन्दाज न लगा सका। सारी चीजें जी-जान से जिसका इशारा करने लगीं मुझे—लेकिन वह भाषा मेरी अजानी थी। लगा, घर के एक कोने में यह मानो मृत शिशु का छोड़ा हुआ घरौंदा हो। गिरस्ती की बहुतेरी टूटी-फूटी चीजों से सजे-सजाए अपने इस संसार को छोड़कर वह चला गया है। आज उनकी कद्र नहीं, जरूरत नहीं, आंचल से बार-बार झाड़-पोंछ करने की तागीद नहीं। सिर्फ बेकार पड़ा रह गया है, इसलिए किसी ने उठाकर फेंका नहीं।

वह कुत्ता कुछ दूर मेरे साथ चला, फिर रुक गया। जब तक दिखाई पड़ता रहा, देखा, वह खड़ा-खड़ा इसी तरफ ताक रहा है। इससे मेरा यही पहला परिचय है और यही अन्तिम भी—फिर भी वह कुछ दूर बढ़कर मुझे विदा देने आया। मैं जाने किस बन्धु-बान्धवहीन, लक्ष्यहीन प्रवास में चला और वह लौट जाएगा। अपने उसी टूटे अंधेरे सूने घर में। दुनिया में राह दिखाने वाला हम दोनों में से किसी को नहीं।

बगीचा खत्म होने पर वह नजर से ओझल हो गया लेकिन [illegible]र अभागे साथी के लिए मेरा प्राण रो उठा। यह नौबत कि आंसू रोकना मुश्किल।

चलते-चलते सोचने लगा, ऐसा क्यों होता है? और किसी दिन ऐसा होकर मन में खास कुछ नहीं होता—लेकिन आज क्योंकि अपना ही हृदय-भावना बादलों से भारी है, इसीलिए उनके दुःख की हवा में वे बरस पड़ना चाहते हैं।

स्टेशन पहुंचा! किस्मत अच्छी थी, उसी समय गाड़ी मिल गई। अब कलकत्ते में अपने डेरे पर पहुंचने में ज्यादा रात न होगी। गांवों का स्टेशन के लिए कोई

मोह नहीं—गीली आंखों से बार-बार मुड़कर देखने की उसे जरूरत नहीं पड़ती।

फिर वही बात याद आई, दस दिन आदमी के जीवन में होता क्या है, लेकिन बड़ा भी कितना।

कल भोर से कमललता अकेली ही फूल तोड़ने जाएगी। उसके बाद दिनभर ठाकुर सेवा का क्रम। क्या पता, दमेक दिन के संगी इस नये गुसाईं को भूलने में कितने दिन लगेंगे।

उस दिन उसने कहा था, मैं सुखी ही हूं गुसाईं। जिनके चरण-कमलों में अपने को सौंप दिया है, वे दासी को कभी छोड़ेंगे नहीं।

वही हो—जिसमें वही हो!

बचपन से ही अपने जीवन का कोई लक्ष्य नहीं, बलपूर्वक कोई कामना करना भी नहीं आता—सुख-दुःख की अपनी धारणा भी अलग है। फिर भी इतने दिन दूसरों की देखा-देखी, पराये विश्वास और पराये हुक्म के बजाते हुए निकल गए। इसीलिए मेरे जरिये कोई भी काम ठीक से सम्पन्न नहीं होता। सारे ही संकल्प दुविधा से दुर्बल, सारे ही उद्यम मेरे कुछ ही दूर बढ़कर ठोकर खाकर राह में ही चूर हो जाते। सभी आलसी कहते, सभी कहते निकम्मा, शायद इसीलिए उन निकम्मे वैरागियों के अखाड़े में ही मेरे हृदयवासी अपरिचित बन्धु छाया रूप में मुझे दर्शन दे गए। मैंने बार-बार दुखी होकर मुंह फेर लिया—बार-बार मुस्कराते हुए हाथ हिलाकर उन्होंने क्या तो इशारा किया।

और वह वैष्णवी कमललता! उसका जीवन मानो प्राचीन वैष्णव-कवि मन का अश्रुसजल गान हो! उसमें छन्द नहीं, व्याकरण की भूल है, भाषा में बहुत त्रुटियां हैं—मगर उसका विचार इस दृष्टि से तो होता नहीं। वह तो मानो उन्हीं के कीर्तन का सुर है—जिसके मर्म में बैठना है, उसी को केवल उसका पता होता है। वह मानो गोधूलि-गगन की वर्णमय छवि हो। उसका नाम नहीं, उसकी संज्ञा नहीं—कला-शास्त्र के सूत्र से उसका परिचय देने की कोशिश विडम्बना है।

मुझसे उसने कहा था, चलो न गुसाईं, चलें यहां से। गीत गाते हुए रास्ते-रास्ते दिन गुजर जाएंगे अपने।

कहने में उसे हिचक नहीं हुई, लेकिन मुझे हुई। मेरा नाम रक्खा उसने नये गुसाईं। बोली, तुम्हारा नाम तो मुझे लेना नहीं चाहिए गुसाईं। उसका विश्वास था, मैं उसके पिछले जीवन का बन्धु हूं। मुझसे उसे खतरा नहीं। मेरे निकट

उसकी साधना में विघ्न नहीं होगा। वैरागी द्वारकादास की शिष्या है—क्या पता, किस साधना की सिद्धि का मन्त्र दिया उन्होंने !

अकस्मात् राजलक्ष्मी की याद आई—याद आई उसकी वह चिट्ठी। स्नेह और स्वार्थ की मिली-जुली वह कठोर लिपि। तो भी जानता हूँ, इस जीवन के पहलू से वह खत्म हो चुकी है। शायद हो कि अच्छा ही हुआ, लेकिन उस शून्यता को भर देने के लिए कोई रहा है क्या ? खिड़की से बाहर की तरफ देखते हुए बैठा रहा। एक-एक कर कितनी ही बातें, कितनी घटनाएँ याद आईं। शिकार का समारोह, कुमार साहब का वह तम्बू, जमात, वर्षों बाद प्रवास में पहली मुलाकात का वह दिन, दमकती हुई काली पुतलियों में उसकी वह विस्मय-विमुग्ध दृष्टि। वह मर गई है, यह जानता था। उसे पहचान नहीं सका—उस रोज मसान को जाते समय उसकी वह आकुल-व्याकुल विनती। और अन्त में गुस्सा भरा कैसा तीखा अभिमान ! यह रोककर बोली, जाओगे, इसलिए तुम्हें जाने थोड़ी ही दूँगी ? जाओ तो भला, देखूँ ? परदेस में आफत में पड़ो तो देखेगा कौन ? वे लोग या मैं ?

अब उसे पहचाना। वही और उसका सदा का अच्छा परिचय था। यह उनके जीवन से आखिर नहीं गया, इससे कभी कोई उससे छुटकारा नहीं पा सका।

फिर एक बार रास्ते में ही मरने की तैयारी कर ली थी। आँख खुली तो देखा, सिराहने वह बैठी है। उस समय सब सोच उसे सौंपकर सो गया। भार उसका है, मेरा नहीं।

अपने गाँव गया, वहीं बीमार पड़ गया। यहाँ वह नहीं आ सकती, यहाँ के लिए वह मर चुकी है—इससे बड़ी शर्म की बात उसके लिए और नहीं—इतने पर भी जिसे अपने पास पाया, वह राजलक्ष्मी ही थी।

पत्र में लिखा, ऐसे में तुम्हारी देखभाल कौन करेगी। पुष्प ? और मैं सिर्फ नौकर से कुशल पूछकर लौट जाऊँगी ? इसके बाद भी मुझे जीने को कहते हो ?

इसका मैंने उत्तर नहीं दिया। इसलिए नहीं कि उत्तर जानता नहीं, बल्कि इसलिए कि हिम्मत नहीं पड़ी।

मन में कहा, सिर्फ मैंने ? संयम, शासन, कठोर आत्मनियन्त्रण के मामले में उस तीव्र बुद्धिमती के आगे उस स्निग्ध, सुकोमल आश्रमवासिनी कमललता है कितनी-सी। लेकिन उसी कितनी-सी में इस बार मैंने जाने अपनी प्रतिच्छवि देखी है। ऐसा लगा है कि उसके पास मेरी मुक्ति है, मर्यादा है, निश्वास फेंकने का अवकाश

है। मेरी सारी चिन्ता, सारे भले-बुरे को अपने हाथों लेकर वह कभी राजलक्ष्मी की तरह मुझ पर छा नहीं जाएगी।

सोचने लगा, परदेश जाकर करूँगा क्या ? नौकरी का मुझे क्या करना ? बात कुछ नई तो नहीं पहले ही ऐसा क्या पाया था कि उसे पाने के लिए आज लोभ हो ? रहने के लिए केवल कमललता ही ने नहीं, द्वारकादास ने भी सादर कहा। यह सब क्या मक्कारी है—आदमी को ठगने के सिवाय इस आमन्त्रण में सचाई कुछ भी नहीं ? अब तक जीवन जैसे बीता, उसकी अन्तिम बात क्या यही है ? इस पर मैं सदा उपेक्षा ही करता रहा, अश्रद्धा ही करता रहा—सबको मिथ्या कहा, भूल कहा, किन्तु केवल अविश्वास और उपेक्षा को ही पूँजी बनाकर संसार में कब कौन-सी बड़ी चीज पाई है ?

□

गाड़ी आकर हावड़ा स्टेशन पर रुकी। सोच लिया, रातभर घर रुककर जो भी है सब सामान सहेजकर, देना पावना सब चुकाकर कल ही आश्रम में लौट जाऊँगा। नौकरी के लिए बर्मा जाने से बाज आया।

रात दस बजे घर पहुँचा। खाने की जरूरत थी, पर उपाय नहीं था ? हाथ-मुँह धोया। कपड़े बदले। बिस्तर ठीक कर रहा था कि पीछे से जाने चीन्हे कण्ठ की आवाज़ आई—'बाबूजी, आ गए ?'

अचरज से मुड़कर देखा, 'रतन ? कब आया ?'

'शाम को ही आया। बरामदे में मजे की हवा थी। आँख लग गई थी।'

'भोजन तो नहीं किया होगा ?'

'जी नहीं।'

'मुश्किल में डाला तूने ?'

'आपने कर लिया भोजन ?'

मानना पड़ा कि मैंने भी नहीं किया।

रतन खुश होकर बोला— फिर क्या बात है। आपके प्रसाद पर ही रात काट लूँगा ?'

मन में सोचा कमबख्त हज्जाम विनय का अवतार बना है। अप्रतिम किसी भी हालत में नहीं होने का। उससे प्रत्यक्ष में कहा—'तो फिर आस पास की किसी दूकान में देख, कुछ मिल मिला जाए तो—मगर शुभागमन कैसे हुआ ? फिर कोई

चिट्ठी-चिट्ठी है क्या ?'

रतन ने कहा—'जी नहीं। चिट्ठी लिखने में बड़ा हंगामा है। जो कहना है, खुद ही कहेंगी।'

'यानी मुझे जाना पड़ेगा ?'

'जी नहीं। माँजी स्वयं पधारी हैं।'

सुनकर बड़ा परेशान हुआ। रात में कहाँ रखने का बन्दोबस्त करूँ, क्या करूँ, कुछ सोच नहीं पाया। मगर कुछ तो करना ही है। पूछा, 'तो तबसे क्या वह गाड़ी पर ही बैठी हैं ?'

वह हँसकर बोला—'जी, माँजी कुछ वैसी ही हैं। नहीं, नहीं हम यहाँ चार दिन से आए हुए हैं। और चार दिन से रात-दिन आप पर चौकस निगरानी रखे हुए हैं। चलिए।'

'कहाँ ? कितनी दूर ?'

'जी दूर तो कुछ है। मगर गाड़ी ठीक की हुई है। तकलीफ न होगी।'

सो फिर से कपड़ा-जूता बदलकर दरवाजे में ताला लगा करके चलना पड़ा। श्याम बाजार की किसी गली में एक दुमंजिला मकान—सामने घिरे हुए छोटे से अहाते में छोटा-सा बगीचा। राजलक्ष्मी के बूढ़े दरबान ने दरवाजा खोलते ही मुझे देख लिया। खुशी की सीमा न रही उसकी। जोर से नमस्कार करके कहा—'कुशल तो है बाबूजी ?'

कहा—'हाँ तुलसीदास मजे में हूँ। और तुम ?'

जवाब में उसने फिर वैसे ही नमस्कार किया। तुलसी मुंगेर जिले का आदमी है। जात का कुर्मी। मुझे वह सदा पाँव छूकर प्रणाम करता है।

शोरगुल से एक दूसरा भी नौकर जग पड़ा। रतन की धमक से बेचारा उद्भ्रान्त-सा हो उठा। दूसरे को डाँट-डपटकर रतन यहाँ अपनी मर्यादा कायम रखता है। कहा—'जब से आए हो, ऊँघ रहे हो और रोटी तोड़ रहे हो। चिलम तक तैयार न रख सके। जाओ—'

आदमी यह नया था। डर से भाग-दौड़ करने लगा।

ऊपर की मंजिल पर बरामदा पार करने पर एक बड़ा-सा कमरा—गैस की तेज रोशनी से आलोकित। पूरे में कार्पेट बिछा, ऊपर से एक जाजिम। दो-तीन तकिये। मेरी बहुत दिनों की वह गुड़गुड़ी यहाँ रखी थी, कुछ ही दूर पर मेरी

जरीदार मखमली चप्पल। राजलक्ष्मी ने इसे अपने हाथो बनाया था और मेरे एक जन्मदिन पर परिहास के बहाने उपहार मे दिया था। बगल का कमरा भी खुला था, उसमे भी कोई नही। खुले दरवाजे से झाँककर देखा, एक कोने मे बिल्कुल एक नई खाट पर बिस्तर लगा था। दूसरी ओर अलगनी मे सिर्फ मेरे ही कपड़े सहेजे हुए। ये कपड़े गगामाटी जाने से पहले मिले थे।

याद भी नही थी, उनका कभी व्यवहार भी नही हुआ।

रतन ने आवाज दी—'माँजी !'

'आई !'—कहती हुई राजलक्ष्मी सामने आ खड़ी हुई। पैरो की धूल लेकर रतन से कहा—'रतन, चिलम भर ला। तुझे भी इन दिनो बड़ी तकलीफ दी।'

'तकलीफ क्या माँजी। भला-चगा ले आया यही बहुत है।' रतन नीचे चला गया।

राजलक्ष्मी को नई आँखो से देखा। रूप जैसे देह मे समा नही रहा हो। उस रोज भी प्यारी की याद आ गई। महज कुछ वर्षों के दु ख-शोक के आँधी पानी मे नहाकर मानो वह नया कलेवर धारण करके आई है। दो दिन के लिए आकर इस मकान की जो सुघर व्यवस्था की है, उस पर चकित नही हुआ, क्योकि एक दिन के लिए उसे पेड़ तले ही रहना पड़े तो वह जगह सुन्दर हो उठती है। इन्ही कुछ दिनो मे मानो उसने अपने को तोड़कर फिर से गढ लिया है। पहले वह बहुत गहना पहनती थी—बीच मे सब उतार फेंका था—लगता था कि सन्यासिनी है। आज फिर गहने पहने है—दो ही चार, लेकिन लगा, काफी कीमती हैं वे। कपड़ा लेकिन दामी नहीं है, मामूली सी रोज पहनने वाली साड़ी। माथे पर पड़े आँचल की कोर के नीचे से कुछ लटें गाल के आस-पास झूल पड़ी थी—छोटे बाल थे, शायद इसलिए रोक नही मान रहे थे। देखकर अवाक् रह गया।

राजलक्ष्मी ने कहा—'इतना गौर क्या कर रहे हो ?'

'तुमको देख रहा हूँ।'

'नई हूँ क्या ?'

'लग तो ऐसा ही रहा है।'

'और मुझे क्या लग रहा है, जानते हो ?'

'नही।'

'जी मे आ रहा है कि तम्बाकू लेकर रतन के आने से पहले ही अपनी बाँहें

तुम्हारे गले में डाल दूँ। तो क्या करोगे ?' और वह हँस उठी—'झटककर गिरा तो नहीं दोगे ?'

मैं भी हँसी रोक न सका। कहा—'डालकर ही देखो न ! मगर इतनी हँसी—नशा तो नहीं पी है ?'

सीढ़ी पर पैरों की आहट हुई। समझ गया कि रतन जोरों से पैर पटक-पटककर ही चढ़ रहा है। राजलक्ष्मी ने हँसी दबाकर धीमे से कहा—'रतन को चले जाने दो फिर बताती हूँ कि नशा पी है कि और कुछ ?' कहते-कहते अचानक उसका गला भर आया। बोली—'चार-पाँच दिन इस अनजान जगह में मुझे अकेली छोड़कर तुम पुण्टू का ब्याह कराने गये थे ? पता है, रात और दिन मेरे किस तरह कटे ?'

'मुझे पता क्या था एकाएक तुम आ पहुँचोगी ?' मैंने कहा।

एकाएक खूब कही। तुमको सब पता था। सिर्फ मुझे सजा देने के ख्याल से चले गए थे तुम।' राजलक्ष्मी बोली।

रतन तम्बाकू दे गया। बोला—'बाबूजी का प्रसाद पाने की बात थी न। महाराज से भोजन लाने को कह दूँ ? बारह बज गए।

बारह बजे की सुनकर राजलक्ष्मी व्यग्र हो उठी—'छोड़ो, महाराज से न बनेगा—मैं स्वयं जाती हूँ। तू मेरे सोने के कमरे में जगह ठीक कर दे।

खाने बैठा तो मुझे गंगामाटी के अन्तिम दिनों की बात याद आई। उस समय यही महाराज और रतन मेरे खाने का ख्याल रखता था, राजलक्ष्मी की खोज लेने की फुर्सत न थी। आज लेकिन उनसे काम नहीं चलेगा, खुद रसोई में जाना चाहिए। असल में यही उसका स्वभाव है, वह थी विकृति। समझा, जिस कारण से भी हो चाहे, अपने को उसने सम्हाला है।

खाना खत्म होने पर उसने पूछा—'पुण्टू का ब्याह कैसा हुआ ?'

कहा—'अपनी आँखों तो देखा नहीं। सुना अच्छा ही हुआ।'

ब्याह की पूरी घटना उसे बताई। वह कुछ देर गाल पर हाथ धरे बैठी रही और बोली—'तुमने तो अवाक् कर दिया। आते समय पुण्टू को कुछ दहेज भी नहीं दे आए ?'

'वह मेरी ओर से तुम देना।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'तुम्हारी ओर से क्यों, अपनी ही ओर से उसे कुछ भेज

दूंगी। मगर यह तो नही बताया, थे कहाँ ?'

कहा—'मुरारीपुर मे वैरागियो के अखाड़े की याद है ?

वह बोली—'क्यो नही। वही से तो वैष्णवियाँ भीख के लिए बस्ती-बस्ती आया करती थी। बचपन की बातें मुझे खूब याद हैं।'

'वही था।'

हैरत मे आकर वह बोली—'वैरागियो के उसी अखाड़े मे ? हाय राम कह क्या रहे हो ! उनकी तो अजीब हरकतें सुनी हैं !' लेकिन बोलकर ही जोरो से हँस पड़ी। अन्त मे आँचल से मुँह दबाकर कहा—तुम्हारे लिए असम्भव कुछ भी नही। आरा मे जो शक्ल देखी थी तुम्हारी ! माथे से जटा, गले मे रुद्राक्ष की माला, हाथ मे पीतल का कड़ा—अजीब था '

बात पूरी नही कर सकी। हँसते हँसते लोट गई। नाराज होकर उसे उठाकर बैठा दिया। गला लग आया। मुँह मे कपड़ा ठूँसकर कठिनाई से हँसी रोकते हुए बोली—'वैष्णवियो ने कहा क्या तुमसे ? वहाँ चिपटी नाक और गोदनावाली बहुत-सी सो रहती हैं '

वैसी ही जोरो की हँसी फिर से आ रही थी। उसे सावधानकरते हुए कहा—'देखो, अब हँसोगी तो अच्छा न होगा। बड़ी सजा दूँगा। कल नौकरो के सामने मुँह दिखा सकोगी।'

राजलक्ष्मी डरकर खिसक गई। बोली—'यह तुम जैसे वीर पुरुष से न बनेगा। शर्म से खुद ही निकल नही सकोगे। दुनिया मे तुम्हारे जैसा डरपोक और भी कोई है क्या ?'

मैंने कहा—'तुम कुछ भी नही जानती। तुमने अवज्ञा की, मुझे डरपोक कहा, लेकिन वहाँ एक वैरागन थी, वह मुझे घमण्डी, दाम्भिक कहा करती थी।'

'क्यो, उसका क्या बिगाड़ा था तुमने ?'

'कुछ भी नही। उसने मेरा नाम रक्खा था नये गुसाईं। कहती थी, गुसाईं, तुम्हारे उदासीन वैरागी मन से बढ़कर दाम्भिक मन संसार मे दूसरा नही।'

राजलक्ष्मी की हँसी रुक गई। बोली—क्या कहा उसने ?'

कहा—ऐसे उदासीन, वैरागी मन वाले आदमी-सा घमण्डी आदमी ढूँढे नही मिलेगा। मतलब कि मैं दुर्धर्ष वीर हूँ—डरपोक बिल्कुल नही।'

राजलक्ष्मी का चेहरा गम्भीर हो उठा। मजाक पर कान ही नही दिया।

उसने। बोली—'तुम्हारे उदासीन मन की खबर उस दर्दमारी को मिली कैसे ?'

मैंने कहा—'उसके लिए ऐसी अशिष्ट भाषा का प्रयोग आपत्तिजनक है।'

वह बोली—'जानती हूँ। हाँ, उन्होंने तो तुम्हारा नाम रक्खा नये गुसाईं, उनका नाम क्या है ?'

'कमललता। रसिक में कोई-कोई कमलीलता भी कहते हैं। कहते हैं, वह जादू जानती है। उसका भजन सुनकर लोग पागल हो जाते हैं। जो माँगती है, वही दे बैठते हैं।'

'भजन तुमने सुना है ?'

'सुना। क्या कहना !'

'उम्र क्या होगी उसकी ?'

'तुम्हारी जितनी ही होगी। कुछ ज्यादा भी हो शायद।'

'देखन में कैसी है ?'

'अच्छी। कम-से-कम बुरी तो नहीं कह सकते। चरटी नाक, जिन गोदना-वालियों को तुमने देखा है, यह उस श्रेणी की नहीं। भले घर की है।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'यह मैं सुनकर ही समझ गई। जब तक तुम वहाँ रहे, तुम्हारी सेवा, जतन तो करती थी ?'

कहा—'करती थी। मेरी ओर से कोई शिकायत नहीं है।'

एकाएक एक दीर्घ निश्वास छोड़कर वह बोल उठी—'सो करे ! जिस कठिन तप से तुमको पाया जा सकता है, उससे भगवान मिल सकते हैं। वह वैष्णव-वैरागिन के बूते की बात नहीं। मैं भला कहाँ की किस कमललता से डरूँ ?'

यह कहकर वह बाहर चली गई।

मेरे मुँह से भी एक निःश्वास निकल आया। अनमना-सा हो पड़ा था शायद, निश्वास की आवाज से आपे में आया। तकिये को खींच लिया। चित लेटकर तम्बाकू पीने लगा। ऊपर एक नन्ही-सी मकड़ी घूम-घूमकर जाल बुन रही थी। लैंप की तेज रोशनी में उसकी छाया किसी बड़े विकट जानवर-सी दीखने लगी। रोशनी के चमत्कार से छाया भी काया से कितनी बड़ी हो जाती है !

राजलक्ष्मी लौट आई। मेरे ही तकिये पर कोहनी के सहारे झुककर बैठी। हाथ डालकर देखा, कपाल पर छितरे हुए बाल गीले हैं। मुँह धो डाली आकर आई है शायद।

मैंने पूछा—'लक्ष्मी इस तरह से एकाएक कलकत्ते आ पहुँची ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'एकाएक हर्गिज नही। उस रोज से कई दिनो तक मन ऐसा करता रहा कि वहाँ टिक नही सकी। डर लगने लगा, कही दम न अटक जाए। इस जीवन मे फिर तुम्हें देख नही पाऊँगी—' और उसने गुडगुडी की नली मेरे मुँह से खीचकर अटका दी। बोली—'इसको भी। मारे धुएँ के शक्ल तक नही देख पा रही हूँ।'

गुडगुडी की नली हट गई, उसके बदले उसका हाथ मेरी मुट्ठी मे रहा।

पूछा—'बकू आजकल क्या कहता है ?'

राजलक्ष्मी बोली—'बहू आ जाने के बाद सब लडके जो कहते हैं।'

'उससे ज्यादा कुछ नही ?'

'कुछ नही, ऐसा नही कहती। लेकिन वह हमे दु ख भी क्या देगा ? दु ख दे सकते हो सिर्फ तुम। तुम लोगो के सिवा स्त्रियो को वास्तविक दु ख और कोई नही दे सकता।'

'लेकिन मैंने क्या कभी तुम्हें दु ख दिया है लक्ष्मी ?'

नाहक ही मेरे कपाल को एक बार हाथ से पोंछकर वह बोली—'कभी नही। बल्कि मैंने ही आज तक तुम्हे बहुत दु ख दिया। अपने सुख के लिए तुम्हें लोगों की नजरो से गिराया, तुम्हारी हेठी होने दी—उसी की सजा अब दोनो कुलो को डुबा रही है। देख रहे हो न ?'

हँसकर बोला—'नही तो !'

राजलक्ष्मी ने कहा—'फिर तो मन्तर पढकर किसी ने तुम्हारी आँखो पर ढक्कन डाल दिया है।' जरा देर चुप रहकर बोली—'इतना पाप करने के बाद भी ससार मे इतना सौभाग्य और किसी का देखा है ? लेकिन मेरी आशा उससे भी न मिटी। जाने कहाँ से आ गई मुझमे धर्म की सनक। पास आए देवता को मैंने ठुकरा दिया। गगामाटी लौटने के बाद भी होश नही आया। काशी मे अनादर के साथ तुम्हें विदाई दी।'

उसकी दोनो आँखें आँसुओ मे टलमला उठी। हाथ से मैंने पोछ दिया। वह बोली—'जहर का जो पेड अपने हाथो लगाया, उसम अब फल आता है। खा नही सकती, सो नही सकती, आँखो की नीद जाती रही—कैसा-कैसा तो डर लगता है, जिसका न तो सिर है न पैर। गुरुदेव उस समय वहीं थे। उन्होने कोई कवच

बांध दिया। कहा, बिटिया, एकासन में बैठकर सबेरे तुम्हे देवता का दस हजार नाम लेना पड़ेगा। वह मुझसे कहाँ बना ? पूजा पर बैठती कि आंखो से बेरोक आंसू उमड आते। ठीक ऐसे ही समय तुम्हारी चिट्ठी मिली, तब असली रोग पकड में आया।'

'किसने पकड़ा, गुरुदेव ने ? तो उन्होंने दूसरा कवच लिख दिया होगा ?'

'हां लिख दिया ! और कहा, उसे तुम्हारे गले मे डाल दूं।'

'खैर, मेरे गले मे डाल देना अगर उससे तुम्हारा मर्ज दूर हो।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'उस चिट्ठी से उलझकर मेरे दो दिन बीते। कैसे, किधर से गुजर गए, पता नही। रतन को बुलाया। उसके हाथो चिट्ठी भिजवाई। गंगा-स्नान करके अन्नपूर्णा के मन्दिर मे जाकर प्रार्थना की, मां, यह चिट्ठी ठीक समय पर उन्हें मिल जाए। मुझे जिससे आत्महत्या करके मरना न पड़े।'

मेरी ओर ताककर पूछा—'मुझे इस तरह से बांधा क्यो था, यह तो कहो।'

पूछते ही इस सवाल का जवाब न दे सका। कुछ देर बाद कहा—'यह तुम स्त्रियो से ही सम्भव है। हम इसे सोच भी नही सकते, समझ भी नही सकते।'

'मानते हो इसे ?'

'मानता हूं।'

वह फिर एक क्षण मेरी ओर ताकती रही। पूछा—'सच ही यह मानते हो कि यह हम स्त्रियो से ही सम्भव है, पुरुषो से नही।'

कुछ क्षण हम दोनो ही स्तब्ध हो रहे। राजलक्ष्मी ने कहा—'मन्दिर से निकली कि देखा, पटने का लछमन साव खड़ा है। वह मेरे हाथ बनारसी साड़ी बेचा करता था। बड़ा स्नेह करता था मुझसे। बेटी कहकर पुकारता था। चकित होकर उसने पूछा, आप यहां बेटी ? मुझे मालूम था कि कलकत्ते मे उसकी दूकान है। कहा, साव जी मैं कलकत्ते जाऊंगी। कोई मकान ठीक कर देंगे आप ?

'वह बोला—कर दूंगा। बगाली टोले में उसका निज का ही एक मकान था। सस्ते मे खरीदा था। बोला, अगर जरूरत हो तो मैं अपना ही वह मकान उसी दाम पर आपको दे सकता हूं।

'साव जी धर्मभीरु आदमी था। उस पर विश्वास था मुझे। घर लिखा ले गया। वहीं उसे रुपये गिन दिए। उसने रसीद लिख दी। ये सामान उसी के कारिन्दों ने खरीद दिए हैं। छ-सात दिन के बाद ही रतन बाबूजू को साथ लेकर

यहाँ चली आई। मन-ही-मन कहा, माँ अन्नपूर्णा, तुमने मुझ पर दया की, नहीं तो यह सुअवसर नहीं हाथ आता। अब उनसे जरूर भेंट होगी। और, भेंट तुमसे हुई।'

मैंने कहा—'मगर मुझे तो जल्द ही बर्मा चल देना है।'

वह बोली—'हर्ज क्या है, चलो, वहाँ अभया हैं। बुद्धदेव के अनेक मन्दिर हैं—सब कुछ देख पाऊँगी।'

मैंने कहा—'लेकिन देश वह बड़ा गन्दा है लक्ष्मी—वहाँ आचार-विचार नहीं—कैसे रहोगी तुम वहाँ?'

राजलक्ष्मी ने मेरे कान में फुसफुसाकर कुछ कहा। ठीक समझ नहीं सका। कहा—'जरा जोर से कहो।'

वह बोली—'नहीं।'

उसके बाद अधरा-सी पड़ी रही। सिर्फ उसकी गर्म साँसें मेरे गले पर, गाल पर आ-आकर लगती रहीं।

दस

'जागो! मुँह धो लो।' रतन चाय लिये खड़ा है।

मुझसे जवाब न पाकर राजलक्ष्मी ने फिर पुकारा—'देर हो गई। कितना सोओगे?'

करवट बदलकर अलसाए कण्ठ से कहा—'सोने दिया कहाँ? अभी तो सोया हूँ।'

कानों में आवाज गई कि ठक् मेज पर चाय का प्याला रखकर रतन शर्म से भाग गया।

राजलक्ष्मी ने कहा—'छि कैसे बेहया हो तुम! किसी को झूठ-मूठ कितना अप्रतिभ बना सकते हो। आप तो रातभर कुम्भकर्ण की तरह सोते रहे। मैं ही बल्कि जगकर पंखा झलती रही कि कहीं नींद न टूट जाए तुम्हारी। और मुझी को कहते हो! उठो वरना बदन पर पानी उड़ेल दूँगी।'

उठ बैठा। देर तो खास नहीं हुई थी खैर, सवेरा हुआ था। खिड़कियाँ खुली

थी, सुबह के उस स्निग्ध प्रकाश में राजलक्ष्मी कैसी अनोखी मूर्ति नजर आई। स्नान, पूजा-आह्निक उसका समाप्त हो चुका था। गंगा के घाट पर उड़िया पण्डा का लगाया हुआ लाल चन्दन ललाट पर शोभित—पहनावे में लाल बनारसी साड़ी। पूरब की खिड़की से आकर सुनहरी धूप आड़ी होकर उसके चेहरे के एक ओर पड़ रही थी, होंठों के कोने में सलज्ज कौतुक दबी हँसी, लेकिन बनावटी कोप से सिकुड़ी भवों के नीचे चंचल आँखों की दृष्टि जैसे झलमल कर रही हो—देखकर आज भी अचरज की सीमा न रही। वह जरा हँस पड़ी और कहा—'कल से इतना देख क्या रहे हो, कहो तो ?'

कहा—'तुम्हीं कहो तो क्या देख रहा हूँ ?'

राजलक्ष्मी फिर जरा हँसकर बोली—'शायद यह देख रहे हो कि देखने में पुष्टू मुझसे अच्छी है या नहीं, कमललता अच्छी है या नहीं—है न ?'

मैंने कहा—'नहीं। जहाँ तक रूप का सवाल है, कोई भी तुम्हारे पास खड़ी नहीं हो सकती, यह बात यों ही कही जा सकती है। उसके लिए इस तरह से देखने की जरूरत नहीं।'

राजलक्ष्मी बोली—'खैर, उसे छोड़ो। लेकिन गुण में ?'

'गुण में ? इसमें बेशक मतभेद की गुंजाइश है, मानना ही होगा।'

'गुण में एक तो यह बहुत सुना कि भजन गाती है।'

'हाँ, बहुत सुन्दर।'

'बहुत सुन्दर—यह तुमने कैसे समझा ?'

'वाह, यह मैं नहीं समझता ? लय, सुर, ताल…'

टोककर उसने पूछा—'अच्छा, ताल किसे कहते हैं भला ?'

मैंने कहा—'ताल वही है, जो छुटपन में तुम्हारी पीठ पर पड़ती थी, याद नहीं है ?'

राजलक्ष्मी बोली—'याद न हो भला ! खूब याद है। बस इसीलिए वह कर तुम्हारा असम्मान किया है, बस न ? लेकिन कमललता ने तुम्हारे उदास मन की ही सिर्फ खबर पाई—तुम्हारे वीरत्व की कहानी नहीं सुनी है शायद ?'

'नहीं। अपनी बड़ाई आप नहीं करनी चाहिए। वह तुम सुनाना। मगर उसकी आवाज अच्छी है, गाती वह अच्छा है—इसमें कोई सन्देह नहीं।'

'सन्देह मुझे भी नहीं।' कहते ही उसकी दोनों आँखें छिपे कौतुक से चमक

उठी। बोली—'तुम्हें वह गीत याद है ? वही, जिसे पाठशाला की छुट्टी में तुम गाया करते थे। हम लोग मुग्ध होकर सुनते थे। वही, कहाँ गए प्राणों के प्राण मेरे दुर्योधन रे · '

हँसी छिपाने के लिए उसने आँचल से मुँह को दबाया। मैं भी हँस पड़ा।

राजलक्ष्मी बोली—'गीत बड़ा भावपूर्ण है। तुम्हारे मुँह से उसे सुनकर गाय-बछड़े की आँखों में भी पानी आ जाता था, आदमी का तो कहना ही क्या।'

रतन के पैरों की आहट मिली। दूसरे ही क्षण वह दरवाजे पर आकर बोला, 'चाय का पानी फिर चूल्हे पर चढ़ा आया हूँ माँजी, चाय बनते देर न होगी ·' वह अन्दर आया, आकर उसने चाय का प्याला उठा लिया।

राजलक्ष्मी ने मुझसे कहा—'अब देर न करो। उठो। अब की चाय नष्ट होगी तो रतन बिगड़ उठेगा। बर्बादी उसे बर्दाश्त नहीं। क्यों रतन ?'

रतन जवाब देना जानता है। बोला—'आपको न हो चाहे, बाबूजी के लिए मुझे सब बर्दाश्त होता है।'—प्याला लेकर वह चला गया। नाराज होने पर राजलक्ष्मी को वह आप कहता था, नहीं तो तुम।

राजलक्ष्मी बोली—'रतन सचमुच ही तुमको बहुत मानता है।'

मैंने कहा—'मुझे भी ऐसा ही लगता है।'

'हाँ। तुम जब काशी से चले आए तो मुझसे झगड़कर उसने काम छोड़ दिया। मैंने नाराज होकर कहा—'मैंने तुम्हारा इतना किया, यह उसी का प्रतिफल है रतन ? बोला, रतन नमकहराम नहीं है माँजी। मैं भी बर्मा जा रहा हूँ। तुम्हारा ऋण मैं बाबूजी की सेवा करके चुका दूँगा। आखिर बड़ी-बड़ी निहोरा-विनती से उसे मनाया।'

कुछ देर रुककर बोली—'उसके बाद तुम्हारे ब्याह का न्यौता आया।'

मैंने टोककर कहा—'झूठ मत बोलो। तुम्हारी राय के लिए ···'

उसने भी बीच ही में बाधा दी—'हाँ जी हाँ, जानती हूँ। नाराज होकर लिख देती कि करो तो कर लेते न ?'

'नहीं।'

'हूँ, नहीं। तुम लोग सब कर सकते हो।'

'नहीं। सबसे सब काम नहीं होता।'

राजलक्ष्मी कहने लगी—'पता नहीं रतन ने क्या समझा। वह मेरी तरफ

ताकता कि उसकी दोनों आँखें छलछला उठतीं। जब उसे चिट्ठी देकर डाक में छोड़ आने को कहा, तो वह बोला, माँजी, इस चिट्ठी को मैं खुद जाकर उन्हें दे आऊँगा। मैंने कहा, नाहक ही कुछ रुपये खर्च करने से लाभ क्या है रतन? रतन ने अपनी आँखें पोंछकर कहा, मुझे मालूम नहीं, क्या है माँजी। लेकिन तुमको देखता हूँ तो ऐसा लगता है, नदी का किनारा अन्दर से कट गया है—ऊपर की सारी चीजों को लेकर कब बैठ जाएगा, कहा नहीं जा सकता। तुम्हारी दया से मुझे भी अब कमी नहीं, तुम दोगी तो रुपये मैं नहीं ले सकूँगा। हाँ, बाबा विश्वनाथ प्रसन्न हों तो मेरे गाँव की कुटिया में तुम्हारी जो दासी है उसे कुछ प्रसाद भेज देना, वह जी जाएगी।'

मैंने कहा—'कमबख्त नाई एक ही सयाना है।'

सुनकर राजलक्ष्मी होंठ दबाकर सिर्फ हँसी। कहा—'अब लेकिन देर न करो, उठो।'

दोपहर को जब वह मुझे खिलाने के लिए बैठी, तो मैंने कहा—'अच्छा कल तो मामूली साड़ी पहने थी, आज सवेरे बनारसी साड़ी का समारोह क्यों?'

'तुम कहो, क्यों है?'

'मैं नहीं जानता।'

'बेशक जानते हो। इस कपड़े को पहचानते हो?'

'क्यों नहीं। खरीदकर मैंने बर्मा से भेज दिया था।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'उसी दिन सोच रखा था, जो दिन जीवन में सबसे अधिक महत्त्व का होगा, इसे उसी दिन पहनूँगी, और दिन नहीं।'

'इसीलिए पहनी है आज?'

'हाँ, इसीलिए।'

हँसते हुए कहा—'खैर, वह तो हो गया। अब बदल डालो।'

वह चुप रही। मैंने कहा—'मुझे पता था, तुम अभी क्या मानीघाट जाओगी?'

राजलक्ष्मी लज्जित-सी होकर बोली—'कभी हो? अभी कैसे जा सकती हूँ। नहला-खिलाकर तुम्हें सुला लूँ, तब तो छुट्टी होगी।'

मैंने कहा—'नहीं, छुट्टी तब भी न होगी। रतन कह रहा था, तुम्हारा खाना-पीना साफ बन्द-सा हो आया है। कल ही थोड़ा-सा खाया था। आज से

फिर उपवास ! मैंने क्या सोचा है, मालूम है ? अब से तुमको कड़े शासन में रक्खूँगा । जो चाहे सो नहीं कर पाओगी ।'

राजलक्ष्मी ने हँसकर कहा—'फिर तो जी जाऊँ मैं । खाना, सोना और रहना, कोई झंझट भी नहीं ।'

मैंने कहा—'बस इसीलिए तुम आज कालीघाट नहीं जा सकतीं ।'

राजलक्ष्मी ने हाथ जोड़कर कहा—'तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, सिर्फ आज के लिए यह भीख दो, उसके बाद पहले नवाब बादशाह के यहाँ जैसी खरीदी हुई बाँदी रहती थी, वैसी ही रहूँगी ।'

'आखिर इतनी विनय क्यों ?'

'विनय तो नहीं, सत्य है। अपना वक्त पहचानकर नहीं चली, तुम्हें नहीं जताया, इसीलिए एक-पर-एक कसूर करके साहस बढ़ गया । आज, लक्ष्मी का जो अधिकार होता है, तुम पर मेरा वह अधिकार नहीं है । अपनी गलती से खो बैठी हूँ उस अधिकार को ।'

देखा, उसकी आँखों में आँसू आ गया । बोली—'सिर्फ आज भर अनुमति दो, देवी की आरती देख आऊँ ।'

मैंने कहा—'कल जाना । तुम्हीं ने तो कहा, रातभर जागकर मेरी सेवा करती रही—'आज तुम बहुत थकी हो ।'

'नहीं मैं बिल्कुल नहीं थकी हूँ । आज की क्या, तुम्हारी बीमारी में कितनी ही बार देखा है, रात-रातभर भी तुम्हारी सेवा करके मुझे तकलीफ नहीं होती । क्या है, जो मेरे सारे अवसाद को पोंछ देता है । कितने दिन हो गए, ठाकुर देवता को भूल-सी गई थी । किसी बात में मन नहीं लगा सकी । आज मुझे मना न करो, हुक्म दो ।'

'तो चलो,' दोनों जने साथ चलें ।

उल्लास से उसकी आँखें चमक उठीं । कहा—'चलो । लेकिन मन में ठाकुर देवता की हँसी तो न उड़ाओगे ।'

कहा—'इसकी शपथ तो नहीं ले सकता, न हो तो मैं तुम्हारे इन्तजार में मन्दिर के द्वार पर खड़ा रहूँगा । मेरी ओर से तुम देवता से वरदान माँग लेना ।'

'क्या वरदान माँगूँगी, कहो ?'

मुँह में कौर डालकर सोचने लगा, लेकिन सोचने पर भी कोई कामना नहीं मिली । यह मैंने उससे नहीं कहा और पूछा—'तुम कहो तो मेरे लिए तुम क्या

माँगोगी ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'माँगूँगी आयु, माँगूँगी स्वास्थ्य और माँगूँगी कि अब अब से तुम मुझ पर कठिन हो सको, प्रश्रय देकर जिससे मेरा सर्वनाश न कर सको। करने पर आमादा तो हो ही गए थे।'

'लक्ष्मी, यह तो मान की बात है!'

'मान तो है ही। तुम्हारी वह चिट्ठी क्या कभी भूल सकूँगी।'

सिर झुकाए चुप हो रहा।

हाथ से मेरे मुँह को उठाकर उसने कहा—'लेकिन मुझे यह भी बर्दाश्त नहीं। कठिन तुम हो नहीं सकोगे, तुम्हारा वह स्वभाव नहीं। यह काम अब मुझे स्वयं करना होगा, टालने से नहीं चलेगा।'

पूछा—'वह काम आखिर है क्या? उपवास?'

राजलक्ष्मी हँसकर बोली—'उपवास से दण्ड नहीं होता, बल्कि अहंकार बढ़ता है। वह मेरा रास्ता नहीं है।'

'तो कौन-सा रास्ता ठीक किया?'

'ठीक नहीं कर सकी हूँ, ढूँढ रही हूँ।'

'अच्छा यह विश्वास होता है तुम्हें कि मैं कभी कठिन हो सकता हूँ?'

'होता है जी, खूब होता है।'

'हर्गिज नहीं होता, झूठ कह रही हो।'

राजलक्ष्मी ने हँसते हुए सिर हिलाकर कहा—'झूठ ही तो है। लेकिन यही मेरे लिए मुसीबत है गुसाईं। कमललता ने तुम्हारा नाम बड़ा अच्छा चुना। हाँ जी और ना जी करते तो जान जाती है। अब से मैं भी तुम्हें नये गुसाईं कहूँगी।'

'सुनी ने।'

राजलक्ष्मी बोली—'कभी तो धोखे में कमललता का ख्याल हो आएगा—उससे भी शान्ति मिलेगी। क्या ख्याल है?'

हँसकर कहा—'लक्ष्मी, स्वभाव मरने पर भी नहीं जाता। बादशाही अमल की खरीदी हुई बाँदी जैसी ही बात कहती हो पर इतने में तो तुम्हें जल्लाद के हाथों सौंप दिया जाता।'

राजलक्ष्मी भी हँसी। बोली—'खुद ही तो जल्लाद के हाथों सौंप दिया है अपने को।'

मैंने कहा—'तुम सदा से ही इतनी शैतान हो कि किसी जल्लाद की क्या मजाल, तुम पर शासन करे।'

जवाब मे वह कुछ कहने जा रही थी कि बिजली की गति से उठ खडी हुई, 'अरे! खाना तो खत्म हो गया। दूध कहाँ है? सिर की कसम रही, उठ मत जाना।' कहते-कहते वह तेजी से चली गई।

निश्वास छोड़कर बोला—'एक यह और दूसरी वह कमबख्त!'

दो एक मिनट के बाद आकर दूध का कटोरा मेरी थाली के पास रखकर वह पखा झलने लगी। बोली—'अब तक ऐसा लगता था, मानो कहीं मेरा पाप है। इसीलिए गगामाटी मे जी न लगा, काशी लौट गई। गुरुदेव को बुलवाया। बाल कटवा डाला, गहने उतार फेंके और तप शुरू कर दिया। सोचा, अब क्या है, स्वर्ग की सोने की सीढ़ी तैयार हो चली! एक बला तुम थे। वह भी विदा हुए। लेकिन उस रोज से आँसू रोके नही रुकते। मन्त्र भुला बैठी, ठाकुर देवता अन्तर्धान हो गए, कलेजा सूख गया। डर होने लगा, यही अगर धर्म-साधना है तो यह सब क्या हो रहा है? पागल तो नहीं हो जाऊँगी।'

मैंने कहा—'तप के आरम्भ मे देवता डराया करते हैं। अडिग रहने पर सिद्धि मिलती है।'

राजलक्ष्मी बोली—'सिद्धि की जरूरत नही मुझे, वह मैं पा चुकी हूँ।'

'कहाँ पा चुकी?'

'यहीं। इस घर मे।'

'यह विश्वास करने की बात नही। प्रमाण दो।'

'प्रमाण तुम्हे दूँ। मेरी बला से।'

'लेकिन क्रीतदासियाँ ऐसा नही कह सकती।'

'देखो, गुस्सा न दिलाओ, कहे देती हूँ। बार-बार खरीदी-खरीदी क्रीतदासी कहते रहोगे तो अच्छा न होगा।'

'खैर। दे दिया छुटकारा। अब से तुम स्वाधीन हो।'

राजलक्ष्मी फिर हँस पड़ी। बोली—'स्वाधीन कितनी हूँ, यह तो अब खूब समझ सकी हूँ। कल बातें करते-करते तुम तो सो गए। अपने गले से तुम्हारा हाथ हटाकर मैं बैठी। देखा, तुम्हारा कपाल पसीने से तर है। आँचल से पोछ दिया। पखा लेकर झलने लगी। टिमटिमाती बत्ती को तेज कर दिया—तुम्हारे सोते मुखड़े

को देखकर उधर से नजर हटा न सकी। इतना सुन्दर [redacted] वह, पहले क्यों नहीं दीखा ? अब तक अन्धी थी क्या ? सोचा, यह अगर पाप है तो पुण्य से मुझे कोई मतलब नहीं; यह अधर्म है तो धर्म चर्चा यों ही पड़ी रहे—जीवन में यही अगर मिथ्या है, तो जब बुद्धि नहीं थी तब वरण किसके कहने से किया ? अरे खा नहीं रहे हो ? दूध तो पड़ा ही रह गया ?'

'अब नहीं।'

'तो कुछ फल ले आऊँ ?'

'नहीं, वह भी नहीं।'

'बहुत दुबले हो गये हो लेकिन।'

'दुबला भी हो गया होऊँ तो बहुत दिनों की लापरवाही से एक ही दिन में सुधारने की कोशिश करोगी, तो बेमौत मारा जाऊँगा।'

पीड़ा से उसका चेहरा पक पड़ गया। बोली—'अब यह न होगा। जो सजा मिली है, वह भूलूँगी नहीं। यही मेरा बहुत बड़ा लाभ है।' कुछ देर चुप रही। उसके बाद धीरे-धीरे कहने लगी—'भोर हुई कि मैं उठकर चली आई। गनीमत है कि कुम्भकर्ण की नींद आसानी से नहीं टूटती, नहीं तो लोभ से जगा ही चुकी थी क्यों ? दरबान के साथ गंगा नहाने गई—माँ गंगा ने सारा तप मानो धो दिया। घर लौट कर पूजा पर बैठी। पता चला, न सिर्फ तुम लौटे हो, मेरा मन्त्र भी लौट आया है। मेरे इष्टदेवता आए हुए हैं, गुरुदेव आए हैं—आए हैं मेरे सावन के बादल। आज भी आँखों से आँसू बहने लगा, लेकिन यह आँसू मेरे कलेजे के खून से निचुड़ा हुआ नहीं, यह मेरे उमगे आनन्द की उमड़ी धारा है झरने की। मेरी सभी दिशाएँ को सींच गई। फल ले आई ? अपने हाथ से फल काटकर तुम्हें बहुत दिनों से नहीं खिलाया है।'

'…जाऊँ ? क्या कहते हो ?'

'जाओ।'

राजलक्ष्मी तुरन्त तेजी से चली गई।

मैंने फिर उधर देखा। एक यह है और एक वह कमललता।

कौन कहे इनके जन्म काल में हजारों नामों में से किसने चुनकर इनका नाम रखा था—राजलक्ष्मी !

हम दोनों जब कालीघाट से लौटकर घर पहुँचे, तो रात के नौ बज रहे थे।

राजलक्ष्मी ने स्नान किया। कपड़े बदलकर सहज-सी मेरे पास आकर बैठी।

मैंने कहा—'खैर, राज-पोशाक गई। जान बची।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'वह मेरी राज-पोशाक ही है। लेकिन राजा की दी हुई। मरने पर यही कपड़ा मुझे पहना देने को कहना।'

'कह दूंगा। लेकिन आज का दिन क्या तुम्हारा सिर्फ सपना देखकर ही कटेगा? कुछ खा लो।'

'खाती हूँ।'

'रतन से कह दूँ, महाराज तुम्हारा खाना यहीं दे जाएँ।'

'यहाँ? खूब कहा! तुम्हारे सामने बैठकर खाऊँगी? देखा है कभी खाते?'

'नहीं। लेकिन देखूं तो हर्ज क्या है?'

'ऐसा भी होता है? स्त्री का राक्षसी भोजन तुम्हें देखने ही क्यों दूँ।'

'आज वह चालाकी नहीं चलने की लक्ष्मी। तुम्हें मैं उपवास हर्गिज नहीं करने दूँ। न खाओगी तो तुमसे बोलूंगा नहीं।'

'न ही बोले तो क्या!'

'मैं भी नहीं खाऊँगा।'

वह हँसी, 'अब जीत गए। यह मुझसे सहा नहीं जाएगा।'

महाराज थाली रख गया। फल-फूल, मिठाई। थाल को खाकर वह बोली—'रतन ने शिकायत की है कि मैं खाती नहीं, तुम्हीं कहो, खाऊँ भी कैसे? हारे हुए मुकदमे की अपील करने आई थी यहाँ। रतन रोज तुम्हारे डेरे से वापस आ जाता। डर से पूछ भी नहीं सकती थी कि कहीं वह यह कह दे कि बाबू हैं, लेकिन दुर्व्यवहार के कारण नहीं आए। कुछ कह भी नहीं सकती थी।'

'कहने की जरूरत तो थी नहीं। खुद से पहुँच जाती और छिपकली जैसे तेलचिट्टे को पकड़ ले जाती है, पकड़ लाती।'

'तेलचिट्टा कौन—तुम?'

'और क्या! ऐसा निरीह प्राणी संसार में और कौन है?'

एक क्षण चुप रहने के बाद वह बोली—'मन में तुमसे जितना डरती हूँ, उतना किसी से नहीं।'

'यह मजाक है। कारण पूछ सकता हूँ?'

जरा देर वह मुझको देखती रही। फिर कहा—'कारण कि मैं तुमको पहचान

जानती है। मैं जानती हूँ कि स्त्री की ओर तुम्हें वास्तविक आसक्ति जरा भी नहीं, जो है, वह है दिखावे का शिष्टाचार। संसार में किसी वस्तु पर तुम्हें लोभ नहीं, यथार्थ प्रयोजन भी नहीं। तुम कहीं ना कह दो, तो तुम्हें लौटाऊँगी क्या देकर?'

कहा— जरा-सी गलती हुई लक्ष्मी। पृथ्वी की एक चीज पर आज भी लोभ है—वह हो तुम। वहीं ना कहने में खटकता है। उसके बदले संसार की हर चीज को छोड़ सकता हूँ, श्रीकान्त के इस पहलू को ही तुमने नहीं जाना।'

'हाथ धो लूँ' कहकर राजलक्ष्मी चली गई।

दूसरे दिन का और दिनान्त का काम-काज समाप्त करके राजलक्ष्मी मेरे पास आकर बैठी। कहा—'कमललता के बारे में कहो।'

जितना जानता था, बताया। केवल अपने बारे में कुछ-कुछ दबा गया, क्योंकि गलतफहमी हो सकती है।

आदि से अन्त तक सब सुनकर बोली—'यतीन की मौत की है। उसे सबसे ज्यादा चोट लगी है। उसी के कारण उसकी जान गई।'

'उसी के कारण कैसे?'

'और क्या? कलंक से बचने के लिए आत्महत्या में मदद पहुँचाने के लिए उसी को तो कमललता ने सबसे पहले बुलाया था। उस रोज यतीन कबूल नहीं कर सका, लेकिन अपने कलंक से छुटकारा पाने के लिए सबसे पहले उसे वही उपाय नजर आया। ऐसा ही होता है, इसीलिए पाप में मदद के लिए बन्धु को नहीं बुलाना चाहिए—इससे एक का प्रायश्चित्त दूसरे के कन्धे पर पड़ता है। आप तो वह बच गई, मरा उसके प्यार का धन।'

'यह युक्ति ठीक से समझ में नहीं आई लक्ष्मी।'

'तुम कैसे समझोगे? समझा है कमललता ने, राजलक्ष्मी ने।

'ओ, यह बात है!'

'जी। मरा जीना भी बिरथा, जब तुम्हारी ओर देखती हूँ।'

'लेकिन कल ही तो तुमने कहा कि तुम्हारे मन की कालिमा धुल गई है, अब कोई ग्लानि नहीं। तो क्या वह झूठ है?'

'नहीं तो क्या। कालिमा मरने पर ही धुलेगी—उससे पहले नहीं। मरना भी चाहा, पर तुम्हारे ही लिए मर भी न सकी।'

'जानता हूँ। लेकिन इसी के लिए बार बार दुहराओगी, तो एसा गायब होऊँगा

कि कहीं फिर खोजकर नहीं पाओगी।'

राजलक्ष्मी ने झट मेरा हाथ थाम लिया, और बिल्कुल छाती के पास खिसककर बैठी। बोली—'ऐसी बात कभी जबान पर मत लाना। तुम सब कर सकते हो। तुम्हारी निष्ठुरता रुकावट नहीं मानती।'

'तो यह कहो कि ऐसा फिर कभी नहीं कहोगी?'

'नहीं।'

'सोचोगी भी नहीं?'

'तुम यह कहो कि मुझे छोड़कर जाओगे नहीं।'

'मैं तो कभी जाता नहीं, जब भी गया इसलिए कि तुमने चाहा नहीं।'

'वह तुम्हारी लक्ष्मी नहीं, और कोई है।'

'उसी 'और कोई' से आज भी डरता हूँ।'

'न, अब उससे मत डरो। वह राक्षसी मर चुकी।'—मेरे उसी हाथ को कसकर दबाते हुए बैठी रही।

पाँच-छः मिनट इसी तरह रहने के उसने दूसरी बात छेड़ी। कहा—'तुम क्या सच ही बर्मा जाओगे?'

'सच ही जाऊँगा।'

'क्या करोगे जाकर—नौकरी? दो ही जने तो हैं हम। हमें जरूरत भी कितनी?'

'लेकिन उतनी के लिए भी तो चाहिए।'

'उतनी भगवान दे देंगे। लेकिन नौकरी न ही कर सकते तुम, न वह तुमसे चलेगी।'

'नहीं चलेगी तो चला आऊँगा।'

'आओगे तो जरूर ही। सिर्फ जिद करके मुझे उसे उतनी दूर खींच ले जाकर कष्ट देना चाहते हो।'

'कष्ट नहीं भी तो उठा सकती हो।'

राजलक्ष्मी ने कटाक्ष करके कहा—'चलो, चालाकी मत करो।'

कहा—'चालाकी नहीं। जाने से सच ही तुम्हें कष्ट होगा। रसोई-पानी, बर्तन-बासन, झाड़ू-बुहारू'

राजलक्ष्मी बोली—'और नौकर-चाकर क्या करेंगे?'

'नौकर-चाकर नहीं! उसके लिए पैसा कहाँ है?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'न सही। जितना ही डराओ चाहे, मैं जाऊँगी जरूर।'

'चलो। तुम और मैं। काम की भीड़ से न तो झगड़ने का मौका पाओगी, न पूजा-पाठ करने की फुर्सत।'

'सो हो। काम से मैं डरती थोड़े ही हूँ।'

'डरती नहीं, सही है, मगर करते भी न बनेगा। दो ही दिन बाद लौट आने की बेचैनी होगी।'

'उसी का क्या डर? साथ ले जाऊँगी, साथ ही लिवा लाऊँगी। वहाँ छोड़ तो आना है नहीं।' इतना कहकर उसने जाने क्या सोचा और कहा—'वही ठीक है। नौकर-नौकरानी कोई नहीं। एक छोटे से घर में सिर्फ मैं और तुम—जो दूँगी, वही खाओगे, जो पहनने को दूँगी, वही पहनोगे—न, देखना मैं शायद कभी लौटना ही न चाहूँ।'

सहसा मेरी गोदी पर माथा रखकर लेट गई और देर तक आँखें बन्द किए स्तब्ध पड़ी रही।

'क्या सोच रही हो?'

उसने आँखें खोलकर देखा। कहा—'हम लोग कब चलेंगे?'

मैंने कहा—'इस घर का कोई इन्तजाम कर लो, उसके बाद किसी दिन चले चलें।'

सिर हिलाकर उसने फिर आँखें बन्द कर लीं।

'फिर क्या सोचने लगीं?'

'सोचती हूँ, एक बार मुरारीपुर नहीं जाओगे?'

कहा—'विदेश जाने से पहले एक बार जाने का वचन दे आया था।'

'तो चलो, कल ही दोनों जने चलें।' लक्ष्मी बोली।

'तुम चलोगी?' मैंने पूछा।

'क्यों, डर किस बात का? कमललता तुमको प्यार करती है और उसे प्यार करता है गौहर दादा। यह अच्छा हुआ है।'

'यह बात तुम्हें किसने कहा?'

'तुम्हीं ने तो।'

'नहीं, मैंने नहीं कहा।'

'हाँ, तुमने ही तो कहा है। केवल यह मालूम नहीं कि कब कहा है।'

सुनकर सकोच से व्याकुल हो उठा। कहा—'जो हो, तुम्हारा वहाँ जाना उचित नहीं।'

'क्यों ?'

'मारे मजाक के उस बेचारी की नाक मे दम कर दोगी।'

राजलक्ष्मी ने भौंहें सिकोड़ी। कुपित कण्ठ से कहा—'इतने दिनो मे मेरा यही परिचय पाया है तुमने ? तुम्हें वह प्यार करती है, इसके लिए मैं उसे शर्मिन्दा करने जाऊँगी ? तुम्हें प्यार करना कोई अपराध है ? शायद हो कि मैं भी उसे प्यार ही कर बाऊँ।'

'तुम्हारे लिए असम्भव कुछ भी नहीं—चलो।'

'चलो। कल सुबह की गाडी से चलें। चिन्ता न करो, जीवन मे तुम्हें कभी दुखी न करूँगी मैं।'

वह कैसी अनमनी हो गई। आँखें निमीलित, साँस-निश्वास थम आते-से, सहसा जाने कितनी दूर चली गई वह।

डर लगा। उसे हिलाकर पूछा—'यह क्या।'

आँखें खोलकर जरा हँसते हुए उसने कहा—'नहीं, कुछ तो नहीं।'

उसकी वह हँसी भी आज जाने कैसी लगी।

ग्यारह

दूसरे दिन मेरी अनिच्छा से जाना न हो सका। लेकिन उसके दूसरे दिन किसी प्रकार से भी टाला न जा सका—मुरारीपुर के अखाड़े के लिए रवाना होना ही पड़ा। रतन राजलक्ष्मी का वाहन ही ठहरा। उसके बिना एक पग भी बढ़ाना कठिन। लेकिन रसोई की नौकरानी लालू की माँ भी साथ चली। कुछ सामान के साथ रतन सुबह की ही गाडी से जा चुका, वहाँ वह स्टेशन पर गाडो-वाडी का इन्तजाम करके रखेगा। हमारे साथ भी जो बक्स-पिटारे चले, वह भी कुछ कम नहीं।

पूछा—'आखिर वहाँ निवास करने के लिए चल रही हो क्या ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'दो एक दिन ठहरेंगे नहीं। गाँव-घर के वन-जंगल नदी-नाले, घाट-बाट अकेले तुम ही देखोगे, मैं क्या उसी गाँव की लड़की नहीं? मुझे देखने का अरमान नहीं होता?'

'होता है, समझता हूँ। मगर इतना सामान, खान-पान का इतना प्रबन्ध'

राजलक्ष्मी ने कहा—'देवता का स्थान, वहाँ खाली हाथ जाने को कहते हो! फिर तुम्हें तो ढोना नहीं, फिक्र क्यों कर रहे हो?'

फिक्र क्या थी, सो कहूँ किससे? ज्यादा डर तो यही था कि वैष्णव-वैरागी का दिया हुआ प्रसाद वह माथे तो लगाएगी मुँह से नहीं खाएगी। वहाँ जाकर किसी बहाने उपवास शुरू करेगी या खुद रसोई करने लगेगी, कहना कठिन है। एक ही भरोसा था, मन राजलक्ष्मी का भला है। जाहिर ही गले पड़कर किसी को कष्ट नहीं देना चाहती। और ऐसा कुछ करेगी भी तो मुस्कराते हुए हँसी-मजाक में ही इस ढंग से करेगी कि मेरे और रतन के सिवाय कोई समझ भी नहीं सकेगा।

शारीरिक साज-सज्जा में राजलक्ष्मी का बाहुल्य कभी नहीं रहा। तिस पर संयम और उपवास ने मानो देह की लघुता को एक दीप्ति दे रखी है। खास करके उसका आज का साज-सिंगार विचित्र हुआ है। तड़के ही गंगा नहा आई है, उड़िया पण्डा का रचा तिलक ललाट पर, पहनावे में लता-फूल छपी कत्थई रंग की वृन्दावनी साड़ी। बदन पर वही कई गहने, चेहरे पर स्निग्ध प्रसन्नता—काम में तल्लीन। कल दो अलमारियाँ खरीद लाई है शीशेवाली। आज सवेरे से ही जल्दी-जल्दी जाने क्या-क्या सहेज रही थी उनमें। कलाई के कड़ों में घड़ियाल के मुखड़े की आँखें दमक दमक उठती थीं। हीरा और पन्ना जड़े हार की रंगीन छटा साड़ी की सिकन से छिटक पड़ रही थी, कान के पास भी वैसी सी नीली चमक। मेज पर चाय पीते हुए बैठकर [redacted] एकटक उसी तरफ देख रहा था। एक दोष था उसमें कि घर पर वह ब्लाउज या शमीज नहीं पहनती थी। लिहाजा असावधान में गले या बाँह का कुछ हिस्सा उघर आता था। लेकिन कहने से कहती, उनका पहनना मुझसे नहीं बनता। गँवई गाँव की हूँ, बीवीगिरी नहीं बनती दिन-रात। यानी ऐसों को कपड़े के बन्धन की उतनी कमी बर्दाश्त नहीं।

अलमारी का पल्ला बन्द किया। आईने में उसकी नजर मुझ पर पड़ी। झट कपड़ा सँभालकर मुड़ी। नाराज होकर बोली—'फिर ताक रहे हो? इस बार इतना क्या गौर करते हो तुम?'—कहकर हँस पड़ी।

मैं भी हँसा। कहा—'सोच रहा था, विधाता को निर्देश देकर जाने किसने तुमको बनवाया था।'

राजलक्ष्मी बोली—'तुमने। नहीं तो दुनिया के बाहर ऐसी पसन्द और किसकी है? तुम मुझसे पाँच-छः साल पहले आए, आते वक्त विधाता को बयाना दे आए थे, याद नहीं है?'

'नहीं, लेकिन तुमने कैसे जाना?'

'जब मेरा पार्सल करने लगे, तो कानोकान उन्हीं ने बताया। 'छोड़ो। पी चुके चाय? देर होगी, तो आज भी जाना न होगा'।'

'नहीं हुआ तो क्या।'

'ऐसा क्यों?'

'यहाँ भीड़ में शायद ढूंढकर पा न सकूँ।'

राजलक्ष्मी बोली—'मुझे पा लोगे। तुम्हें पा सकूँ तो जान बचे।'

कहा—'यह भी तो ठीक नहीं।'

वह हँसकर बोली—'नहीं-नहीं, यह न होगा। चलो, सुना है, नये गुसाईं का वहाँ अलग एक कमरा है, जाते ही मैं उसकी चटखनी तोड़ दूँगी। डरो मत, ढूंढना न पड़ेगा—दासी को इसी रूप में पा लोगे।'

'तो चलो।'

हम मठ में पहुँचे। ठाकुर की मध्याह्न-पूजा अभी-अभी समाप्त हुई। बिना बुलाए, बिना जताए एकाएक इतने-इतने अतिथि आ धमके, मगर इस पर भी वे इतने खुश हुए कि कह नहीं सकता। बड़े गुसाईं आश्रम में नहीं थे। गुरुदेव को देखने के लिए फिर नवद्वीप गए थे। लेकिन इस बीच दो बैरागियों ने आकर मेरे ही कमरे में डेरा डाल दिया था।

कमललता, लक्ष्मी, सरस्वती, पद्मा तथा और भी कइयों ने आकर बड़े आदर के साथ स्वागत किया। कमललता ने गहरे स्वर में कहा—'नये गुसाईं, तुम इतनी जल्दी फिर हम लोगों को दर्शन दोगे, यह आशा नहीं थी।'

राजलक्ष्मी ने बात की, जैसे कितने दिनों की जान-पहचान हो। कहा—'कमल दीदी, बीच के इतने दिनों इनकी जबान पर सिर्फ तुम्हारी ही चर्चा थी। इससे भी पहले आना चाह रहे थे, लेकिन मेरी वजह से सम्भव न हुआ। मेरा ही दोष है वह।'

कमललता का चेहरा एक क्षण के लिए लाल हो आया। पद्मा ने मुस्कराकर

झट नजर फेर ली।

वेशभूषा और चेहरे से सबने समझ लिया कि राजलक्ष्मी सम्भ्रान्त घर की है; सिर्फ यही ठीक से नहीं समझ सकी कि मुझसे उसका क्या सम्बन्ध है। परिचय के लिए सभी उद्ग्रीव हो उठीं। राजलक्ष्मी की नजर से कुछ चूक नहीं सकता। वह बोली—'कमललता दीदी, मुझे पहचान नहीं रही हो?'

कमललता ने गर्दन हिलाकर कहा—'नहीं।'

'वृन्दावन में कभी देखा नहीं।'

कमललता नादान नहीं थी। मजाक को समझ गई। कहा—'याद तो नहीं पड़ रहा है।'

राजलक्ष्मी बोली—'न पड़ना ही ठीक है। मैं इधर की ही हूँ—वृन्दावन कभी गई भी नहीं।' कहकर वह हँस पड़ी। लक्ष्मी और सरस्वती जब वहाँ से चली गईं तो बोली—'हम दोनों एक ही गाँव के हैं। एक ही पाठशाला में पढ़ते थे। ऐसा मेल था, जैसे दोनों भाई-बहिन हों। टोले के रिश्ते से भैया कहा करती थी और बहन की तरह कितना प्यार करते थे। कभी हाथ तक नहीं उठाया।'

मेरी तरफ ताककर बोली—'क्यों जी, ठीक कह रही हूँ न?'

पद्मा खुश होकर बोली—'इसीलिए देखने में दोनों एक से हो। दोनों लम्बे-छरहरे। सिर्फ रंग तुम्हारा साफ है, नये गुसाईं का काला, देखते ही तुम्हें समझ सकते हैं।'

राजलक्ष्मी गम्भीर हो बोली—'सो तो समझी ही थी। हम लोगों का एक-से हुए बिना क्या उपाय था पद्मा!'

'हाय राम, तुम तो मेरा भी नाम जानती हो। नये गुसाईं ने बता दिया है शायद?'

'बताया है, इसीलिए तो तुम लोगों से मिलने आई हूँ। इनसे कहा—अकेले क्यों जा रहे हो, मुझे भी साथ ले चलो। तुममें तो कोई खतरा नहीं और हमें एक साथ देखकर कोई कलंक भी न लगाएगा। और कलंक लगा भी तो क्या, नीलकण्ठ के गले में ही रुक जाएगा, पेट तक नहीं पहुँचेगा।'

मैं और चुप नहीं रह सका। स्त्रियों का यह कैसा मजाक है, वही जानें। तंग होकर कहा—'बच्चों से झूठा मजाक कर रही हो?'

राजलक्ष्मी ने भले मानस की तरह कहा—'सच्चा मजाक क्या है, तुम्हीं बता

दो। जो जानती हूँ, सरल मन से कह रही हूँ।'

उसकी गम्भीरता देखकर नाराज होते हुए भी हँस पड़ा—'सरल मन से कह रही हूँ! कमललता, इस जैसी शैतान तुम्हें सारी दुनिया में दूसरी न मिलेगी। इसका एक मतलब थोड़े है। इसकी बात पर कभी विश्वास मत करना।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'निन्दा क्यों करते हो गुसाईं? लगता है, मेरे बारे में तुम्हारे ही मन में कोई मतलब है।'

'बेशक है।'

'लेकिन मुझे नहीं है। मैं निष्कलंक हूँ, निष्पाप।'

'हाँ। युधिष्ठिर!'

कमललता भी हँसी, मगर सिर्फ कहने के ढंग से। शायद उसने कुछ समझा नहीं, उलझन में पड़ गई। क्योंकि किसी भी नारी के बारे में उसे मैंने कोई आभास नहीं दिया था। देता भी कैसे! देने को उस दिन था भी क्या!

कमललता ने पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है बहन?'

'मेरा नाम है राजलक्ष्मी। ये पहला शब्द छोड़कर केवल लक्ष्मी कहते हैं। और मैं कहती हूँ एजी, हाजी। अब ये नये गुसाईं कहने के लिए तो कहते हैं। कहते हैं, कुछ तो सन्तोष होगा।'

पद्मा ताली बजाकर बोली—'समझ गई।'

कमललता डाँटकर बोली—'मुँहजली, बड़ी अक्ल है। क्या समझा, बता तो?'

'जरूर समझा, कहूँ?'

'जी नहीं कहना होगा।' स्नेह से कमललता ने राजलक्ष्मी का एक हाथ पकड़कर कहा—'बातों में बेला बढ़ रही है बहन, धूप से चेहरा सूख गया है। जानती हूँ कि खा-पीकर नहीं चली हो। चलो, हाथ-पाँव धोकर ठाकुर को प्रणाम कर लो फिर सब साथ ही उनका प्रसाद खाएँगे। तुम भी चलो गुसाईं।'—कमललता उसे खींचती मन्दिर की तरफ ले गई।

अब मेरा जी धड़क उठा। अब प्रसाद की बारी आएगी। खाना-छूना वाली बात राजलक्ष्मी के जीवन से इस तरह जुड़ी है कि सत्य-असत्य का प्रश्न ही अवैध है। यह उसका विश्वास ही न हो, स्वभाव है। इसके बिना वह जी नहीं सकती। जीवन के इस एकान्त प्रयोजन की सहज और सक्रिय सजीवता ने उसे कितने संकटों से कब-कब बचाया है, जानने का कोई उपाय नहीं। आप वह बताएगी नहीं और

जानने से लाभ भी नहीं। मैं इतना ही जानता हूँ कि राजलक्ष्मी को मैंने न चाहते हुए ही एकदिन पाया है, वह आज मेरी सारी प्राप्ति से बड़ी है। ख़ैर, इसे छोड़िए।

उसमें जितनी भी कठोरताएं हैं सब अपने लिए। दूसरे के लिए कोई जुल्म नहीं। बल्कि हँसकर कहती, उतना कष्ट करने की क्या ज़रूरत? आज के युग में इतना विचार करो तो जीना मुहाल हो जाए। उसे मालूम है कि मैं यह सब कुछ नहीं मानता। वह इतने में ही खुश है कि उसकी नज़र के सामने लगकर कुछ न हो जाए। मेरे परोक्ष समाचार की बात सुनकर कभी तो वह कान दबाकर बचती है और कभी गाल पर हाथ रखकर अवाक् हो पूछती है, मेरे नसीब से तुम ऐसे क्यों हुए? तुम्हारे लिए तो मेरा सब गया।'

लेकिन आज की घटना ठीक ऐसी नहीं। इस निर्जन मठ में जो कुछ शान्ति लोभ से रहती हैं, सब दीक्षित वैष्णव धर्मावलम्बी हैं। जाति-भेद नहीं है, पूर्व आश्रम की बात कोई मन में भी नहीं लाती। इसलिए कोई अतिथि आए तो निःसंकोच श्रद्धा से प्रसाद बाँटती हैं। और इनकार करके भी किसी ने आज तक इसका अपमान नहीं किया। वही अप्रिय कार्य अगर मर्मान्तिक रूप से हमारे ही द्वारा हो तो कष्ट की सीमा न रहेगी। खास करके मेरे कष्ट की। जानता हूँ, मुँह खोलकर कमललता कुछ कहेगी नहीं, किसी को कहने भी नहीं देगी—शायद हो कि वह न एक बार मेरी तरफ़ ताककर ही सिर झुकाए हट जाएगी। उस मौन अभियोग का जवाब क्या हो सकता है, वहीं खड़े हो मन-ही-मन मैं यही सोच रहा था।

इतने में पद्मा आई। कहा—'चलो नये गुसाईं, दोनों दीदी तुम्हें बुला रही हैं। मुँह हाथ धो लिया?'

'नहीं।'

'तो चलो, पानी दूँ। प्रसाद मिल रहा है।'

'आज हुआ क्या है प्रसाद?'

'अन्नभोग।'

मन-ही-मन कहा, तब तो और भी उत्तम हुआ। पूछा—'कहाँ दिया?'

वह बोली—'ठाकुर-घर के बरामदे में। तुम और-और बाबाजी के साथ बैठ जाना। हम स्त्रियाँ पीछे खाएँगी। आज परोसेगी राजलक्ष्मी दीदी।'

'क्यों, वह खाएगी नहीं?'

'नहीं, वह हमारी तरह वैष्णवी तो नहीं ब्राह्मण की लड़की है। हमारा छुआ खाने में पाप होगा।'

'तुम्हारी कमललता दीदी नाराज नहीं हुई?'

'नाराज क्यों होगी? बल्कि हँसने लगी। राजलक्ष्मी दीदी से कहा, अगले जन्म में हम दोनों एक मां के गर्भ से पैदा होंगी। मैं पहले, तुम पीछे। तब माँ का परोसा हुआ भोजन हम दोनों एक पत्तल में खाएँगी। उस समय जात की बात करोगी तो माँ कान मल देगी।'

सुनकर खुश हुआ। खूब जवाब दिया है। बातों में राजलक्ष्मी के समकक्ष कोई नहीं मिलो।

पूछा—उसने क्या जवाब दिया?'

पद्मा ने कहा—'वह भी हँसने लगी। बोली—'माँ क्यों, बड़ी बहन के नाते तुम्हीं कान मल देना—छोटे की ढिठाई मत सहना।'

प्रत्युत्तर सुनकर चुप रह गया। सिर्फ मन में यह प्रार्थना की कि उसके भीतर के अर्थ को कमललता ने न समझा हो।

वहाँ जाकर पाया, मेरी प्रार्थना मंजूर हुई है। कमललता ने उस पर कान ही नहीं दिया। बल्कि इस बेमेल से ही दोनों में इसी बीच काफी मेल हो गया है।

☐

तीसरे पहर की गाड़ी से द्वारकादास बाबाजी लौट आए। उनके साथ और कई बाबाजी पधारे। सारे बदन पर छापा तिलक देखकर सन्देह नहीं रहा कि ये भी कुछ मामूली नहीं हैं। मुझे देखकर गुसाईं खुश हुए, लेकिन साथ वालों ने परवा न की। परवा न करने की ही बात थी। पता चला, उनमें से एक नामी भजनीक हैं, एक मृदंग के उस्ताद।

प्रसाद पाकर निकल पड़ा। वह सूखी सी नदी, वही बाँस और बेंत के कुंज। बदन की खाल बचानी मुश्किल। सूर्यास्त होने ही वाला था। सोचा, नदी किनारे बैठकर प्रकृति की शोभा देखूँगा। लेकिन पास ही कहीं कन्दा की जाति का अन्धकार-मणि का फूल खिला था। सड़े आम जैसी उसकी बू से ठहरना मुश्किल हो गया। मन में आया, कवियों को फूल तो इतना प्यारा है, कोई इन्हें इस फूल का उपहार क्यों नहीं दे जाता।

साँझ होते-होते लौटा। अखाड़े में जाकर देखा, बड़ी तैयारी है। ठाकुर और

ठाकुर-घर को सजाया जा रहा है। आरती के बाद भजन होंगे।

पद्मा ने कहा—'नये गुसाईं, तुम्हें कीर्तन बहुत पसन्द है। आज मनोहर बाबाजी को सुनकर तुम अवाक् रह जाओगे। खूब गाते हैं।'

वास्तव में वैष्णवी कवियों की पदावली जैसी मीठी मुझे और कुछ नहीं लगती। कहा—'सच ही मुझे बहुत पसन्द है पद्मा। बचपन में दो-चार कोस के अन्दर जहाँ भी कीर्तन होने की सुनता, मैं जरूर जाता। समझूँ चाहे नहीं, पर बैठा रहता था। कमललता, आज तुम नहीं गाओगी?'

कमललता बोली—'नहीं। आज नहीं गुसाईं। इन जैसी जानकारी तो है नहीं। इन लोगों के सामने गाने में मुझे लाज लगती है। तिस पर पहली बार जो बीमार पड़ी तब से गले का वही हाल है।'

मैंने कहा—'लेकिन लक्ष्मी तो तुम्हारा गाना ही सुनने आई है। वह समझती है कि मैंने झूठ ही दून की हाँक दी है।'

कमललता बोली—'तुमने बढ़ा-चढ़ाकर जरूर कहा है गुसाईं।' उसके बाद राजलक्ष्मी से कहा—'तुम कुछ ख्याल मत करना बहन, थोड़ा-बहुत जो जानती हूँ, किसी दूसरे दिन सुनाऊँगी।'

राजलक्ष्मी ने खुशी-खुशी कहा—'ठीक है दीदी, जब चाहो, मुझे बुलवा भेजना। मैं आकर तुम्हारा गाना सुन जाऊँगी। मुझसे कहा, तुम्हें कीर्तन इतना पसन्द है, मुझसे तो नहीं कहा तुमने?'

जवाब दिया—'तुमसे क्यों कहता? गंगामाटी में जब बीमार था, मेरी दोपहरी धू-धू जलते हुए सूने मैदान की ओर ताकते हुए कटती; सांस किसी भी तरह से भरने से नहीं कटना चाहती'...'

राजलक्ष्मी झट हाथ से मेरा मुँह दबाते हुए बोली—'आगे बोले तो पैरों पर सिर पटककर जान दे दूँगी।' उसके बाद ही अप्रतिभ हो हाथ उठाकर बोली—'कमललता दीदी, अपने बड़े गुसाईं से कह आओ, बाबाजी के कीर्तन के बाद आज मैं ठाकुर को गीत सुनाऊँगी।'

कमललता सन्दिग्ध स्वर में बोली—'लेकिन ये बाबाजी लोग बड़े कैसे होते हैं इस मामले में।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'हो कैसे। भगवान का नाम तो होगा।' मूर्तियों की ओर इशारा करके हँसते हुए कहा—'वे शायद खुश हों। मुझे इन बाबा लोगों की

फिक्र नहीं, अपने ये दुर्वासा देवता प्रसन्न हो तो जान बचे।'

मैंने कहा—'प्रसन्न हो तो इनाम पाओगी।'

राजलक्ष्मी ने आशंकित होकर कहा—'बस्या गुसाईं, सबके सामने ईमान न दे बैठना। तुम्हारे लिए असम्भव कुछ नहीं है।'

वैष्णवियाँ हँसने लगीं। पद्मा सुन होते ही ताली बजाती। कहने लगी—'मैं समझ गई।'

स्नेह से उसकी ओर देखते हुए कमललता ने कहा—'हट कलमुँही, चुप रह।' राजलक्ष्मी से कहा—'दईमारी को यहाँ से ले तो जाओ, बहन, क्या जाने क्या कह बैठेगी।'

आरती के बाद कीर्तन की बैठक जमी। आज बहुत बत्तियाँ जलीं। मुरारीपुर का यह अखाड़ा वैष्णव समाज में कम प्रसिद्ध नहीं है। ऐसे कीर्तनिया वैरागी जब भी आ जुटते, इस प्रकार का आयोजन हो जाता। मठ में सब प्रकार के वाद्ययन्त्र मौजूद हैं। देखा, सब बाजे लाए गए हैं। एक तरफ वैष्णवियाँ बैठीं—सभी जानी-चीन्हीं। दूसरी तरफ अपरिचित वैरागी बहुत से। तरह तरह के चेहरे, हर उम्र के। बीच में बैठे विख्यात मनोहरदास और उनका मृदंग बजाने वाला। मेरे कमरे में आसन जमाने वाला एक छोकरा हारमोनियम में सुर दे रहा था। प्रचार यह किया गया था कि कलकत्ते से सम्भ्रान्त घर की कोई महिला आई हैं—वही गाएँगी। महिला युवती हैं, रूपवती हैं, धनी हैं। उनके साथ नौकर-चाकर आए हैं, दुनियाभर के सामान आए हैं और हैं एक कोई नये गुसाईं जो इसी इलाके के एक यायावर हैं।

जिस समय मनोहरदास के कीर्तन की भूमिका चल रही थी, उसी बीच राजलक्ष्मी आकर कमललता के पास बैठी। बाबाजी का गला एकाएक काँपकर सँभल गया और मृदंग के बोल कटे नहीं, इसे दैव की कृपा ही कहिए। केवल द्वारकादास दीवाल से टिके आँखें बन्द किए जैसे बैठे थे, वैसे ही बैठे रहे। शायद उन्हें पता भी नहीं ही चला हो कि कौन आया और कौन नहीं आया।

राजलक्ष्मी एक नीलाम्बरी पहन करके आई थी, उसकी जरीदारी किनारी से नीले ब्लाउज का रंग एक हो गया था। बाकी सब वैसा ही। सिर्फ उड़िया पण्डा का लगाया छापा तिलक बहुत कुछ मिट गया था। जो बच रहा था, वह मानो आश्विन का फटा-चिटा मेघ हो, नीले आकाश में अब खोया, अब खोया, बहुत ही

शान्त, बहुत ही शिष्ट। मेरी ओर कटाक्ष से भी नहीं ताका, जैसे मुझको पहचानती ही न हो। लेकिन तो भी उसने थोड़ी-सी हँसी क्यों दबा ली, नहीं जाने। हो सकता है, मेरी ही भूल हो। असम्भव क्या।

बाबाजी का गाना आज जमा नहीं। अवश्य उनके दोष से नहीं, असल में लोग अधीर हो रहे थे।

द्वारकादास ने आँखें खोलकर राजलक्ष्मी से कहा—'दीदी, अब आप ठाकुर की सेवा में कुछ निवेदन करो। सुनकर हम भी धन्य हों।'

राजलक्ष्मी उस ओर मुँह करके बैठ गई। द्वारकादास ने मृदंग की ओर इशारा करके कहा—'इससे कोई रुकावट तो न होगी?'

सुनकर न सिर्फ वे, मनोहरदास भी कुछ विस्मित हुए। क्योंकि साधारण स्त्री से शायद वे इतनी उम्मीद नहीं करते थे।

गाना शुरू हुआ। न कहीं संकोच की जड़ता, न अक्षमता की दुविधा। निःशंक कण्ठ का सुर अबोध स्रोत-सा बह चला। मुझे मालूम है, इस विद्या में वह निपुण है। यही उसकी जीविका है। लेकिन बंगाल के निजी संगीत की इस धारा को भी उसने इस खूबी के साथ हासिल किया है, यह मैंने नहीं सोचा था। किसे मालूम था कि प्राचीन और आधुनिक वैष्णव कवियों के इतने-इतने पद उसे याद हैं। न केवल सुर-ताल और लय में, बल्कि वाक्यों की विशुद्धता, उच्चारण की स्पष्टता और प्रकाश करने के ढंग की मधुरता से आज की साँझ उसने जिस आश्चर्य की सृष्टि की वह असमानवीय था। पत्थर के देवता उसके सामने—पीछे ठाकुर दुर्गाना—कहा नहीं जा सकता, किसे ज्यादा प्रसन्न करने के लिए उसकी यह आराधना थी। गंगामाटी के लिए अपराध का जरा भी स्खलन यदि इसमें हो—क्या जानें, यह बात उसके मन में आज थी भी या नहीं।

वह गा रही थी:

'एक पद पंकज, पंके विभूषित, कंटके जर-जर भेल,
तुआ दरशन आशे किछु नहि जनलु चिर दुख अब दूरे गेल।
तुम्हारी मुरलि जब श्रवणे प्रवेशल छोड़नु गृह-सुख आश,
पन्थक दुख तृणहुँ करि ना गणनु, कहतो है गोविन्दास।'

बड़े गुसाईं की आँखों से आँसू बह रहा था। आवेश और आनन्द की अधिकता से उठकर उन्होंने मूर्ति के गले से मल्लिका की माला निकालकर राजलक्ष्मी के गले

में डाल दी। बोले—'प्रार्थना करता हूँ जिससे तुम्हारा सारा अमंगल दूर हो।'

राजलक्ष्मी ने झुककर उन्हें नमस्कार किया और आकर सबके सामने ही उसने मेरे चरणों की धूल माथे पर लगाई। फुसफुसाकर कहा—'यह माला रही, इनाम का डर नहीं दिखाया होता तो यहीं सबके सामने तुम्हें पहना देती।'—कहकर चली गई।

गीत की बैठक समाप्त हुई। लगा, आज मानो जीवन सार्थक हुआ।

प्रसाद बाँटने का आयोजन होने लगा। अँधेरे में उसे एक किनारे बुलाकर कहा—'यह माल रक्खे रहो—यहाँ नहीं, घर लौटकर तुम्हारे ही हाथ पहनूँगा।'

राजलक्ष्मी बोली—'ठाकुर के सामने पहनने से उतार नहीं सकोगे, यह डर है, क्यों?'

'नहीं। डर अब नहीं है। जाता रहा। अगर यह सारी दुनिया मेरी होती, तो मैं आज तुम्हें दान कर देता।'

'उफ्। दाता कितने बड़े। वह तुम्हारी हो रहती।'

कहा—'आज तुम्हें असंख्य धन्यवाद।'

'क्यों, यह तो कहो।'

मैंने कहा—'आज लगता है, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। रूप, गुण, रस, विद्या, बुद्धि, स्नेह-सौजन्य से परिपूर्ण जो धन मुझे अनमाँगे मिला है, संसार में उसकी तुलना नहीं। अपनी अयोग्यता पर लज्जित हूँ—सच ही तुम्हारा मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ।'

राजलक्ष्मी बोली—'अब मैं नाराज हो जाऊँगी, कहे देती हूँ।'

'हो जाओ। सोचता हूँ, यह ऐश्वर्य मैं रक्खूँगा कहाँ?'

'क्यों, चोरी हो जाने का डर है?'

'नहीं, ऐसा आदमी तो नजर नहीं आता। चुराकर तुम्हें रखने लायक उतनी जगह ही बेचारा कहाँ पाएगा?'

राजलक्ष्मी ने जवाब नहीं दिया। मेरा हाथ खींचकर कुछ देर कलेजे के पास रखकर बोली—'अँधेरे में हमें आमने सामने खड़े देख लोग हँसेंगे। रात तुम्हें सुलाऊँ कहाँ। जगह नहीं है।'

'यहीं सोकर रात गुजर ही जाएगी।'

'कट तो जाएगी। तबीयत खराब हो जा सकती है न।'

'तुम फिक्र न करो। कोई न कोई इन्तजाम वे करेंगी।'

राजलक्ष्मी ने चिन्ता के स्वर मे कहा—'देख तो रही हूँ, इन्तजाम क्या करेंगी, नही जानती। चिन्ता मैं नही, वे करेंगी ? चलो। जो भी हो, थोड़ा-सा खाकर सो जाना।'

सच ही भीड़ थी। सोने का स्थान नही था। एक बरामदे मे मसहरी डालकर मेरे लिए सोने की जगह कर दी गई। राजलक्ष्मी को सन्तोष न हुआ, शायद वह रात मे कभी-कभी आकर देख भी गई—लेकिन, मेरी नींद में कोई खलल नहीं पड़ी।

सुबह जागा तो देखा, ढेरों फूल तोड़कर दोनो वापस आईं। मेरे बदले आज कमललता ने राजलक्ष्मी को सखी बनाया था। वहाँ से एकान्त में दोनो मे क्या बातें हुईं, कह नही सकता, लेकिन दोनो के चेहरे देखकर बड़ी तृप्ति हुई। मानो कितने दिनो की मित्र हैं दोनो—कब की आत्मीय। रात दोनों एक ही साथ सोई थीं। सोने में जात का विचार बाधक नही बना। एक दूसरी के हाथ का नहीं खाती, इस पर कमललता ने हँसते हुए मुझसे कहा था, तुम चिन्ता न करो नये गुसाईं, यह प्रबन्ध हम दोनो मे हो गया है। अगले जन्म में बड़ी बहन के रूप में जन्म लेकर मैं उसके कान मल दूँगी।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'इसके बदले मैंने भी एक शर्त करा ली है गुसाईं। कहीं मैं मर जाऊँ तो इसे वैष्णवीपना छोड़कर तुम्हारी सेवा मे लग जाना पड़ेगा। मैं जानती हूँ कि तुम्हें छोड़कर मुझको मुक्ति नहीं मिलेगी—भूत बनकर दीदी के सर पर सवार रहूँगी। सिन्दबाद के भूत की तरह कन्धे पर सवार हो सब काम करके तब जान छोड़ूँगी।'

कमललता ने कहा, 'तुम्हारे मरने की जरूरत नही बहन, मैं तुम्हें कन्धे पर बिठाकर हर समय घूमती नहीं फिर सकूँगी।'

सवेरे चाय पीकर गौहर की खोज मे निकला। कमललता ने आकर कहा, 'ज्यादा देर मत करना गुसाईं, और उसे भी साथ लिवा लाना। इधर ठाकुर भोग के लिए आज एक ब्राह्मण को पकड़ लाई हूँ। जितना गन्दा है, उतना ही आलसी। राजलक्ष्मी उसकी मदद के लिए गई है।'

कहा—'यह तुमने अच्छा नही किया। राजलक्ष्मी को तो भोजन नसीब होगा, लेकिन तुम्हारे ठाकुर उपवासी रहेंगे।'

कमललता ने ओभ काटकर कहा—'ऐसा मत कहो गुसाईं। सुन लेगी, तो यहाँ वह पानी तक न पियेगी।'

मैंने हँसकर कहा—'चौबीस घण्टे भी नहीं बीते, लेकिन तुमने उसे पहचान लिया कमललता।'

उसने भी हँसकर कहा—'हाँ पहचान लिया। लाखों में ऐसी एक ढूँढ़े न मिलेगी। तुम्हीं भाग्यवान हो।'

गौहर से भेंट न हुई। घर पर नहीं था। मुराम ग्राम में उसकी एक ममेरी बहन रहती है, नवीन ने कहा, वहाँ जाने कौन-सी बीमारी फैली। लोग बेहिसाब मर रहे हैं। गरीबिन बाल-बच्चों के साथ सकट में पड़ गई है। गौहर उसी की देखभाल के लिए गया है। दस-बारह दिन हो गए—कोई पता नहीं। डर से नवीन सूख गया है। लेकिन उपाय नहीं सूझता। ज़ोरों से रो पड़ा। बोला, लगता है, मेरे बाबू जिन्दा नहीं हैं। मैं मूरख खेतिहर, गाँव से कभी बाहर नहीं निकला। वह स्थान कहाँ है, किधर से जाना पड़ता है, कुछ भी मालूम नहीं—वरना घर-गिरस्ती चौपट होने पर भी क्या मैं यहीं बैठा रहता! रात दिन चकरवरती की खुशामद कर रहा हूँ—मैं जमीन बेचकर सौ रुपये दूँगा, साथ चलिए। मगर वे हिलते ही नहीं। लेकिन आपसे यह भी कह देता हूँ, मेरे मालिक कहीं गुज़र गए तो घर में आग लगाकर चकरवरती को मैं जलाकर मारूँगा। और फिर उसी आग में आप भी जल मरूँगा। इतने बड़े नमकहराम को मैं जिन्दा न छोड़ूँगा।'

दिलासा देकर पूछा—'जिले का नाम जानते हो?'

नवीन ने कहा—'इतना ही सुना है कि गाँव नदिया जिले में है कहीं। स्टेशन से बैलगाड़ी पर बहुत दूर जाना पड़ता है। चकरवरती को मालूम है, कमबख्त वह भी बताना नहीं चाहता।'

नवीन पुराने चिट्ठी-पत्तर ले आया। उनसे भी कुछ पता नहीं चला। इतना ही पता चला कि उस विधवा लड़की के ब्याह की दावत में दो महीने पहले भी चक्रवर्ती ने दो सौ रुपये गौहर से वसूल किए हैं।

मूरख गौहर के पास रुपये बहुत हैं, लिहाज़ा लाचार गरीब उसे ठगेंगे ही। इसके लिए क्षोभ करना बेकार है। लेकिन इतनी बड़ी शैतानी भी कम देखने को मिलती है।

बाबू मर जाये तो उसकी बला जाए। निष्कंटक हो जाए। कर्ज उधार का

एक पैसा भी चुकाना न पड़े।

असम्भव भी नहीं। हम दोनों चक्रवर्ती के यहाँ गए। वैसा विनय, मिष्ठभाषी परन्तु सकातर आदमी संसार में दुर्लभ है। लेकिन बुढ़ापे में उसकी स्मरणशक्ति इतनी क्षीण हो गई कि उसे कुछ भी याद न आया, जिले का नाम तक नहीं। मुश्किल से एक टाइम-टेबल का इन्तजाम किया। उत्तर और पूर्व बंगाल के सारे स्टेशनों का नाम पढ़ गया, लेकिन हजरत स्टेशन के नाम का पहला अक्षर भी याद न कर सके। अफसोस करते हुए बोले—'लोग चीज-वस्त, रुपया-पैसा उधार माँग ले जाते हैं, मुझे याद नहीं रह पाता, वसूल भी नहीं होता। मन-ही-मन कहता हूँ, माथे के ऊपर धर्म है, इसका विचार वही करेंगे।

नवीन से और नहीं रहा गया। चीख उठा—'हाँ वही तुम्हारा विचार करेंगे और वे न करेंगे तो मैं करूँगा।'

चक्रवर्ती स्नेह-सने मधुर स्वर में बोले, नवीन, नाहक गुस्सा क्यों होते हो भैया! तीन काल तो गुजरा, एक बाकी बच रहा है। मुझसे बनता तो क्या इतना भी नहीं करता? वह तो मेरे लड़के जैसा ही है।'

नवीन ने कहा—'मैं यह सब नहीं जानता। आखिरी बार कह रहा हूँ, मुझे बाबू के पास ले चलो, नहीं तो अगर उनका कोई बुरा समाचार मिला तो तुम हो कि मैं हूँ।'

जवाब में चक्रवर्ती ने अपना कपाल ठोककर कहा—'नसीब की बात नवीन, नसीब की! नहीं तो, तू मुझे ऐसा कहता!'

लाचार हम दोनों लौट पड़े। दरवाजे पर कुछ देर खड़ा रहा, शायद अनुतप्त चक्रवर्ती फिर से बुलाएँ। लेकिन ऐसा कोई लक्षण न दीखा। दरवाजे की दरार में से झाँककर देखा, वह चिलम की राख फेंककर बड़े ध्यान से उसे ताजा कर रहा है।

गौहर को ढूंढ़ने का उपाय सोचते हुए लौटकर जब अखाड़े में आया तो दिन के तीन बज चुके थे। ठाकुर-घर के बरामदे पर औरतों की भीड़। पुरुषों में से किसी का पता नहीं, सम्भवतः भरपूर प्रसाद-सेवा के परिश्रम से पस्त होकर कहीं सो रहे हों। रात में वह लड़ाई और एक बार लड़नी है। अतः सबका जरूरी है।

झाँककर देखा, बीच में एक ज्योतिषीजी बैठे हैं—पोथी-पत्रा, खड़िया-

पटिया, गणना के सभी साज-सरजाम। मुझ पर सबसे पहले नजर पद्मा की पड़ी। वह चिल्ला उठी—'नये गुसाईं आ गए।'

कमललता बोली—'मैं जानती थी कि गौहर गुसाईं तुम्हें यों ही छोड़ने वाला नहीं। क्या पाया···'

राजलक्ष्मी ने उसका मुँह दबा लिया। कहा—'छोड़ो भी दीदी, जरूरत नहीं पूछने की।'

कमललता ने मुँह पर से उसका हाथ हटाते हुए कहा—'धूप से चेहरा सूख गया है, दुनिया भर की धूल भर गई है माथे में—स्नान हो चुका ?'

राजलक्ष्मी बोली—'तेल तो ये छूते ही नहीं। स्नान कर भी चुके हों, तो पता नहीं चलेगा।'

'नवीन ने कोशिश में कुछ उठा नहीं रक्खा, लेकिन मैंने उसकी सुनी नहीं। नहाए-खाए बिना ही लौट आया।'

राजलक्ष्मी ने बड़ी खुशी के साथ कहा—'ज्योतिषीजी कह रहे हैं, मैं राजरानी होऊँगी।'

'क्या दिया ?'

पद्मा ने कहा—'पाँच रुपये।'

मैंने हँसकर कहा—'इतना मुझे देतीं तो मैं इससे अच्छा बताता।'

ज्योतिषी उड़िया था। मजे से बंगला बोल लेता था—बगाली ही कह लीजिए। वह बोला—'जी नहीं, रुपये के लिए नहीं। रुपये मैं बहुत कमा लेता हूँ। वास्तव में, इतना अच्छा हाथ मैंने देखा नहीं। देखिएगा, मेरा कहा कभी झूठ न होगा।'

पूछा—'बिना हाथ देखे भी कुछ कह सकते हैं ?'

'जरूर। लीजिए किसी फूल का नाम।'

मैंने कहा—'सेमल फूल।'

वह हँसकर बोला—'वही सही। उसी से बता दूँगा कि आप क्या चाहते हैं।' इतना कहकर उसने क्या कुछ जोड़ा-घटाया और कहा—'आप कोई खबर पाना चाहते हैं।'

'खबर ?'

मेरी तरफ देखकर वह बोला—'जी हाँ। खबर कुछ मामले-मुकदमे की नहीं,

'किसी आदमी को।'

'आप बता सकते हैं?'

'हाँ। कोई चिन्ता की बात नहीं। दो-एक ही दिन में उसका पता चलेगा।' सुनकर मन-ही-मन जरा चकित हुआ। मेरे चेहरे से सबने यह अनुमान किया।

राजलक्ष्मी खुश होकर बोली—'देखा? मैं कह रही हूँ कि ये बहुत सही बता सकते हैं, मगर तुम्हें यकीन नहीं। हँसकर उड़ा देते हो।'

कमललता बोली—'नहीं-नहीं, अविश्वास कैसा? नये गुसाईं, दिखाओ तो अपना हाथ जरा।'

मैंने हथेली पसारी। ज्योतिषी ने उसे अपने हाथों में लेकर दो मिनट खूब गौर से देखा। उसके बाद हिसाब लगाकर बोला—'आपकी ग्रह दशा तो बड़ी खराब है? कुछ बुरा होने वाला है।

'बुरा? कब।'

'बहुत जल्दी। जीवन-मरण का प्रश्न।'

देखा, राजलक्ष्मी के चेहरे पर खून नहीं है—मारे डर के सफेद हो गया है।

मेरी हथेली छोड़कर ज्योतिषी ने राजलक्ष्मी से कहा—'माँजी, जरा आपका हाथ फिर से देख लूँ।'

'रहने दीजिए। मेरा हाथ न देखना होगा। हो चुका।'

राजलक्ष्मी का यह भावान्तर बहुत साफ था। होशियार ज्योतिषी ने यह ताड़ लिया। समझ गया कि उसके हिसाब में गलती नहीं हुई है। बोला—'मैं तो मात्र दर्पण हूँ माँजी, जो छाया पड़ेगी, वो मैं कहूँगा। लेकिन दुष्ट ग्रह को भी शान्त किया जा सकता है, उसको भी किया है—महज दस-बीस रुपये का खर्च।'

'आप हमारे कलकत्ते के डेरे पर चल सकते हैं?'

'क्यों नहीं। ले चलें तो जरूर जा सकता हूँ।'

'अच्छा।'

मैंने देखा, राजलक्ष्मी को ग्रह के कोप पर पूरा विश्वास है, लेकिन उसे प्रसन्न करने के बारे में काफी सन्देह है।

कमललता बोली—'चलो गुसाईं चाय बना दूँ। पीने का समय हो गया।'

राजलक्ष्मी बोली—'चाय मैं बना लाती हूँ दीदी, तुम जरा उनके बैठने की जगह ठीक कर दो। रतन से कह दो, तम्बाकू दे जाए। बस मैं तो उनकी छाया

के भी दर्शन नहीं।'

बाकी सब ज्योतिषी को घेरे रहो। हम लोग चल दिए।

दक्षिण की ओर के खुले बरामदे पर मेरी खाट थी। रतन उसे सँवार गया। चिलम दी। हाथ-पाँव धोने को पानी रख गया। कल से बेचारे को साँस लेने की फुर्सत नहीं है और मालकिन कह गईं कि उसकी छाया के भी दर्शन नहीं। मेरा बुरा वक्त करीब था, लेकिन रतन से कहने पर वह जरूर कहता, जी, बुरा वक्त आपका नहीं मेरा है।

कमललता नीचे बैठकर गौहर का समाचार पूछ रही थी। राजलक्ष्मी चाय लेकर आई। चेहरा गम्भीर। सामने की तिपाई पर प्याला रखकर कहा—'देखो, तुमसे हजार बार कह चुकी हूँ कि जंगल-झाड़ियों में न घूमा करो—मुसीबत को कितनी देर लग सकती है? गले में आँचल डालकर तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मेरा कहा मानो।'

चाय बनाते हुए राजलक्ष्मी ने सोचकर शायद यही तय किया था। ज्योतिषी के बहुत जल्दी कहने का क्या अर्थ हो सकता है?

कमललता ने अचम्भे से कहा—'गुसाईं जंगल-झाड़ी में कब गये भला?'

राजलक्ष्मी बोली—'कब गए, इसका मैं पहरा थोड़े ही देती हूँ। मुझे क्या और काम-काज नहीं है?'

मैंने कहा—'उसने देखा नहीं है, अनुमान है। यह कमबख्त ज्योतिषी तो खूब मुसीबत में डाल गया।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'ज्योतिषी का क्या कसूर। वह जो देखेगा, वही कहेगा न? संसार में ऐसा होता नहीं क्या? मुसीबत किसी पर नहीं आती?'

ऐसे सवालों का जवाब देना बेकार है। कमललता ने भी राजलक्ष्मी को पहचान लिया है। वह भी चुप रही।

चाय का प्याला जैसे ही उठाया कि राजलक्ष्मी बोली—'कुछ फल और मिठाई ला दूँ?'

मैंने कहा—'नहीं।'

'नहीं क्यों? नहीं के सिवा हाँ कहना तुम्हें भगवान ने दिया ही नहीं?' फिर मेरे चेहरे को देखकर बहुत ही उद्विग्न होकर पूछा—'तुम्हारी आँखें इतनी लाल क्यों लग रही हैं? नदी के सड़े पानी में तो नहीं नहा आए?'

'नहीं। आज स्नान ही नहीं किया।'

'वहाँ खाया क्या?'

'खाया भी नहीं। खाने की इच्छा ही नहीं हुई।'

जाने क्या सोचकर उसने मेरे कपाल पर हाथ रखा, फिर वही हाथ उसने कुर्ते के अन्दर से छाती पर डाला और कहा, 'जो सोचा, वही निकला। कमल दीदी, देखो तो, बदन इनका तप रहा है न?'

कमललता व्यग्र होकर आई नहीं, वहीं से बोली—'जरा गर्म ही हो तो क्या हुआ राजू?'

नामकरण में वह पटु है। यह नया नाम मैंने भी सुना।

राजलक्ष्मी ने कहा—'उसका मतलब है कि बुखार आ गया दीदी।'

कमललता ने कहा—'बुखार ही आ गया तो क्या, यहाँ पानी में तो हो नहीं। हमारे पास आए हो, व्यवस्था हम करेंगे। तुम लोग चिन्ता मत करो।'

अपनी इस असामयिक व्याकुलता पर दूसरे के शान्त स्थिर स्वर से वह शान्त हुई। लज्जित होकर बोली—'तो यह कहो। असल में एक तो यहाँ डाक्टर-वैद नहीं देख रही हूँ, दूसरे इन्हें जब कुछ होता है, तो सहज ही पिण्ड नहीं छोड़ता—बड़ा भुगतना पड़ता है। तिस पर यह कलमुँहा ज्योतिषी डरा गया—'

'डरा गया तो डरा गया।'

'नहीं-नहीं दीदी, मैंने देखा है इन लोगों की कही अच्छी बात तो नहीं फलती मगर बुरी जरूर फल जाती है।'

कमललता ने मुसकराकर कहा—'डरने की बात नहीं बहन, ऐसे में नहीं फलेगी। गुसाईं सवेरे से दौड़-धूप करते रहे, तिस पर समय से नहाना-खाना नहीं हुआ, इसी से बदन कुछ गर्म हो आया है—बस सुबह तक ठीक हो जाएगा।'

लालू की माँ ने आकर कहा—'माँजी, रसोई में महाराज आपको बुला रहे हैं।'

'आई'—कहती हुई कमललता को कृतज्ञतापूर्ण निगाह से देखकर राजलक्ष्मी चली गई।

मेरी बीमारी के बारे में कमललता ने जो कहा, वही हुआ। ठीक दूसरे ही दिन तो बुखार नहीं घटा, लेकिन दो ही एक दिन में मैं चंगा हो गया। लेकिन इससे हम दोनों की भीतरी बात का पता कमललता को चल गया तथा और भी

एक को पता चला, वे थे शायद खुद बड़े गुसाईं जी।

लौटने के दिन हमें ओट में ले जाकर कमललता ने पूछा—'गुसाईं, तुम्हें अपने ब्याह की तिथि याद है?'

देखा, पास ही एक थाली में माला और चन्दन रखा हुआ है। जवाब राजलक्ष्मी ने दिया। कहा—'उन्हें तो खाक मालूम है। मैं जानती हूँ।'

कमललता ने हँसकर कहा—'यह कैसी बात कि एक को याद है, एक को नहीं?'

राजलक्ष्मी बोली—'बहुत कम उम्र की बात है? इसीलिए। इन्हें उस समय वैसा ज्ञान नहीं था।'

'लेकिन उम्र में तो यही बड़े हैं राजू!'

'दस' बहुत बड़े! पाँच ही छः साल तो। मेरी उम्र उस समय आठ-नौ साल की थी—एक दिन इनके गले में माला डालकर मन-ही मन कहा, आज से तुम हमारे स्वामी हुए!' 'स्वामी!' यह कहकर मुझे इशारे से दिखाते हुए बोली—'लेकिन इस राक्षस ने वही खड़े-खड़े मेरी माला को खा लिया।'

कमललता ने अचरजे में पड़कर पूछा—'फूल की माला को यह खा कैसे गए?'

मैंने कहा—'फूल की नहीं, बंची के फूल की माला। वह जिसे भी देगी, वही खा लेगा।'

कमललता हँसने लगी। राजलक्ष्मी ने कहा—'लेकिन उसी समय से शुरू हुई मेरी दुर्गति। मैं इन्हें खो बैठी—इसके बाद की बात जानना हो न चाहो दीदी—लेकिन लोग सोचते हैं, वह भी नहीं—लोग तो जाने कितनी ही बातें सोचते हैं। रोती-पीटती क्यों इन्हें ढूँढती फिरी, उसके बाद देवता की दया हुई। एक दिन जिस प्रकार उन्होंने इन्हें मुझसे छीन लिया था, फिर एक दिन उसी प्रकार मेरे हाथों सौंप दिया।'—उसने देवता के प्रति प्रणाम किया।

कमललता ने कहा—'बड़े गुसाईं ने उसी देवता का माला-चन्दन भेज दिया है। जाने के पहले तुम एक दूसरे को पहना जाओ।'

राजलक्ष्मी ने हाथ जोड़कर कहा—'इनकी इच्छा की यही जानें लेकिन मुझको यह आदेश मत दो। मैं तो आँख बन्द करने पर आज भी इनके किशोर गले में अपनी वह लाल माला झूलती हुई देख पाती हूँ। देवता की दी हुई मेरी वही माला सदा रहे।'

मैंने कहा—'लेकिन उस माला को तो मैं खा गया था।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'हाँ राक्षस जी—अब मुझे भी खा लो।' यह कहकर उसने चन्दन के कटोरे में सारी अंगुलियाँ बोर दीं और उन्हीं अंगुलियों से मेरे कपाल पर छाप लगा दी।

□

द्वारकादास के कमरे में गए उनसे मिलने। वे कोई ग्रन्थ पढ़ रहे थे। सादर बोले—'आओ भाई, बैठो।'

नीचे फर्श पर बैठकर राजलक्ष्मी बोली—'बैठने का अब समय नहीं है गुसाईं। बड़ा उत्पात मचाया। जाने से पहले आपसे क्षमा-याचना करने आई।'

गुसाईं जी बोले—'हम ठहरे वैरागी, हम ले ही सकते हैं, दे नहीं सकते। मगर यह तो बताओ दीदी, फिर कब उत्पात मचाने आओगी? आश्रम में तो आज अँधेरा हो जाएगा।'

कमललता बोली—'बिल्कुल सच। ऐसा ही लगता है कि आज कहीं बत्ती नहीं जली। सब अँधेरा है।'

बड़े गुसाईं ने कहा—गीत, हँसी, किलक से ये कुछ दिन ऐसे लग रहे थे कि चारों ओर बिजली की बत्तियाँ जल रही हैं—ऐसा और कभी नहीं हुआ। मुझसे बोले—'कमललता ने तुम्हारा नाम रखा है नये गुसाईं, और मैंने उनका नाम रखा आनन्दमयी।'

मुझे उनके उच्छ्वास में बाधा देनी पड़ी। कहा—'बड़े गुसाईं, बिजली की रोशनी ही हमें दिखाई दी, लेकिन जिनके कानों उसकी कड़क पहुँची, उनसे पूछ देखो। कम-से-कम रतन की राय · ' रतन पीछे खड़ा था, भाग गया।

राजलक्ष्मी ने कहा—'आप इनकी न सुनें। ये दिन-रात मुझसे जलते हैं। मेरी ओर देखते हुए कहा, अब आइन्दा जब आऊँगी तो बात-बात में बीमार पड़ जाने वाले को घर में बन्द करके आऊँगी। इनके मारे कहीं दो दिन भी चैन नहीं मिलता मुझे।'

बड़े गुसाईं ने कहा—'नहीं कर सकोगी। वैसा आनन्दमयी, नहीं कर सकोगी। इन्हें बन्द करके नहीं आ सकोगी।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'जरूर बन्द कर सकूँगी। कभी-कभी इच्छा होती है कि मैं जल्द ही मर जाऊँ।'

बड़े गुसाईं ने कहा—'यह इच्छा तो वृन्दावन में कभी उन्होंने भी प्रकट की

थी, लेकिन उनसे मनर नहीं मरते। भला तुम्हें वह पद याद नहीं—'सखि मैं कान्हा को दे किसे जाऊँगी, वे कान्हा की सेवा का जानतो क्या हैं'

कहते कहते बड़े गुसाईं अनमने-से हो गए। बोले—'सच्चे प्रेम को हम सब जानते ही कितना हैं ? छल मे अपने को सिर्फ भुलाए रहते हैं, और क्या ! लेकिन तुमने जाना है। तभी तो कहता हूँ, तुम यह प्रेम जिस दिन कृष्ण को अर्पित करोगी '

राजलक्ष्मी यह सुनकर सिहर उठी। झट बाधा देकर बोली—'ऐसा आशीर्वाद तो न दीजिए गुसाईं—ऐसा जिसमें न हो नसीब मे। बल्कि यह आशीर्वाद दीजिए कि इन्हें छोडकर हँसते-खेलते किसी दिन मर जाऊँ।'

कमललता ने बात को सम्हाल लेने के लिए कहा—'बड़े गुसाईं तुम्हारे प्रेम के बारे मे ही कह रहे हैं राजू, और कुछ नहीं।'

मैं भी समझ गया था। द्वारकादास हर पल दूसरे ही भाव मे विभोर रहते हैं। उनके विचार की धारा सहसा दूसरी तरफ बह गई थी।

राजलक्ष्मी उदास हो बोली—'एक तो इनकी सेहत ऐसी, तिस पर कोई-न-कोई बीमारी हरदम लगी हुई—जिद्दी आदमी, किसी की बात मानते नहीं—मैं किस सकते मे दिन बिताती हूँ, यह मैं किसे बताऊँ दीदी।'

अब मैं मन-ही-मन उद्विग्न हो उठा। जाते-जाते वक्त ऊँट किस करवट बैठ जाए, पता नहीं। जानता हूँ, काशी से मुझे उपेक्षा के साथ विदाई देने की जो आत्मग्लानि इस बार राजलक्ष्मी साथ लाई है, उसके कारण किसी अनजान दण्ड की आशंका लाख हास-परिहास मे भी नहीं जा रही। उसी को दूर करने की गर्ज से कहा—'मेरे कमजोर शरीर की निन्दा चाहे जितनी करो तुम, इसका लेकिन विनाश नहीं। यह निश्चित जानो, तुम जब तक नहीं मर जाती, मैं मरने वाला नहीं '

बात को उसने खत्म भी नहीं करने दिया। लप् से मेरे हाथ को पकड़कर वह बोल उठी—'तो इन सबके सामने मेरे बदन पर हाथ रखकर तुम वचन दो कि यह कभी झूठ न होगा।'—कहते-कहते उमड़े हुए आँसू उसकी आँखों से छलक आए।

सभी अवाक् हो गए। इस पर शर्म से झट मेरा हाथ छोड़ वह जबर्दस्ती हँसते हुए बोली—'उस मुँहजले ज्योतिषी ने खामखा मुझे इस कदर डरा दिया है कि '

यह बात भी वह पूरी न कर सकी। चेहरे पर हँसी और लज्जा के होते हुए

भी आँसू की दो बूँदें उसके गाल पर ढुलक पड़ीं।

फिर एक बार सबसे अलग-अलग विदाई ली गई। बड़े गुसाईं ने वचन दिया कि अब कलकत्ता जाना हुआ तो हमारे डेरे पर पधारेंगे और पद्मा ने कभी शहर नहीं देखा है, उसे भी साथ ले जाएँगे।

स्टेशन पहुँचकर सबसे पहले नजर पड़ी उस मुँहजले ज्योतिषी पर। प्लेटफार्म पर कम्बल बिछाकर जमकर बैठा था। आसपास भीड़ जमी थी।

पूछा—'यह भी साथ चलेगा क्या ?'

राजलक्ष्मी ने मुँह फेरकर अपनी सलज्ज हँसी छिपाई, लेकिन गर्दन हिलाकर बताया— हाँ चलेगा।'

मैंने कहा—'नहीं, यह नहीं चलेगा।'

'भला न हो चाहे, बुरा न होगा कुछ। चलने दो साथ।'

मैंने कहा—'भला-बुरा जो हो, यह नहीं जाएगा। उसको कुछ देना-लेना हो तो यहीं देकर उसे लौटा दो। ग्रह शान्त करने की क्षमता और साधुता उसमें हो, तो यह काम वह तुम्हारे पीछे ही करे।'

'खैर यही कह देती हूँ।' उसने रतन से उसे बुलवाया। क्या दिया, नहीं मालूम, किन्तु ज्योतिषी बहुत बार सिर हिलाकर बहुत-बहुत आशीर्वाद देते हुए विदा हुआ।

थोड़ी ही देर में गाड़ी आई। हम भी कलकत्ते चल पड़े।

बारह

राजलक्ष्मी के पूछने पर आखिर मुझे अपने आय-व्यय का वृत्तान्त बताना पड़ा—'हमारे बर्मा कार्यालय के एक बड़े साहब ने घुड़दौड़ में सर्वस्व गँवाकर मेरी पूँजी उधार ली थी। उन्होंने साथ ही यह कहा था कि न केवल सूद, अगर मुझे लाभ हुआ तो मुनाफे का भी आधा दूँगा। इधर मैंने कलकत्ते से उनसे रुपये माँगे। उन्होंने कर्ज का चौगुना मुझे दिया। बस यही अपना सम्बल है।'

'वह है कितना ?'

'मेरे लिए बहुत है, तुम्हारे लिए निहायत तुच्छ।'

'सुनूँ भी, कितना है ?'

'सात-आठ हजार।'

'ये रुपये मुझे देने पड़ेंगे।'

भयभीत होकर कहा—'सो क्या! लक्ष्मी तो दान ही करती हैं, हाथ भी फैलाती हैं क्या?'

राजलक्ष्मी ने हँसकर कहा—'लक्ष्मी को अपव्यय बर्दाश्त नहीं। उन्हें सन्यासी फकीर का भरोसा नहीं, क्योंकि वे अयोग्य होते हैं।'

'क्या करोगी?'

'अन्न-वस्त्र का उपाय करूँगी, और क्या। अब से यही मेरे जीने का मूल-धन होगा।'

'लेकिन इसी मूलधन से कैसे चलेगा? यह तो तुम्हारे दासी नौकर के पन्द्रह दिन के वेतन को भी पूरा न पड़ेगा—ऊपर से गुरु-पुरोहित हैं, तैंतीस करोड़ देवी-देवता हैं, बहुतेरी विधवाओं का भरण-पोषण है—उनका क्या होगा?'

'उनकी चिन्ता नहीं—उनका मुँह बन्द न होगा। मैं अपने ही भरण-पोषण की सोच रही हूँ, समझे?'

मैंने कहा—'समझा। अब से किसी बहाने अपने को भुलाए रखना चाहती हो, यही तो?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'नहीं। यह नहीं। वे रुपये दूसरे काम के लिए रहे, अब से जो तुमसे माँग कर लूँगी, वही मेरी भविष्य की पूँजी होगी। बनेगी तो खाऊँगी नहीं तो उपासी रहूँगी।'

'लगता है तुम्हारे नसीब में यही बदा है।'

'क्या बदा है उपवास?'—वह हँसकर बोली—'तुम इस पूँजी को निहायत मामूली समझ रहे हो, मगर मामूली पूँजी को बढ़ा लेने की अक्ल मुझे आती है। कभी तुम्हें मालूम होगा कि मेरे धन के बारे में तुम लोगों का जो अनुमान है, वह गलत है।'

'तो यह बात अब तक बताई क्यों नहीं थी?'

'बताई इसलिए नहीं थी कि यकीन नहीं करोगे। मेरे रुपये घृणा से तुम छूते नहीं, तुम्हारी इस वितृष्णा से मेरी छाती टूक-टूक हो जाती है।'

दुखित होकर—'आज एकाएक यह सब क्यों कह रही हो लक्ष्मी?'

मेरे मुँह की ओर कुछ देर देखती रही, उसके बाद वह बोली—'तुम्हें आज

सहसा यह बात कैसी लगेगी, लेकिन मेरी तो आठों पहर की यही चिन्ता है। तुम क्या सोचते हो, पाप के रास्ते कमाए रुपयों से मैं ठाकुर-देवता की सेवा करती हूँ ? उसका एक रुपया भी तुम्हारे इलाज में लगाती तो क्या तुम्हें बचा पाती मैं ? ईश्वर मुझसे तुमको छीन लेते। मैं तुम्हारी ही हूँ, इस पर तुम विश्वास क्यों नहीं करते हो ?'

'करता तो हूँ।'

'नहीं, नहीं करते।'

उसके इस प्रतिवाद का मतलब नहीं समझा। वह कहने लगी—'कमललता से तुम्हारी जान-पहचान महज दो दिन की है, फिर भी तुमने उसकी सारी कहानी ध्यान से सुनी। तुमसे उसकी सारी बाधा दूर हुई—वह मुक्त हो गई। लेकिन मुझसे तुमने कभी कुछ नहीं पूछा, कभी यह नहीं कहा कि लक्ष्मी, अपना सारा किस्सा मुझे खोलकर कहो। क्यों नहीं पूछा ? नहीं पूछा डर से। तुम मुझ पर विश्वास नहीं करते, विश्वास नहीं करते अपने पर।'

मैंने कहा— मैंने पूछा उससे भी नहीं—जानना भी नहीं चाहा। उसने जबर्दस्ती सुनाया।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'फिर भी, सुना तो ? वह बिरानी है। उसका वृत्तान्त नहीं सुनना चाहा, क्योंकि जरूरत नहीं है। मुझे भी क्या वही समझते हो ?'

'नहीं। लेकिन तुम कमललता की जैसी हो क्या ? उसने जो किया, वही तुम्हें भी करना चाहिए ?'

'मैं इन बातों से नहीं भूल सकती। मेरी सभी बात तुम्हें सुननी ही पड़ेगी।'

'अजीब मुसीबत है ! मैं सुनना नहीं चाहता, तो भी सुननी ही पड़ेगी।'

'हाँ पड़ेगी। तुम्हें शायद यह चिन्ता है कि सुनने से मुझे फिर प्यार नहीं कर सकोगे, शायद हो कि मुझे ठुकराना पड़े।'

'तुम्हारे खयाल से यह निहायत मामूली बात है ?'

राजलक्ष्मी हँस पड़ी। बोली—'नहीं, तुम्हें सुननी ही पड़ेगी। तुम पुरुष हो। तुम्हें इतना भी आत्मबल नहीं कि उचित समझो तो मुझे दूर हटा दो ?'

अपनी यह असमर्थता साफ कबूल करके मैंने कहा—'तुम जिन आत्मबल वाले पुरुषों का जिक्र करके मुझे नीचा दिखा रही हो, वे वीर हैं, प्रणाम करने योग्य हैं। मुझमें उनके चरणों की धूल बराबर योग्यता नहीं। तुम्हें अलग करके मैं एक दिन भी नहीं टिक सकूँगा। शायद उलटे पाँवों तुम्हें वापस बुलाने को दौड़ना पड़े

और तब कहीं तुम ना कह बैठो तो मेरी दुर्गति का अन्त न रहेगा।'

राजलक्ष्मी ने पूछा—'तुम्हें मालूम है; छुटपन में माँ ने मुझे एक मैथिल राजपुत्र के हाथों बेच दिया था?'

'हाँ, एक दूसरे राजपुत्र से यह किस्सा सुना था। वह मेरा दोस्त था।'

राजलक्ष्मी बोली—'हाँ, वह तुम्हारे दोस्त का ही दोस्त था। मैंने गुस्सा होकर माँ को रुखसत कर दिया। वे गाँव लौट गईं और सबसे यही कहा कि मैं मर गई। यह तो सुना था?'

'हाँ, सुना था।'

'सुनकर तुमने क्या सोचा?'

'सोचा, आह, बेचारी लक्ष्मी मर गई।'

'बस, और कुछ नहीं?'

'हाँ यह भी सोचा कि चलो, काशी में मरी। सद्गति हुई, आह!'

राजलक्ष्मी नाराज हुई। बोली—'झूठ-मूठ आह-आह करके अफसोस जाहिर करने की जरूरत नहीं। मैं कसम खाकर कहती हूँ कि तुमने एक बार भी आह नहीं की। कहो तो मेरा बदन छूकर।'

मैंने कहा—'जमाने की बात है। भला ठीक से याद रह सकती है, लेकिन लगता है कि आह की थी।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'रहने दो, तकलीफ करके उतने दिनों की बात याद करने की जरूरत नहीं। मैं सब जानती हूँ।' इतना कहकर वह जरा रुकी, फिर कहा—'और मैं? मैं आठों पहर रो-रोकर विश्वनाथ से फरियाद करती, भगवन्, यह क्या किया तुमने? तुम्हें साक्षी रखकर मैंने जिसके गले माला डाली थी, उनसे क्या जीवन में मेरी कभी भेंट न होगी? ऐसी अछूत-सी ही रहूँगी आजीवन? सब की बात याद करके मुझे आज भी आत्महत्या करने को जी चाहता है।'

उसकी ओर ताककर क्लेश हुआ, लेकिन मेरी मनाही वह मानेगी नहीं—इसलिए चुप हो रहा।

इन बातों को वह मन में जाने कितने दिन कितने प्रकार से मथती रही है, अपने अपराध से बोझिल हृदय लिए चुपचाप कितनी मार्मिक यंत्रणा भोगती रही है, फिर भी कहने का भरोसा नहीं कर सकी, जाने क्या करते क्या हो जाए!

अब मन में शक्ति संचय करके वह कमललता के पास आई है। अपने छिपे पाप को उघार कर वैष्णवों ने मुक्ति पाई—राजलक्ष्मी भी आज भय और झूठी मर्यादा की जंजीर तोड़कर उसी जैसी सहज होना चाहती है, भाग्य में उसके चाहे जो भी बदा हो। यह अकल कमललता ने दी। संसार में महज एक के पास ही जो दर्पिता नारी झुककर अपने दुख के समाधान की भीख मांग रही है, निश्चित रूप से ऐसा अनुभव करके मन को भारी तृप्ति हुई।

दोनों कुछ देर चुप रहे। एकाएक राजलक्ष्मी बोल उठी—'राजकुमार अचानक चल बसा, लेकिन माँ ने मुझे फिर बेचने का षड्यन्त्र किया।'

'अबकी किसके हाथ?'

'एक-दूसरे राजकुमार के हाथ। तुम्हारे मित्र-रत्न, जिनके साथ शिकार खेलने गए थे—क्यों याद नहीं है?'

कहा—'शायद नहीं है। बहुत दिनों की बात है न? खैर, फिर?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'माँ की यह साजिश कारगर न हुई। मैंने उनसे कहा, तुम घर लौट जाओ। माँ ने कहा उससे हजार रुपये ले जो चुकी हूँ! मैंने कहा, उसे लेकर तुम चल दो। जैसे भी होगा, वह रुपया मैं चुका दूँगी। तुम अगर रात की ही गाड़ी से चल दोगी तो तड़के ही मैं गंगा की गोद में अपने आपको बेच दूँगी। मुझे तो तुम पहचानती हो, मैं झूठा भय नहीं दिखा रही हूँ। वे चली गई। उन्हीं से मेरे मरने का समाचार सुनकर तुमने कहा था, आह मर गई!—यह आप ही जरा हँसी और बोली—'सच हो तो तुम्हारे मुँह की आह मेरे लिए बहुत है! लेकिन अब, जब मैं वास्तव में मरूँगी तो दो बूँद आँसू भी बहाना। कहना, संसार में बहुतेरी वर-वधुओं ने माला बदली है, उनके प्रेम से पृथ्वी पवित्र और परिपूर्ण है, लेकिन तुम्हारी कुलटा राजलक्ष्मी ने अपने नौ साल के किशोर वर को जिस गहराई से जितना प्यार किया है, संसार में उतना प्यार कभी किसी ने नहीं किया।'

'अरे, तुम रो रही हो!'

आँचल से उसने आँसू पोंछ लिया। बोली—'एक असहाय बच्ची पर उसके आत्मीय स्वजन ने जितना अत्याचार किया है, तुम क्या समझते हो, अन्तर्यामी भगवान ने देखा नहीं है? वे आँखें बन्द ही किए रहेंगे, विचार नहीं करेंगे?'

मैंने कहा—'आँखें बन्द किए तो नहीं रहना चाहिए। लेकिन उसकी बात

तुम लोग ही ज्यादा ठीक जानती हो। मुझ जैसे पाखण्डी की राय ये कभी नहीं लेते।'

राजलक्ष्मी बोली—'बस मजाक!' लेकिन तुरन्त गम्भीर होकर बोली—'अच्छा लोग कहते हैं, स्त्री-पुरुष का धर्म एक न हो तो नहीं चल सकता। लेकिन धर्म-कर्म के मामले में मेरा-तुम्हारा सम्बन्ध तो साँप और नेवले का-सा है। ऐसे में हमारा काम चलेगा कैसे?'

'चलेगा साँप और नेवले जैसा। आज दिन किसी को जान से मार डालने में झमेला है, इसलिए आज कोई किसी को मारता नहीं है—वह निर्दयी की नाईं उसे दूर कर देता है, जब उसे यह आशंका होती है कि उसकी धर्म-साधना में विघ्न हो रहा है।'

'उसके बाद क्या होता है?'

हँसकर कहा—'उसके बाद यह आप ही रो-रोकर लौट आता है। नाक मलकर कहता है, मुझे काफी सबक मिल चुका, जीवन में ऐसी भूल फिर कभी नहीं करूँगा—आज आया मैं जप-तप से, गुरु-पुरोहित रहें अपने, मुझे माफ करो।'

राजलक्ष्मी हँसी। पूछा—'क्षमा मिलती है न?'

'मिलती है। लेकिन, तुम्हारी कहानी का क्या?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'कहती हूँ।' वह जरा देर मुझे एकटक देखती रही। फिर कहा—'माँ लौट गई। मुझे एक बूढ़े उस्ताद गाना-बजाना सिखाया करते थे। बंगाली थे। कभी सन्यासी थे, गृहस्थ हो गए थे। घर में उनके मुसलमान स्त्री थी। मुझे नाच सिखाने आते थे। मैं उन्हें दादाजी कहती थी। आदमी वास्तव में बड़े सज्जन थे। रोकर मैंने उनसे कहा—'मुझे आप माफ करें दादाजी, मैं अब यह सब नहीं सीख सकूँगी। गरीब थे बेचारे। सहसा साहस न कर सके। मैंने कहा, मेरे पास जो पूँजी है, उससे हमारे काफी दिन निकल जाएँगे। उसके बाद जो होगा नसीब में, होगा। चलिए, हम भाग चलें। उसके बाद उन लोगों के साथ बहुत घूमी—इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा, दिल्ली, जयपुर, मथुरा—अन्त में शरण ली आकर पटने में। आधे रुपये एक महाजन की गद्दी में जमा कर दिए और आधे रुपये से एक मनिहारी और एक कपड़े की दुकान खोल ली। मकान खरीदा। बंकू को बुलाकर उसे स्कूल में दाखिल कराया और रोजी-रोटी के लिए जो करती थी, उसे तो तुमने अपनी ही आँखों देखा।'

उसकी कहानी सुनकर कुछ देर स्तब्ध हो रहा। कहा—'क्योंकि तुम कह रही हो, इसलिए अविश्वास नहीं होता—और कोई होती, तो लगता, एक गढ़ी हुई कहानी सुन रहा हूँ।'

राजलक्ष्मी बोली—'तो क्या मैं झूठ नहीं कह सकती ?'

मैं बोला—'कह सकती होगी, लेकिन मुझसे आज तक नहीं कहा है। ऐसा ही मेरा विश्वास है।'

'क्यों है ऐसा विश्वास ?'

'क्यों ! तुम्हें डर है, मक्कारी से कहीं देवता रुष्ट हो और तुम्हें उसकी सजा देने में कहीं मेरा अमंगल करें।'

'तुम मेरे मन की बात जानते ही कैसे हो ?'

'इसलिए कि दिन-रात की चिन्ता यही है, लेकिन तुम्हारी तो ऐसी नहीं—हो, तो खुशी होगी ?'

राजलक्ष्मी ने सिर हिलाकर कहा—'नहीं। मैं तुम्हारी दासी हूँ। दासी को दासी से ज्यादा न सोचो, मैं यही चाहती हूँ।'

जवाब में कहा—'तुम उसी युग की रह गई यही हजार बरस पुराना युग।'

राजलक्ष्मी बोली—'कामना करती हूँ, मैं वही हो सकूँ, सदा वैसी ही रह सकूँ।' कुछ देर मेरी तरफ देखा। देखकर बोली—'तुम क्या समझते हो, मैंने इस युग की स्त्रियों को नहीं देखा है ? बहुत देखा है, बल्कि तुम्हीं ने नहीं देखा। और देखा भी है तो सिर्फ बाहर से। इनमें से किसी से मुझे बदल लो लो, देखती हूँ मैं कि तुम कैसे रह सकते हो ? मजाक किया कि मैंने नाक रगड़ी—बैठे में तुम नाक रगड़ते दस हाथ तक जाओगे।'

'लेकिन यह मीमांसा जब होने की नहीं तो इस पर झगड़ने से क्या लाभ ? इतना ही कह सकता हूँ कि इन पर तुमने बड़ा ही अन्याय किया है।'

राजलक्ष्मी बोली—'अन्याय किया भी हो तो बहुत बड़ा अन्याय नहीं किया, यह कह सकती हूँ। अजी गुसाईं, मैं काफी घूम चुकी हूँ, बहुत-बहुत देखा है। जहाँ तुम जाते हो, हमारी बीस आँखें वहाँ भी लगी होती हैं।'

'लेकिन वह जो देखा है, रंगीन चश्मे से देखा है। बीस आँखें बेकार हैं।'

राजलक्ष्मी ने हँसते हुए कहा—'लाचार हूँ, मेरे हाथ-पाँव बँधे हैं वरना ऐसा सबक देती कि आजिन्दगी नहीं भूल पाते। खैर। मैं उस युग की भाँति तुम्हारी

दासी ही रह सकूँ। तुम्हारी सेवा ही जिसमे मेरा सबसे बड़ा व्रत हो। तुम्हें मैं अपनी जरा भी चिन्ता नही करने दूँगी। दुनिया मे तुम्हारा बहुत काम पड़ा है, अब से तुम्हें वही करना होगा। इस अभागिन के लिए तुम्हारा बहुत समय तथा और भी बहुत कुछ गया, अब से और नष्ट नहीं करने दूँगी।'

मैंने कहा—'इसीलिए तो मैं जितनी जल्दी हो सके अपनी नौकरी मे लग जाना चाहता हूँ।'

वह बोली—'नौकरी तो तुम्हें नही करने दूँगी मैं।'

'मगर मनिहारी की दूकान भी तो मुझसे नही चलने की।'

'क्यो नहीं चलेगी?'

'पहला कारण तो यह कि चीजो की कीमत मुझे याद नही रहती और झटपट हिसाब करके बाकी पैसे लौटाना तो मेरे लिए और भी असम्भव है। दूकान तो आखिर बन्द ही होगी, खरीदारो से मारपीट की नौबत न आए तो गनीमत समझो।'

'तो फिर कपड़े की दूकान करो।'

'उससे तो बेहतर है कि जीते बाघ भालू की दूकान करा दो। वह बल्कि अच्छा होगा।'

राजलक्ष्मी हँस पड़ी। बोली—'इतनी आराधना के बाद आखिर भगवान ने मुझे एक ऐसा निकम्मा आदमी दिया, जिससे दुनिया मे कोई काम नही होने का!'

मैंने कहा—'आराधना मे त्रुटि थी। सुधार का अभी भी वक्त है। अभी भी तुम्हें कर्मठ आदमी मिल सकता है। खूब हट्टा-कट्टा, नाटा, कद्दावर जवान जिसे कोई हरा नहीं सकता, ठग नही सकता—जिस पर काम की जिम्मेदारी सौंपकर निश्चिन्त और रुपये-पैसे देकर निर्भर हुआ जा सकता है, जिस पर निगरानी नहीं रखनी होगी, भीड़ मे जिसे खो देने की चिन्ता नही—जिसे सजाने सँवारने मे तृप्ति और खिलाने मे आनन्द मिलेगा—जो हाँ के सिवाय ना कहना नही जानता…'

राजलक्ष्मी चुपचाप मेरी ओर ताक रही थी। एकाएक उसके सर्वांग के रोएँ खड़े हो उठे।

मैंने कहा—'अरे, यह क्या?'

'कुछ नही।'

'तो सिहर क्यो उठी?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'तुमने जवानी की जो तस्वीर खींची, उसका आधा भी सच हो जाए तो मैं मारे डर के मर जाऊँ।'

'लेकिन मेरे जैसे निकम्मे को लेकर भी क्या करोगी तुम?'

हँसी दबाकर वह बोली—'करूँगी क्या! भगवान को कोसती रहूँगी—भीतर ही भीतर जलकर मरती रहूँगी। इस जन्म में तो और कुछ नहीं आता।'

'मुझे मुरारीपुर के अखाड़े में क्यों नहीं भेज देतीं?'

'उन्हीं का क्या उपकार करोगे तुम?'

'उन्हें फूल तोड़कर ला दूँगा। ठाकुर के प्रसाद पर जब तक जी सकूँगा, जिऊँगा। उसके बाद उसी मौलसरी के नीचे मेरी समाधि बना देंगे। क्या छोटी है। कभी सांझ को समाधि पर दीया जला जाएगी। कभी भूल जाएगी तो दीया नहीं जलेगा। भोर को जब कमललता ढेरों फूल तोड़कर लौटेगी, तो कभी मल्लिका, कभी कुन्द के फूल बिखेर देगी उस पर। कभी कोई परिचित भूले-भटके उधर आ निकलेगी तो समाधि दिखाकर कहेगी, हमारे नये गुसाईं रहते हैं यहाँ। वह वहाँ, जहाँ जरा-सा ऊँचा लगता है, जहाँ सूखे मल्लिका-कुन्द और झरे मौलसरी के फूलों से लदा है। वहीं।'

राजलक्ष्मी की आँखों में पानी भर आया, पूछा—'वह परिचित क्या करेगी तब?'

मैंने कहा—'सो मैं नहीं जानता। हो सकता है, बहुत रुपये लगाकर कोई मन्दिर बनवा दे।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'नहीं, नहीं, नहीं बना सके। वह मौलसरी तले से जाएगी ही नहीं। पेड़ की डाल-डाल पर चिड़ियाँ कलरव करेंगी—गीत गाएँगी, झगड़ेंगी—कितने सूखे पत्ते गिराएँगी, सूखी टहनियाँ। सबको हटाकर समाधि को साफ-सुथरा रखने का काम उसका होगा। सवेरे झाड़-पोंछकर उस पर फूल की माला चढ़ाएगी, रात में जब सब सो जाएँगे तो वह वैष्णव कवि के गीत गाकर सुनाएगी और समय पर बुलाकर कहेगी, कमललता दीदी, हम दोनों की समाधि को एक कर देना। कहीं दरार न हो, अलग भी न लगे। ये रुपये लो, यहाँ पर मन्दिर बनवा देना, राधाकृष्ण की मूर्ति की प्रतिष्ठा कर देना, लेकिन कोई नाम मत लिखना, कोई चिह्न न रखना। कोई न जाने कि ये कौन थे, कहाँ से आए।'

मैंने कहा—'लक्ष्मी, तुम्हारी तस्वीर तो और भी मधुर, और भी सुन्दर हुई।'

वह बोली—'आखिर यह शब्दों की गुँथाई तो है नहीं गुसाईं—यह सच है। वहीं पर फर्क है। मैं कर सकूँगी, लेकिन तुम नहीं कर सकोगे। तुम्हारी शब्दों की बनी तस्वीर सिर्फ शब्द ही होकर रह जाएगी।'

'कैसे जाना ?'

'जानती हूँ, तुमसे ज्यादा जानती हूँ। वही तो मेरी पूजा है, वही तो मेरा ध्यान है। आह्निक के बाद पानी की अंजुली किसके चरणों में चढ़ाती हूँ ? किसके चरणों पर फूल रखती हूँ। तुम्हारे ही तो ?'

नीचे से महाराज की पुकार सुनाई दी—'माँजी, रतन नहीं है। चाय का पानी उबल गया।'

'आई।' कहती हुई आँख पोंछकर वह चली गई।

जरा ही देर में चाय का प्याला लेकर आई। प्याले को मेरे पास रखकर बोली, 'तुम्हें किताब पढ़ने का शौक है। अब पढ़ते क्यों नहीं ?'

'उससे रुपया तो नहीं मिलेगा ?'

'रुपये का क्या करना। रुपये तो हमारे पास बहुत हैं।'

जरा रुककर बोली—'ऊपर दक्खिन वाला कमरा तुम्हारा अध्ययन-कक्ष होगा। आनन्द देवरजी किताबें खरीदकर लाया करेंगे, मैं माल के मुताबिक उन्हें सजाऊँगी। उसके एक ओर मेरे सोने का कमरा होगा, दूसरी ओर ठाकुर घर। इस जन्म में मेरा त्रिभुवन यही होगा—इससे बाहर जिससे मेरी दृष्टि न जाए।'

पूछा—'और तुम्हारी रसोई ? आनन्द ठहरा सन्यासी, वहाँ नजर डाले बिना तो उसे एक भी दिन रक्खा न जा सकेगा। मगर हाँ, उसकी खोज कैसे मिली ? कब आएगा वह ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'खोज कुशारी जी ने बताई—आनन्द जल्द ही आएगा। उसके बाद सब मिलकर गंगामाटी जाएँगे, वहाँ कुछ दिन रहेंगे।'

मैंने कहा—'खैर, चलो तो वहाँ। शर्म नहीं आएगी उनसे ?'

राजलक्ष्मी होंठों में ही हँसकर बोली—'लेकिन उन्हें यह मालूम तो है नहीं कि काशी में मैंने बाल-नाक कटाकर स्वाँग बना रक्खा था ? बाल काफी बड़े हो गए और नाक भी जुड़ आई—दाग तक नहीं। फिर मेरी सारी-सारी लाज, सारा अन्याय मिटाने के लिए तुम जो मेरे साथ रहोगे।'

कुछ देर रुककर बोली—'पता चला, वह अभागिनी मालती आई है, अपने

पति को साथ ले आई है। मैं उसे एक हार बनवा दूँगी।'

कहा—'सो देना। मगर फिर कहीं सुनन्दा के पल्ले '

वह झट से बोल उठी—'नहीं, जी नहीं। वह डर नहीं रहा। वह मोह कट चुका। उफ, बाप रे बाप, ऐसी धर्म-बुद्धि दी कि दिन-रात न तो आँसू रोक पाऊँ, न खाते-सोते बने। पगली नहीं हो गई, यही गनीमत है।' इसके बाद हँसकर कहा—'तुम्हारी लक्ष्मी और चाहे जो हो, अस्थिर चित्त की नहीं है। वह जिसे सच समझ लेगी, उस पर से कोई उसे डिगा नहीं सकता।'—फिर एक क्षण चुप रही। चुप रहकर कहा—'अब मेरा सम्पूर्ण मन मानो आनन्द में डूबा हुआ है। हर समय लगता है इस जीवन का सारा कुछ पा लिया, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। अगर भगवान का निर्देश नहीं तो और क्या है? रोज पूजा करके देवता के चरणों में और कोई कामना नहीं करती। कामना यही करती हूँ कि संसार में आनन्द सबको मिले। इसीलिए तो आनन्द को बुलवा भेजा है। अब से उसके काम में थोड़ी बहुत सहायता किया करूँगी।'

मैंने कहा—'करना।'

राजलक्ष्मी अपने मन में क्या तो सोचने लगी। अचानक बोल उठी—'देखो, मैंने सुनन्दा जैसी भली, निर्लोभ और सत्यवादी कभी देखी नहीं, लेकिन जब तक विद्या का मद उसका नहीं मिटता, यह विद्या काम नहीं आएगी।'

'सुनन्दा को तो विद्या का दर्प है नहीं।'

राजलक्ष्मी बोली—'नहीं, इतर जैसा नहीं है और मेरा मतलब भी यह न था। वह श्लोक, शास्त्र की बातें, कर्म उदाहरण न जाने कितना जानती है—वही सब सुन सुनकर तो मुझे यह धारणा हो आई कि तुम मेरे कोई नहीं—हमारा सम्बन्ध झूठा है—यही विश्वास हो आया था, लेकिन भगवान ने टिहुआ पकड़कर मुझे बता दिया कि इससे बड़ी मिथ्या बात और हो नहीं सकती। लिहाजा उसकी विद्या में कहीं जरूर भूल है। इसीलिए वह किसी को सुख नहीं दे पाती, सबको दुःख ही देती है। उसकी जिठानी उससे इस मानी में बहुत बड़ी है। सीधी-सादी, लिखना-पढ़ना नहीं जानती, लेकिन मन में दया-माया है। कोई जानता भी नहीं कि कितने गरीब-दुखी परिवारों को छुप-छिपकर वह जिला रही है। कुनाई से जो निपटारा हुआ, वह सुनन्दा से हो सकता था? हर्गिज नहीं। यह काम तो उसकी जिठानी ने अपने पति के हाथ-पाँव पकड़कर किया। सुनन्दा ने सारी दुनिया के

सामने अपने जेठ को चोर बताया—यही क्या शास्त्र की सबसे बड़ी शिक्षा है ! मैं तुमसे कहे देती हूँ, उसकी पोथी वाली विद्या जब तक मनुष्य के सुख दुःख भला-बुरा, पाप-पुण्य, लोभ-मोह से सामजस्य नहीं स्थापित कर लेती तब तक तोतारटंत कर्तव्य-बोध मनुष्य को नाहक चुभता रहेगा, लोगों पर जुल्म ढाएगा, दुनिया मे किसी का भला नहीं कर सकेगा।'

उसकी बातें सुनकर दंग रह गया, पूछा—'तुमने यह सब सीखा किससे ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'पता नहीं, किससे। हो सकता है, तुमसे ही सीखा हो। तुम कुछ कहते नहीं, कुछ चाहते नहीं, किसी पर जोर-जबरदस्ती नहीं करते इसलिए तुमसे सीखना महज सीखना नहीं है, वास्तव मे पाना है। कभी अचानक यह सोचना पड़ जाता है कि आखिर यह सब आया कहाँ से ! खैर, इस बार कुशारी जी की पत्नी से घनिष्ठता करूँगी, पिछली बार उनकी उपेक्षा करके जो भूल की है, कैसे सुधारूँगी। चलोगे न गंगामाटी ?'

'और बर्मा ? मेरी नौकरी का क्या होगा ?'

'फिर नौकरी ? मैंने तो कहा, नौकरी नहीं करने दूँगी तुम्हें।'

'तुम्हारा स्वभाव भी खूब है लक्ष्मी ! तुम कहती कुछ भी नहीं, चाहती कुछ भी नहीं, किसी पर जोर-जबर्दस्ती नहीं करती—खाटी वैष्णवी की तितीक्षा का नमूना सिर्फ तुम्ही मे मिलता है।'

'तो क्या हर किसी के अपने विचार मे बाधा देनी ही पड़ेगी ? संसार मे और किसी का दुःख-सुख क्या है ही नहीं ? तुम्हीं सब हो ?'

'बिलकुल ठीक कह रही हो ! लेकिन अभया ? उसने प्लेग की परवाह न की। उसी मुसीबत मे पनाह देकर उसने मुझे बचा न लिया होता, तो आज तो तुम मुझे पा नहीं सकती थी। आज उन बेचारों का क्या हाल है, यह भी नहीं सोचना है ?'

राजलक्ष्मी सुनते ही करुणा से विगलित होकर बोली—'तो तुम रहो, आनन्द के साथ मैं बर्मा जाकर उन्हे पकड लाती हूँ। यहाँ कोई-न-कोई उपाय हो ही जाएगा।'

मैंने कहा—'ऐसा हो तो सकता है, लेकिन वह बहुत मानिनी है, मेरे गए बिना शायद न आए।'

राजलक्ष्मी बोली—'आएगी। वह समझेगी कि तुम्ही उन्हें लिवाने गए हो।

देख लेना, मेरा कहा झूठ न होगा।'

'लेकिन मुझे छोड़कर जा सकोगी?'

राजलक्ष्मी पहले तो चुप रह गई फिर सन्दिग्ध स्वर में धीरे-धीरे बोली—'यही डर है। शायद न जा सकूं। लेकिन वहां जाने से पहले, चलो न, हम लोग कुछ दिन गंगामाटी में रह लें।'

'वहां कोई खास काम है तुम्हें?'

'है कुछ। कुशारीजी को पता चला है, बगल का पोड़ामाटी गांव बिकेगा। उसे ख़रीदने की सोच रहा हूं। वहां के उस मकान को भी तुम्हारे रहने लायक बनवाना है। पिछली बार मैंने अनुभव किया, कमरे की कमी होने से तुम्हें कष्ट होता था।'

मैंने कहा—'कष्ट कमरे की कमी से नहीं, और कारण से होता था।'

राजलक्ष्मी ने जानकर ही इस बात पर ध्यान नहीं दिया। बोली—'वहां तुम्हारी सेहत ठीक रहती है। ज्यादा दिन तुम्हें शहर में रखने की हिम्मत नहीं होती—जल्द ही यहां से हटा ले जाना चाहती हूं।'

'लेकिन इस नश्वर देह के लिए रात-दिन तुम अगर इतनी परेशान रहा करोगी तो मुझे शान्ति नहीं मिलेगी लक्ष्मी!'

राजलक्ष्मी ने कहा—'उपदेश यह बड़े काम का है, लेकिन खुद ही थोड़ा सावधान रहा करो तो वास्तव में मुझे थोड़ी शान्ति मिल सकती है।'

सुनकर मैं चुप हो रहा, क्योंकि इस पर तर्क करना व्यर्थ ही नहीं, अप्रीतिकर होगा। उसकी अपनी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी है, किन्तु जिसे यह सौभाग्य नहीं, उसे भी बीमार पड़ने की नौबत आ सकती है, यह बात वह समझेगी नहीं।

मैंने कहा—'शहर में मैंने कभी नहीं रहना चाहा। गंगामाटी मुझे अच्छा ही लगा था और अपनी इच्छा से मैं वहां से आया भी नहीं, तुम आज भूल गई हो लक्ष्मी।'

'नहीं, जी नहीं। भूली नहीं हूं। जिन्दगी भर भूलूंगी भी नहीं।' यह कहकर वह ज़रा हंसी। 'उस बार तुम्हें लगता था, जाने किस अनजान स्थान में आ निकला हूं, लेकिन अबकी चलकर देखो, उसकी आकृति-प्रकृति ऐसी बदल जाएगी कि उसे अपना समझने में ज़रा भी दुविधा न होगी। न केवल घर-द्वार, इस बार सबसे पहले मैं अपने आपको बदलूंगी और तोड़-फोड़कर सबसे ज्यादा तुम्हें बदलूंगी—

अपने नये गुसाईंजी को, जिसमे कमललता तुम्हें लोक-वेलोक साथ चलने का संगी होने का दावा न कर सके।'

कहा—'सोच-सोचकर यही सब मनसूबा गाँठा है ?'

मुस्कराकर वह बोली—'हाँ। तुम्हें क्या बिना दाम के मुफ्त ही ले लूँगी, कर्ज नही चुकाऊँगी ? और मैं सच ही तुम्हारे जीवन मे आई थी, जाने के पहले क्या इसका चिह्न नही छोड जाऊँगी ? यों ही बेकार चली जाऊँगी ? यह हर्गिज न होगा।'

उसके मुखड़े को देखकर श्रद्धा और स्नेह से हृदय परिपूर्ण हो उठा। मन में सोचा, हृदय का विनिमय नर-नारी की बड़ी साधारण घटना है—दुनिया मे रोज दिन यह घटती ही रहती है—इसमे विराम नही, इसकी कोई खासियत नही; फिर यही दान और प्रतिग्रह ही व्यक्ति-विशेष के जीवन का सहारा लेकर किस अपूर्व विस्मय और सौन्दर्य से उल्लसित हो उठता है—उसकी महिमा युग-युग तक मनुष्य के मन को अभिसिक्त करके भी चुकाना नहीं चाहती। यही वह अक्षय सम्पदा है जो मनुष्य को बड़ा बनाती है, शक्तिशाली बनाती है, अनसोचे मंगल से नये सिरे से गढ़ती है।

मैंने पूछा—'बंकू का क्या करोगी तुम ?'

वह बोली—'बंकू तो अब मुझे मानता नही। सोचता है, वह बला दूर हो हो ठीक है।'

'मगर वह तुम्हारा निकट आत्मीय जो है ! तुमने उसे छुटपन से पाल-पोस कर बड़ा किया है।'

'बस, पालने-पोसने का ही नाता रहेगा, और कुछ नहीं। वह मेरा निकट आत्मीय नही।'

'नही कैसे ? इसे अस्वीकार कैसे करोगी ?'

'अस्वीकार करने की इच्छा मेरी भी नही थी।'—इतना कहकर वह जरा चुप हो गई और बोली—'मेरी सारी बातें तुम भी नही जानते। मेरे ब्याह की कहानी सुनी थी ? ...नहीं, तुम नही थे। दु.ख का ऐसा इतिहास शायद और नही और ऐसी निष्ठुरता भी कही नही हुई। पिताजी माँ को कभी लिवा नहीं गए थे, मैंने भी उन्हें कभी नही देखा। हम दोनों बहनें ननिहाल में ही पली। बचपन में बीमार रहते-रहते मेरी शक्ल क्या हुई थी, याद है न ?'

'है।'

'तो सुनो। बिना कसूर के जितनी बड़ी सजा मिली, वह सुनकर तुम्हारे जैसे बेरहम को दया आएगी। बुखार पीछा नहीं छोड़ता और मौत भी नहीं आ रही थी। मामा खुद भी बीमार—खाट से लगे। अचानक खबर मिली, दस के यहाँ का रसोइया कुलीन ब्राह्मण है। साठ के करीब उम्र। हम दोनों ही बहनों को उसी के हाथ सौंपा जाएगा। सबने कहा, यह मौका अगर हाथ से निकला तो इन दोनों का कुमारीपना कभी छूटने का नहीं। उसने सौ रुपये की माँग की। मामाजी ने पचास का मोलतोल किया। एक साथ दो को ब्याहने में मेहनत कम है। वह पचहत्तर पर उतरा। बोला, जी दो-दो बहनें कुलीन को सौंपेंगे, एक जोड़े बकरे का भी दाम नहीं देंगे? लग्न था भोर-रात में। दीदी शायद जगी। लेकिन मुझे पोटली की तरह लाकर उत्सर्ग कर दिया। सुबह होने पर बाकी पच्चीस रुपये के लिए झगड़ा शुरू हुआ। मामा ने कहा, अच्छा उधार रहा। वह बोला, जी इतना तो बेवकूफ नहीं हूँ। ऐसे कामों में बाकी-उधार नहीं चलता। सो वह कहीं दुबक गया। सोचा होगा, मामाजी खोज-ढूँढ़कर बाकी रुपये दे ही देंगे। एक दिन बीता, दो बीता, माँ रोने-पीटने लगी, टोले-मोहल्ले के लोग हँसी उड़ाने लगे, मामा ने दस परिवार में शिकायत पहुँचाई, मगर दुलहा फिर नहीं आया। उसके गाँव में खोज की गई, वह वहाँ भी नहीं गया था। हम पर ताने-फब्तियों का अन्त नहीं। दीदी घर से बाहर नहीं निकलती। बाहर वह निकली छः महीने के बाद और मौत के समान के लिए। और भी छः महीने के बाद पता चला, दुलहा भी कलकत्ते के एक होटल में था—मर गया। ब्याह पूरा हो नहीं सका।'

मैंने कहा—'पच्चीस रुपये में दुलहा खरीदने का ऐसा ही अंजाम होता है।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'उसने तो फिर भी मेरे हिस्से में पच्चीस रुपये पाए थे, तुमने कुछ पाया था क्या? महज बेंचों की एक माला—वह भी खरीदी हुई नहीं, जंगल से लाई हुई।'

मैंने कहा—'जिसका दाम नहीं, उसको अमूल्य कहते हैं। तुम ऐसे किसी और को बताओ तो जिसने मेरे जैसा अमूल्य धन पाया है?'

'अच्छा, सच बताओ तो, यह तुम्हारे मन की बात है?'

'समझ नहीं पाती?'

'नहीं जी नहीं, नहीं समझ पाती।'—कहते-कहते वह हँस पड़ी—'पाती सिर्फ

तब हूँ, जब तुम सोए होते हो, तब तुम्हारे मुखड़े को देखकर समझ पाती हूँ। खैर, छोड़ो इसे। हम दोनों बहनों जैसा दण्ड यहाँ जाने कितनी ही लड़कियों को मिलता है। और जगह कुत्ते-बिल्लियों की भी यह दुर्गति करते लोगों के कलेजे में चोट लगती है?'—इतना कहकर उसने जरा मेरी तरफ ताका और फिर बोली—'तुम शायद यह सोच रहे हो कि मैं ज्यादती कर रही हूँ—ऐसे उदाहरण कितने मिलते हैं? इसके जवाब में अगर इतना ही कहूँ कि ऐसा उदाहरण एक भी मिले तो वह देश का कलंक है, तो भी चल जाता। मगर वह मैं नहीं कहूँगी। मैं तो कहूँगी कि ऐसा बहुत होता है। चलोगे तुम मेरे साथ उन विधवाओं के पास, जिन्हें मैं अन्न-वस्त्र की मदद देती हूँ। वे सब-की-सब गवाही देंगी। उन्हें भी अपने लोगों ने हाथ-पाँव बाँधकर इसी तरह पानी में फेंक दिया था।'

मैंने पूछा—'उन पर इसीलिए इतनी दया है?'

राजलक्ष्मी बोली—'दया तुम्हें भी होती, अगर अपनी आँखों तुम हम लोगों का दुःख देखते। अब से एक-एक करके मैं ही तुम्हें सब दिखाऊँगी।'

'मैं नहीं देखूँगा। आँखें बन्द किए रहूँगा।'

'नहीं रह सकोगे। मैं अपना भार एक दिन तुम्हारे कन्धे डाल जाऊँगी। सब भूल जाओगे, लेकिन इसे कभी नहीं भूल सकोगे।' इसके बाद वह मौन हो गई। अकस्मात् अपनी पिछली बात का अनुकरण करती हुई बोल उठी—'बेशक होगा ऐसा अत्याचार। जिस देश में ब्याह न होने से धर्म नहीं जाता है, जात जाती है, शर्म के मारे मुँह दिखाना मुश्किल होता है—अन्ध-आतुर किसी को भी दिखाई नहीं—वहाँ एक को धोखा देकर लोग दूसरे को ही बचाते हैं, इसके सिवाय लोगों के लिए उपाय क्या है, कहो तो? उस रोज सबने मिलकर हम दोनों बहनों की अगर बलि न चढ़ाई होती, तो दीदी नहीं मरती, और मैं—मैं इस जन्म में तुम्हें शायद इस रूप में नहीं पाती, मेरे मन के प्रभु सदा तुम्हीं रहते। यही क्यों? तुम मुझे ठुकरा नहीं सकते—जहाँ भी हो, जब भी हो, आकर मुझे ले ही जाना पड़ता।'

कुछ जवाब देना ही चाहता था कि पीछे से बाल-कण्ठ की आवाज आई—'मौसी!'

चकित होकर पूछा—'यह कौन है?'

'उस घर की मझली बहू का लड़का है।' इशारे से उसने बगल का घर दिखाकर कहा—'अतीश, ऊपर आ जा बेटे।'

दूसरे ही क्षण सोलह-सत्रह साल का एक हट्टा-कट्टा खूबसूरत लड़का कमरे के अन्दर आया। मुझे देखकर पहले तो ज़रा सकुचाया फिर अपनी मौसी से बोला—'आपके नाम बारह रुपये का चन्दा लगा है।'

'सो लगे, मगर बीच में तैरना, कोई दुर्घटना न हो।'

'नहीं डरने की बात नहीं, मौसी।'

राजलक्ष्मी ने आलमारी खोलकर उसे रुपये दिए। वह लड़का दौड़कर सीढ़ियों से उतरने लगा। अचानक रुककर बोल उठा—'माँ ने बताया, छोटे मामा परसों सबेरे आकर पूरा एस्टिमेट बना देंगे।' कहकर वह तेज़ी से चला गया।

पूछा—'एस्टिमेट काहे का ?'

'मकान की मरम्मत नहीं करानी है ? तिमंजिले वाला घर अधूरा ही पड़ा है। पूरा नहीं करना है ?'

'करना तो होगा। मगर तुमने इतने लोगों को पहचाना कैसे ?'

'वाह, ये सब तो बगल के हैं, पड़ोसी। खैर, मैं चलती हूँ। तुम्हारा खाना बनाने का समय हो गया।'

उठकर वह नीचे चली गई।

तेरह

एक दिन सवेरे आनन्द आ धमका। रतन को मालूम न था कि उसे बुलाया गया है। उदास होकर मुझसे आकर बोला—'बाबूजी, गंगामाटी वाला वह साधु आ पहुँचा है। तारीफ है उसकी, खोजकर आखिर ढूंढ तो निकाला !'

रतन सब प्रकार के साधु-सज्जनों को सन्देह की दृष्टि से देखता है। राजलक्ष्मी के गुरुदेव को तो फूटी आँखों भी नहीं देख सकता। बोला—'देखिए, माँजी को यह कौन-सा मनसूबा बताता है ! ये कमबख्त रुपया ऐंठने के कितने तरीके जानते हैं !'

मैंने हँसकर कहा—'आनन्द धनी आदमी का लड़का है। डाक्टरी पास की है। उसे अपने लिए रुपये की ज़रूरत नहीं।'

'हूँ ! धनी का लड़का ! धन रहने से कोई इस पन्थ में आ सकता है भला।'

—इन शब्दों में अपनी अटूट राय जाहिर करके वह चला गया। रतन को असली आपत्ति यहीं पर है—वह इस बात के बिल्कुल खिलाफ है कि कोई माँजी से रुपये ऐंठ ले जाए। हाँ, उसकी अपनी बात अलग है।

वज्रानन्द ने आकर मुझे नमस्ते किया—'एक बार फिर आ गया। सब ठीक है न? दीदी कहाँ हैं?'

'पूजा कर रही हैं शायद। खबर मिली नहीं होगी।'

'तो मैं ही खबर दे आऊँ। पूजा कहीं चली नहीं जाएगी, अब जरा रसोई का जतन करें। पूजाघर है किधर? वह हजाम गया कहाँ, जरा चाय का पानी तैयार कर देना।

मैंने पूजाघर दिखा दिया। रतन को एक आवाज देकर आनन्द उधर ही गया।

दो मिनट बाद दोनों आए। आनन्द ने कहा—'दीदी पाँचेक रुपये दे दीजिए। चाय पीकर एक बार रमालदा के बाजार से हो आऊँ।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'पास ही तो एक अच्छा बाजार है आनन्द, इतनी दूर क्यों जाओगे? और फिर तुम्हें क्या पड़ी है जाने की, रतन चला जाएगा।'

'कौन, रतन? उस पर भरोसा नहीं दीदी। मेरे आने से ही वह शायद सड़ी-गली मछलियाँ उठा लाएगा'—कहते-कहते ही हठात् देखा, रतन दरवाजे पर खड़ा है। जीभ काटकर बोल उठा—'रतन बुरा मत मानना भैया! मैंने सोचा था, तुम कहीं गए हो। आवाज दी थी, कोई जवाब न मिला न।'

राजलक्ष्मी हँसने लगी। मैं भी हँसे बिना न रह सका। रतन ने लेकिन इसकी परवाह ही न की, गम्भीर होकर बोला—'मैं बाजार जा रहा हूँ माँजी। किशन ने चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ा दिया है।' रतन यह कहकर चला गया।

राजलक्ष्मी बोली—'रतन से आनन्द की बनती है, क्यों?'

आनन्द बोला—'उसे दोष नहीं दे सकती दीदी। वह आपका हितैषी है। जिसे तिसे पास नहीं फटकने देना चाहता। मगर आज उसके साथ चलना होगा, नहीं तो भोजन मन का नहीं मिलेगा। बहुत दिनों से भूखा हूँ।'

राजलक्ष्मी झट बरामदे तक गई और पुकारकर कहा—'रतन और कुछ रुपये ले जा। बड़ी-सी रोहू मछली ले आना।' लौटकर कहा—'भैया मुँह धो लो। मैं चाय बना लाती हूँ।'

राजलक्ष्मी भी नीचे चली गई।

आनन्द ने पूछा—'क्यों भैया, अचानक मेरी बुलाहट कैसे हुई ?'

'यह कैफियत क्या मैं दूँगा आनन्द ?'

आनन्द ने हँसते हुए कहा—'आपका भाव अभी भी देखता हूँ, वही है। गुस्सा उतरा नहीं है। फिर गायब हो जाने का इरादा तो नहीं है ? उस बार गंगामाटी में कैसी मुसीबत में डाला था ? इधर घर में दुनियाभर के लोगों का न्योता और उधर मकान मालिक गायब। बीच में मैं नया आदमी, इधर जाऊँ, उधर जाऊँ—दीदी तो रोने बैठ गईं—रतन लोगों को भगाने की जुगत करने लगा—भूठिए मत! आप भी खूब हैं!'

मैं भी हँस पड़ा। बोला—'फिक्र न करो। गुस्सा उतर गया है।' आनन्द ने कहा—'भरोसा नहीं होता है लेकिन, आप जैसे निःसंग अकेले आदमी से मैं डरता हूँ। मैं तो बहुत बार यह सोचता हूँ कि दुनियादारी से अपने को लिपटाया क्यों आपने ?'

मैं मन ही-मन बोला, 'भाग्य, और क्या!' प्रकट में बोला—'देख रहा हूँ, मुझे भूले नहीं हो। कभी-कभी याद कर लेते थे ?'

आनन्द ने कहा—'भैया, आपको भुलाना भी कठिन है, समझना भी कठिन और आपका मोह काटना तो और भी कठिन। यकीन न हो तो कहें, दीदी को बुलाकर गवाही दिला दूँ। आपसे परिचय तो महज दो ही तीन दिन से है, लेकिन उस दिन दीदी के साथ मैं भी बैठकर रोने लगा—वह सिर्फ इसलिए कि सन्यासी के धर्म के विरुद्ध है।'

मैंने कहा—'वह शायद अपनी दीदी की खातिर। उन्हीं के बुलाए तो इतनी दूर आए।'

आनन्द ने कहा—'आप गलत नहीं कहते। उनका अनुरोध तो मात्र अनुरोध नहीं है, वह मानो माँ का बुलावा है। कदम अपने-आप चल पड़ते हैं। मुझे तो बहुतों से आश्रय लेना पड़ता है, मगर ऐसा कहीं नहीं देखा। मैंने सुना है, आप बहुत-बहुत घूमते रहते हैं, इन जैसी दूसरी किसी को देखा है ?'

मैंने कहा—'बहुतेरी।'

राजलक्ष्मी आई। अन्दर कदम रखते ही उसने मेरी बात सुन ली थी। चाय का प्याला आनन्द के पास रखकर पूछा—'बहुतेरी क्या जी ?'

आनन्द सम्भवत कुछ मुश्किल में पड़ गया, मैंने कहा—'तुम्हारे गुणों की

बात। ये हजरत कुछ शक कर रहे थे। मैंने जोरों से उसका प्रतिवाद किया।'

आनन्द चाय के प्याले को होंठों तक ले जा रहा था, हँसी के आवेग से थोड़ी-सी चाय गिर पड़ी। राजलक्ष्मी भी हँसने लगी।

आनन्द ने कहा—'भैया ! आपकी तुरत-बुद्धि की बलिहारी। पलक मारते ठीक उलटी बात सूझ कैसे गई ?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'इसमें अचरज क्या है आनन्द ? अपने मन की बात को दबाते दबाते और बना-बनाकर किस्सा कहते-कहते इस विद्या में ये महामहोपाध्याय हो गए हैं।'

मैंने कहा—'यानी तुम मेरा विश्वास नहीं करती ?'

'जरा भी नहीं।'

आनन्द ने कहा—'बना-बनाकर कहने की कला में आप भी कुछ कम नहीं हैं दीदी। फौरन आप कह बैठीं—जरा भी नहीं।'

राजलक्ष्मी भी हँसी। कहा—'जल भुनकर सीखना पड़ा है भाई। तुम मगर देर न करो अब। चाय पीकर नहा लो। कल गाड़ी में भोजन नसीब नहीं हुआ है, यह मैं खूब समझती हूँ। उनके मुँह से मेरी बड़ाई सुनने बैठोगे। ईश्वर ने गजब की जोड़ी मिलाकर भेजा है।'

'देख लिया न उसका नमूना ?'

'नमूना तो पहले ही दिन सँथिया स्टेशन पर उस पेड़ के तले देखा था। उसके बाद से फिर कोई भी नजर नहीं आया।'

'क्या कहना है ! काश, ये शब्द उनके सामने ही कहे होते।'

आनन्द काम का आदमी ठहरा। काम का उसमें असीम उत्साह और शक्ति है। उसे अपने समीप पाकर राजलक्ष्मी के आनन्द की सीमा नहीं। रात-दिन खाने-पीने का जो आयोजन चला कि भय की सीमा पर पहुँच गया। दोनों में कितने-कितने राय-मशविरे होते, सब तो मालूम नहीं, कान से इतना ही सुना कि गंगामाटी में लड़कियों और लड़कों का एक-एक स्कूल खोला जाएगा। वहाँ गरीबों की आबादी ज्यादा है—उन्हीं के लिए। सुना, चिकित्सा के लिए भी कुछ होगा। इनमें से किसी बात में अपनी कुशलता नहीं। परोपकार की इच्छा तो है, लेकिन शक्ति नहीं है। कुछ करना होगा, यह सोचते ही मेरा शान्त मन आज नहीं कल करके टाल जाना चाहता है। उसके नये प्रयासों में आनन्द ने मुझे घसीटना चाहा;

मगर राजलक्ष्मी ने यह कह दिया—'इन्हें उनमें न लपेटो आनन्द, वरना सब गुड़ गोबर हो जाएगा।'

ऐसा सुन लेने पर विरोध करना ही पड़ता है। सो मैंने कहा—'तुमने ही तो अभी उस दिन कहा कि काम बहुत है, अब से मुझे बहुत करना पड़ेगा।'

राजलक्ष्मी ने हाथ जोड़कर कहा—'मुझसे भूल हो गई गुसाईं, अब ऐसी बात कभी जबान पर न लाऊँगी।'

'तो क्या कभी कुछ भी न करूँगा?'

'क्यों नहीं। सिर्फ बीमार होकर मुझे अधमरी मत बना डालना, मैं इसी से तुम्हारी सदा कृतज्ञ रहूँगी।'

आनन्द ने कहा—'आप इन्हें सब ही निकम्मा बना छोड़ेंगी।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'बनाना मुझे नहीं पड़ेगा भाई, जिस विधाता ने इन्हें बनाया है, उन्होंने सारा इन्तजाम कर रक्खा है, कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी।'

आनन्द हँसने लगा।

राजलक्ष्मी ने कहा—'उस पर एक ज्योतिषी मुँहजले ने ऐसा डरा दिया है कि इनका घर से निकलना और मेरे कलेजे में धड़कन शुरू होना। जब तक लौट नहीं आते, चैन नहीं पड़ती।'

'इस बीच ज्योतिषी कहाँ से टपक पड़ा? उसने क्या कहा?'

इसका जवाब मैंने दिया। कहा—'मेरी रेखाएँ देखकर उसने बताया, ग्रहदशा बहुत बुरी है 'जीवन-मरण की समस्या है।'

'दीदी, आप यह सब विश्वास करती हैं?'

मैंने कहा—'बेशक करती हैं। तुम्हारी दीदी का कहना है, ग्रहदशा नाम की कोई चीज क्या दुनिया में होती नहीं? कभी किसी पर विपदा नहीं आती?'

आनन्द ने हँसकर कहा—'आ सकती है, मगर यह रेखाएँ देखकर कोई कह कैसे सकता है दीदी?'

राजलक्ष्मी ने कहा—'सो मैं नहीं जानती भैया। अपना तो बस एक ही भरोसा है कि जो मुझ सी भाग्यवती है, भगवान उसे इतने बड़े दुःख में नहीं डाल सकते।'

आनन्द स्तब्ध होकर कुछ देर उसकी तरफ ताकता रहा और फिर उसने दूसरा प्रसंग छेड़ दिया।

इस बीच घर की मरम्मत की तैयारी करने लगी। ईंट, काठ, चूना, बालू,

दरवाजे-खिड़की का ढेर लगने लगा। राजलक्ष्मी पुराने घर को नया बनाने का इन्तजाम करने लगी।

उस रोज तीसरे पहर आनन्द ने कहा—'चलिए ज़रा घूम आएं।' इन दिनों मेरे बाहर जाने के प्रस्ताव पर ही राजलक्ष्मी आनाकानी करने लगती। बोली—'लौटते-लौटते रात हो जाएगी आनन्द, ठण्ड नहीं लगेगी?'

आनन्द ने कहा—'गर्मी के मारे बुरा हाल है, ठण्ड कहां है दीदी?' मेरी तबियत भी आज कुछ अच्छी नहीं थी। कहा—'ठण्ड लगने का डर जरूरी नहीं है, मगर आज उठने को भी जी नहीं चाहता।'

आनन्द ने कहा—'यह आलस है। सांझ को घर बैठे रहेंगे, तब तो अनिच्छा और भी दबोच लेगी, उठिए।'

इसके समाधान के लिए राजलक्ष्मी बोल उठी—'उससे एक काम क्यों नहीं करें आनन्द? परसों खितीश एक अच्छा हारमोनियम खरीदकर दे गया है, मैंने देखा तक नहीं है। मैं भजन गाती हूं, बैठकर दोनों सुनो। सांझ कट जाएगी।' उसने रतन को हारमोनियम उठा लाने को कहा।

आनन्द ने विस्मय से पूछा—'भजन, मतलब गीत?'

राजलक्ष्मी ने सिर हिलाकर हामी भरी।

'दीदी को यह कला भी आती है?'

'मामूली।' उसके बाद मेरी तरफ इशारा करके कहा—'बचपन में इन्हीं के पास श्रीगणेश हुआ था।'

आनन्द ने खुश होकर कहा—'देखता हूं, भैया दमचोर आप हैं। बाहर से समझ पाना मुश्किल है।'

राजलक्ष्मी उसकी बात पर हँसने लगी, मगर मैं सरल चित्त से उसमें साथ नहीं दे सका। इसलिए कि आनन्द तो कुछ समझेगा नहीं, मेरी आपत्ति को। उस्ताद का विनय-वाक्य मानकर तंग करता रहेगा और अन्त तक शायद नाराज हो उठेगा। पुत्र के शोक से आकुल धृतराष्ट्र के विलाप वाला गीत तो जानता हूं, पर राजलक्ष्मी के गाने के बाद यहां वह जमेगा नहीं।

हारमोनियम आया। राजलक्ष्मी ने दो-चार प्रचलित पद गाकर कीर्तन गाना शुरू कर दिया। लगा, उस दिन मुरारीपुर में भी ऐसा नहीं सुना था। आनन्द आश्चर्य से अभिभूत हो गया। पूछा—'यह सब क्या इन्हीं से सीखा है, दीदी?'

'सब क्या कोई किसी एक से ही सीखता है आनन्द ?'

'ठीक है दीदी।' आनन्द ने कहा और उसके बाद मेरी ओर मुखातिब होकर बोला—'भैया, अब आपको कृपा करनी पड़ेगी। दीदी थक गई हैं।'

'नहीं भई, मेरी तबियत ठीक नहीं है।'

'तबियत का जिम्मा मैं लेता हूँ। अतिथि के आग्रह की रक्षा नहीं करेंगे ?'

राजलक्ष्मी गम्भीर होने की चेष्टा कर रही थी, लेकिन अपने को सम्हाल न सकी, हँसते-हँसते लोट गई।

आनन्द ने अब मतलब समझा। बोला—'तो यह बताइए दीदी कि आपने इतना सब किससे सीखा ?'

मैंने कहा—'जो धन के बदले विद्या का दान देते हैं, उनसे। मुझसे नहीं। मैं तो उसकी बगल से भी नहीं गुजरा कभी।'

आनन्द ने कुछ क्षण मौन रहकर कहा—'मैं भी थोड़ा-बहुत जानता हूँ दीदी, ज्यादा सीखने का समय नहीं मिला। अगर मौका मिला तो आपका शिष्य बनकर यह इच्छा पूरी करूँगा। मगर, यहीं अन्त हो जाएगा ? और कुछ नहीं सुनाएँगी ?'

राजलक्ष्मी बोली—'आज अब समय कहाँ है भाई, तुम लोगों का भोजन भी तो बनाना है।'

निःश्वास छोड़ते हुए आनन्द ने कहा—'मालूम है। जिन पर गिरस्ती का भार होता है, उन्हें समय कम होता। मैं उम्र में छोटा हूँ। आपका छोटा भाई हूँ। मुझे सिखाना पड़ेगा। अनजान जगह में जब अकेले समय काटे नहीं कटेगा तो आपकी दया को याद करूँगा।'

स्नेह से विगलकर राजलक्ष्मी ने कहा—'परदेस में अपने इस स्वास्थ्यहीन भैया का ख्याल रखना—मैं थोड़ा-बहुत तो जानती हूँ, तुम्हें सिखाऊँगी।'

'लेकिन इसके सिवाय क्या तुम्हें कोई और चिन्ता नहीं है दीदी ?'

राजलक्ष्मी चुप हो रही।

आनन्द ने मुझे लक्ष्य करके कहा—'इनके जैसा सौभाग्य सहसा नजर नहीं आता।'

जवाब मैंने दिया—'ऐसा निकम्मा आदमी ही क्या सहसा नजर आता है आनन्द ? भगवान उन्हें पतवार पकड़ने वाला मजबूत आदमी देते हैं, नहीं तो वे मझधार में बह जाएँ—नाव कभी किनारे नहीं लगे। संसार में इसी तरह सामंजस्य

की रक्षा होती है—सोच देखना, सबूत मिलेगा।'

इसके कुछ ही दिन बाद मकान में काम लग गया। एक कमरे में सामान बन्द करके राजलक्ष्मी चलने की तैयारी करने लगी। काम काज का भार बूढ़े तुलसीदास पर रहा।

जाने के दिन राजलक्ष्मी ने मेरे हाथ में एक पोस्टकार्ड देकर कहा—'चार पन्ने की लम्बी चिट्ठी का यही जवाब आया—पढ़ देखो।' वह चली गई।

औरत के हाथ के हरूफ में दो-तीन पंक्तियां। कमललता ने लिखा है—'मैं मजे में हूं बहन। जिनकी सेवा में अपने को सौंप दिया है, मुझे अच्छा रखने की जिम्मेदारी तो उन्हीं को है बहन। प्रार्थना करती हूँ, तुम लोग कुशल से रहो। बड़े गुसाईं जी ने अपनी आनन्दमयी को श्रद्धा कहा है।

इति

श्री राधाकृष्णचरणाश्रिता, कमललता

मेरे नाम का उसने जिक्र भी नहीं किया। लेकिन इन कुछ अक्षरों की ओट में जाने उसकी कितनी ही बातें हैं। ढूंढ़कर देखा, एक बूंद आंसू का कहीं दाग नहीं है? मगर कोई चिह्न नजर नहीं आया।

चिट्ठी को हाथ में लिए चुप बैठा रहा। खिड़की से बाहर धूप से तपा नीलाभ आकाश—पड़ोसी के घर के दो नारियल के पेड़ों की दरार में से उसका कुछ हिस्सा दीख रहा था—वहीं अचानक अगल-बगल से दो मुखड़े मानो तिर आए—एक मेरी राजलक्ष्मी का, मंगल की प्रतिमा, और दूसरा कमललता का, अपरिस्फुट, अजाना—मानो स्वप्न में देखी हुई तस्वीर हो।'

रतन ने आकर ध्यान को तोड़ दिया। बोला—'नहाने का समय हो गया बाबूजी—मां जी ने कहला भेजा है।'

नहाने का वक्त भी नहीं टल सकता।

❒

फिर एक बार हम सब गंगामाटी जा पहुंचे। उस बार आनन्द अनाहूत अतिथि था, इस बार आमन्त्रित बन्धु। घर के आँगन में अपार भीड़। गाँव के जाने-अनजाने जाने कितने लोग हमें देखने आए। सबके होंठों पर प्रसन्न हँसी और कुशल-प्रश्न।

राजलक्ष्मी ने कुशारी पत्नी को प्रणाम किया। सुनन्दा रसोई में जुटी थी। बाहर आकर हम दोनों को प्रणाम करके बोली—'अबकी आपकी सेहत तो अच्छी

नहीं दीख रही है, भैया।'

राजलक्ष्मी ने कहा—'अच्छी लगती कब है बहन। मैं तो हार गई। अब अगर तुम लोग कुछ कर सको, यही सोचकर लिवा लाई हूँ।'

मेरी पिछली बीमारी की बात कुमारी-पत्नी को शायद याद आ गई। भरोसा देती हुई बोली—'फिकर न करो बेटी, यहाँ की आबहवा से दो ही दिन में ठीक हो जाएँगे।'

मगर मैं खुद ही यह नहीं समझ पाया कि मुझे हुआ क्या है, इतनी दुश्चिन्ता क्यों है आखिर।

उसके बाद पूरे उत्साह के साथ आयोजन शुरू हो गया। पोड़ामाटी गाँव को खरीदने की बात दर-मोल से लेकर बच्चों के स्कूल के लिए जगह की खोज आदि किसी काम में कोई कसर नहीं।

अकेला मैं ही ऐसा था, जिसे कोई उत्साह न था। शायद हो कि यह मेरा स्वभाव हो या और कुछ हो जो मेरे अजानते धीरे-धीरे मेरी सारी प्राण-शक्ति को कुरेद रहा हो। एक सुविधा जरूर थी कि मेरी उदासीनता से किसी को ताज्जुब न होता, गोया मुझसे और कुछ उम्मीद करना ही बेकार है। मैं कमजोर हूँ, बीमार हूँ—मैं कब हूँ, कब नहीं। कोई बीमार नहीं, खाता-पीता हूँ, रहता हूँ, अपनी डाक्टरी से आनन्द कभी छेड़-छाड़ करना चाहता तो राजलक्ष्मी स्नेह से टोककर कहती—'छोड़ो भी भाई, उन्हें नाहक न तंग करो। जाने क्या-से-क्या हो जाए, फिर हमें ही झेलना पड़ेगा।'

आनन्द कहता—'जो हालत कर रखी है आपने इससे तो झेलने की नौबत पड़ेगी ही—यह मैं बताए देता हूँ।'

राजलक्ष्मी सहज ही मान लेती। कहती—'यह मैं जानती हूँ आनन्द, मेरे जन्म की घड़ी में ही विधाता ने नसीब में यह दुख लिख दिया था।'

इस पर तर्क करने की गुंजाइश नहीं।

दिन कटने लगे—कभी किताब पढ़ते हुए, कभी अपनी बीती बातों को लिखते हुए और कभी अकेले सूने खेतों में घूमते हुए। एक बात से निश्चिन्त हो गया कि काम की प्रेरणा मुझमें नहीं है, लड़-झगड़कर, जबर्दस्ती दूसरे के सिर लदने की न तो मुझमें शक्ति है, न संकल्प। आसानी से जो मिल जाता, उसी को पर्याप्त मान लेता हूँ। घर-द्वार, रुपये-पैसे, जगह-जायदाद, मान-यश, यह सब मेरे लिए छाया-

से हैं। दूसरों की देखादेखी अगर कभी अपनी जड़ता को कर्तव्य-बुद्धि की ताड़ना से सचेत भी करना चाहता, तो तुरन्त देख पाता कि वह फिर आँख बन्द किए ऊँघ रही है—लाख हिलाने से भी बदन नहीं हिलाना चाहती। सिर्फ एक ही बात में अपने तन्द्रातुर मन को उल्लास से तरंगित पाता, वह थी मुरारीपुर की उन दस दिनों की स्मृति। कानों में कमललता की बात स्पष्ट सुनाई देने लगती—नये गुसाईं, ज़रा यह काम कर दो न भाई ! हाय, सब बिगाड़ दिया ? मुझसे गलती हो गई कि तुम्हें काम बताया—लो, उठो। मुँहजली पद्मा गई कहाँ ज़रा पानी उबाल दे, तुम्हारी चाय का समय हो गया गुसाईं।'

उस दिन वह चाय के बर्तन को अपने से धो-पोंछकर रखती—कहीं टूट न जाए, आज उनकी ज़रूरत खत्म हो गई है, फिर भी शायद कभी काम न आएँ, इस आशा से पता नहीं उन्हें जतन सहेज कर उसने रक्खा है या नहीं।

जानता हूँ, वह भागूँ-भागूँ कर रही है। कारण मालूम नहीं मुझे, फिर भी मन को इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं कि मुरारीपुर आश्रम में उसके दिन करीब आते जा रहे हैं। शायद कभी अचानक यही खबर मिले। बेसहारा, बेबस वह राह-राह भीख माँगती चल रही है, यह सोचते मेरी आँखों में आँसू आ जाते। निरुपाय मन सांत्वना की आशा से राजलक्ष्मी की तरफ ताकने लगता, जो सब मगन की कामना से अनवरत काम में जुटी है, बगल मानो उसके दोनों हाथों की दसों उंगलियों में असंख्य धारा में बरसा पड़ रहा है। प्रशस्त मुखड़े पर शान्ति और परितृप्ति की छाया। करुणा और ममता में हृदय की यमुना दोनों कूलों में भरी—अखण्ड प्रेम की सर्वव्यापी महिमा लिए वह मेरे हृदय के जिस आसन पर बैठी है, उसकी तुलना कर सकूँ, ऐसा मैं कुछ भी नहीं जानता।

विदुषी सुनन्दा के बेरोक प्रवाह ने कुछ ही दिनों के लिए जो उसे भटकाया था, उसी के दुस्सह अनुपात से उसने फिर से अपनी सत्ता को लौटा लिया है। एक बात यह मुझसे आज भी किया करती है, अजी तुम भी कुछ कम नहीं हो। कौन जानता था कि तुम्हारे चले जाने के बाद मेरा सर्वस्व उसी राह से भाग खड़ा हुआ। उफ़, उस भयंकरता की पूछो मत, यह सोचते भी भय होता है कि मेरे वे दिन किस प्रकार गुज़रे ? यही ताज्जुब है कि दम घुटकर मैं मर नहीं गई। मैं कोई जवाब नहीं दे सकता, चुप रह जाता।

अपने सम्बन्ध में उसकी सजगता में कोई त्रुटि निकालूँ, क्या मजाल ! कामों

-की बेहद भीड़ में भी वह सौ बार छिपकर देख जाती। कभी एकाएक पास में आ बैठती, मेरे हाथों की किताब हटाकर कहती, ज़रा आँखें बन्द करके लेट जाओ तो, मैं माथे पर हाथ फेर दूँ। इतना पढ़ोगे तो आँखें दुखेंगी।

आनन्द बाहर से कहता—'एक बात पूछनी है, अन्दर आऊँ?'

राजलक्ष्मी कहती—'जरूर। तुम्हें आने की मनाही कब है?'

वह आकर हैरान-सा कहता—'आप असमय में इन्हें सुला रही हैं क्या दीदी?'

वह हँसकर कहती—'इससे तुम्हारा क्या नुकसान हुआ? ये न भी सोएँ तो तुम्हारी पाठशाला के बछड़ों को चराने नहीं जाएँगे।'

'लगता है, आप इन्हें मिट्टी कर छोड़ेंगी।'

'नहीं तो मैं खुद ही मिट्टी हो जाऊँगी। निश्चिन्त ही कुछ कर नहीं सकती।'

'आप दोनों ही पागल हो जाएँगे।' यह कहकर आनन्द चला जाता।

स्कूल बनाने की धुन में आनन्द को साँस लेने की फुर्सत नहीं। जायदाद खरीदने के झमेले में राजलक्ष्मी परेशान। ऐसे समय कलकत्ते के पते से लौटकर डाकघर की बहुतेरी मुहरें पीठ पर लिए नवीन की चिट्ठी आई—गौहर मौत की सेज पर है। वह सिर्फ मेरी ही राह देख रहा है। बहन के यहाँ से वह कब लौटा नहीं मालूम। वह इतना ज्यादा बीमार है, यह भी नहीं सुना था, सुनने की कोशिश भी न की थी—आज एकाएक अन्तिम संवाद आ पहुँचा। चिट्ठी छः दिन पहले की लिखी है, अब तक वह जी भी रहा है, यही कौन कहे? तार से जानने-जताने की व्यवस्था न तो यहाँ है, न वहाँ। सोचना ही बेकार।

राजलक्ष्मी ने सिर थाम लिया—'तुम्हें जाना पड़ेगा न?'

'हाँ।'

'चलो, मैं भी चलूँ।'

'नहीं। उसकी इस मुसीबत में तुम कहाँ जाओगी।'

उसने खुद ही समझा कि प्रस्ताव यह असंगत है—मुरारीपुर अखाड़े की बात ज़बान पर भी न ला सकी।

बोली—'रतन को तो कल ही से बुखार है। साथ कौन जाएगा? आनन्द से कहूँ?'

'नहीं। वह स्कूल छोड़ने लायक नहीं।'

'तो किसन जाए।'

'वही सही। मगर कोई जरूरत न थी।'

'जाकर हर रोज चिट्ठी दोगे, यह कह दो।'

'समय मिलेगा, तो दूंगा।'

'नही, यह नही सुनने की। एक भी दिन चिट्ठी नही मिली कि मै खुद जा पहुंचूंगी, गुस्सा चाहे तुम लाख करो।'

लाचार राजी होना पड़ा और रोज पत्र देने का वचन देकर उसी दिन चल पड़ा। देखा, दुश्चिन्ता से राजलक्ष्मी का चेहरा पीला पड गया है। आंखें पोछकर उसने अन्तिम बार चेतावनी दी—'कहो कि तन्दुरुस्ती की तरफ से लापरवाही नही करोगे?'

'नही जी, नही।'

'लौटने मे एक दिन की भी देर नही करोगे?'

'नहीं, वह भी नही करूंगा?'

और, बैलगाडी स्टेशन की ओर चल पड़ी।



आषाढ के एक अपराह्न मे गौहर के दरवाजे पर जाकर खड़ा हुआ। मेरी आवाज पाकर नवीन बाहर निकला और मेरे पैरो पर पछाड़ खाकर गिर पड़ा। जिस बात की चिन्ता थी, वही हुई। उस लम्बे-तगड़े बलवान आदमी का कलेजा हिला देने वाला रोना सुनकर शोक की मैने एक नई मूर्ति देखी। वह जितनी ही गहरी थी, उतनी ही बड़ी और उतनी ही सत्य।

गौहर के मां नही, बहन नही, बेटी नही, बीवी नही—उस सगेहीन आदमी को आंसू की माला पहनाकर उस दिन विदा करने वाला कोई नही था, फिर भी मुझे लगा, उसे साज और आभूषण विहीन होकर भिखारी के वेश मे नही जाना पड़ा; उसकी लोकोत्तर-यात्रा का पाथेय अकेले नवीन ने दोनो हाथो भरपूर दे दिया।

बड़ी देर के बाद नवीन उठा। मैंने पूछा—'गौहर की मृत्यु कब हुई नवीन?'

'परसो। हम कल सवेरे उसे मिट्टी दे आए है।'

'मिट्टी कहां दी?'

'नदी के किनारे आम के बगीचे मे। उन्होंने ही कह रक्खा था।' नवीन कहता गया—'अपनी ममेरी बहन के यहां से ही बुखार लिए आए। वह बुखार नही उतरा।'

'इलाज हुआ था ?'

'यहाँ जो सम्भव था, सब हुआ, मगर कोई नतीजा नहीं निकला। बाबू स्वयं समझ गए थे।'

मैंने पूछा—'अखाड़े के बड़े गुसाईंजी आते थे ?'

नवीन बोला—'कभी-कभी। नवद्वीप से उनके गुरुदेव आए हुए हैं, इसलिए रोज आने का वक्त नहीं मिलता था।'

और एक जने के बारे में पूछने में शर्म आने लगी, तो भी संकोच मिटाकर पूछा—'वहाँ से और कोई आता था ?'

नवीन ने कहा—'जी ! कमललता।'

'वे कब आई थीं।'

नवीन बोला—'रोज आती थीं। अन्तिम तीन दिनों तक न तो उन्होंने खाया, न सोईं। बाबू के बिस्तर पर से उठी ही नहीं।'

और कुछ नहीं पूछा। चुप हो गया।

नवीन ने पूछा—'अभी कहाँ जाएँगे आप ? अखाड़े में ?'

'हाँ।'

मुझे जरा रुक जाने को कहकर वह अन्दर गया और टिन का एक बक्स निकालकर बोला—'बाबू इसे आपको देने के लिए कह गए हैं।'

'इसमें है क्या नवीन ?'

'खोलकर देखिए।' उसने मुझे कुंजी दी। मैंने खोलकर देखा, रस्सी से बँधी उनकी कविता की कापियाँ थीं। ऊपर लिखा था—'श्रीकान्त, रामायण को पूरा करने का समय नहीं मिला। इसे बड़े गुसाईं को देना। मठ में रख दें, ताकि यह नष्ट न हो।' खास कपड़े की बँधी एक पोटली थी। खोला। उसमें नोटों का एक बण्डल था और मेरे नाम एक पत्र। पत्र में लिखा था—'भाई श्रीकान्त, मैं शायद बचूँगा नहीं। पता नहीं, तुमसे भेंट होगी या नहीं। भेंट न हो तो यह रकम तुम्हारे लिए नवीन के पास रख जाता हूँ। रुपये छोड़े जा रहा हूँ। कमललता के काम आएँ तो उसे देना। वह न ले तो जो जी में आए, करना। अल्लाह तुम्हारा भला करें।—गौहर।'

न तो दान का गर्व था, न निहोरा-विनती। मौत को करीब समझकर अपने बचपन के साथी को शुभकामना के साथ एक यह निवेदन छोड़ गया। न भय, न

शोर, हाय-तोबा से मौत का उसने प्रतिवाद नहीं किया। वह कवि था, मुसलमान फकीर वंश का खून उसकी रगों में था—शान्त मन से वह अपनी यह अन्तिम रचना दोस्त के लिए लिख गया।

अब तक मेरी आँखों में आँसू नहीं आया था, लेकिन अब वह रोके न रुका—बड़ी-बड़ी बूँदों में टपक पड़ा।

आषाढ़ का लम्बा दिन ढल चला था। पश्चिम क्षितिज पर काले मेघ की एक परत-सी पड़ रही थी—उसी की किसी दरार से डूबते हुए सूरज की लाल आभा छिटककर दीवाले से लगे सूखे से जामुन के पेड़ के माथे पर पड़ी। इसी की डालों से लिपटकर पनपी थी गौहर की माधवी और मालती लता। पिछली बार जब आया था, इसमें कलियाँ लगी थीं। गौहर ने इसी का गुच्छा मुझे देना चाहा था—लाल चींटे के डर से नहीं दे पाया। आज इसमें फूलों के बेशुमार गुच्छे झूल रहे थे—बेहिसाब फूल नीचे झरे पड़े थे, बहुत-से हवा में उड़कर इधर-उधर बिखर गए थे। अपने बचपन के साथी का अन्तिम दान समझकर कुछ फूल बीन लिए।

नवीन बोला—'चलिए, आपको अखाड़े तक पहुँचा आऊँ।'

मैंने कहा—'ज़रा बाहर वाले कमरे को तो खोल दो।'

नवीन ने कमरा खोल दिया। तख्त की एक ओर आज भी वह बिस्तर लिपटा पड़ा था, एक छोटी-सी पेंसिल, कागज के दो-एक टुकड़े। इसी कमरे में गौहर ने गाकर अपनी कविता सुनाई थी। बन्दिनी सीता की दुःख कथा। इस घर में मैं न जाने कितनी बार आया हूँ, कितनी बार खाया, सोया, न जाने कितना ऊधम मचाया—इन सब कुछ को उन दिनों जिन लोगों ने बर्दाश्त किया, उनमें से आज कोई जीवित नहीं। अब सदा के लिए आना-जाना बन्द करके आज मैं निकल आया।

राह में नवीन ने बताया—'रुपयों की ऐसी ही छोटी-सी एक पोटली गौहर उसके बच्चों को दे गया है। जायदाद का जो बचा हुआ है, उसका हिस्सा उसके ममेरे भाई-बहन पाएँगे और उसके पिता की मस्जिद की सुरक्षा के काम आएगी।'

आश्रम पहुँचा तो देखा, बड़ी भीड़ है। गुरुदेव के साथ उनके चेले-चेलियाँ बहुत आई हैं। हाव-भाव से यह भी नहीं लगता कि वे शीघ्र टलने वाले हैं। अन्दाज किया, वैष्णव सेवादि नियमपूर्वक ही चल रहा है।

मुझे देखकर द्वारकादास ने अभ्यर्थना की। मेरे आने का कारण उन्हें मालूम है।

गौहर के लिए उन्होंने अफसोस जाहिर किया, किन्तु चेहरे पर हँसी तो एक परेशानी, कैसा उद्भ्रान्त भाव। पहले ऐसा कभी नहीं देखा। सोचा, इतने दिनों से इतने-इतने वैष्णवों के सेवा-जतन में लगे हुए हैं, थक गए हैं। निश्चिन्त होकर मुझसे बात करने का अवकाश नहीं है।

मेरे आने की सुनकर पद्मा आई—आज उसके भी होंठों पर हँसी नहीं थी। सकुचित-सी, भाग आए तो जो आए, कुछ ऐसा भाव। पूछा—'कमललता बहुत व्यस्त है, क्यों पद्मा ?'

'नहीं। बुला दूँ ?'—वह चली गई। सारी ही बातें कुछ ऐसी अप्रत्याशित और बेमेल-सी लग रही थीं कि मन शंकित हो उठा।

थोड़ी देर में कमललता ने आकर नमस्ते किया। बोली—'चलो गुसाईं, मेरे कमरे में बैठना।'

मैं अपना बिस्तर-विस्तर स्टेशन पर ही छोड़ आया था, सिर्फ बैग साथ लाया था। गौहर का वह बक्स मेरे पीछे नौकर के सिर पर था। कमरे में जाकर कमललता के सुपुर्द करते हुए कहा—'जरा सावधानी से रख दो, इसमें बहुत रुपये हैं।'

कमललता बोली—'मालूम है।'

उसके बाद सब कुछ खाट के नीचे रखकर पूछा—'चाय नहीं पी होगी शायद ?'

'नहीं।'

'आए कब ?'

'तीसरे पहर।'

'खैर, चाय बना लाऊँ।'

नौकर को साथ लेकर वह चली गई।

पद्मा हाथ-मुँह धोने का पानी रखकर चली गई। रुकी नहीं।

फिर सोचने लगा कि माजरा क्या है ?

कुछ ही देर में कमललता चाय लेकर आई—साथ में थोड़ा फल, मूल, मिठाई, ठाकुर का प्रसाद है उस बेला का ?'

देर से भूखा था—झट बैठ गया।

कुछ ही क्षण में सन्ध्या-आरती का घंटा-घण्टा बजा।

मैंने पूछा—'तुम नहीं गईं ?'

'नहीं। मुझे मनाही है।'

'मनाही ? तुम्हें ? मतलब ?'

कमललता फीकी हँसी हँसकर बोली—'मनाही के मानी मनाही गुसाईं—यानी ठाकुरघर जाना मुझे मना है।'

भोजन की रुचि जाती रही—'मना किया किसने ?'

'बड़े गुसाईं के गुरुदेव और उनके साथ जो आए हैं—उन्होंने।'

'क्या कहते हैं वे ?'

'कहते हैं कि मैं अपवित्र हूँ, इसलिए मेरी सेवा-टहल से ठाकुर कलुषित होंगे।'

'तुम अपवित्र ?'—बिजली-सी एक बात मन में कौंध गई—'सन्देह क्या गौहर के लिए है ?'

'हाँ।'

मैं जानता कुछ भी नहीं, फिर भी निःशंक बोल उठा—'यह झूठ है, असम्भव।'

'असम्भव कैसे गुसाईं ?'

'सो मैं नहीं जानता—परन्तु इतनी बड़ी मिथ्या और हो नहीं सकती। लगता है, मानव-समाज में मरते हुए बन्धु की सेवा का यह तुम्हारा शेष पुरस्कार है।'

उसकी आँखों में आँसू भर आए। बोली—'अब मुझे कोई गम न रहा। ठाकुर तो अन्तर्यामी हैं, उनसे डर नहीं था, था तुमसे। आज मैं अभय होकर जी गई, गुसाईं।'

'दुनिया के इतने-इतने लोगों के रहते तुम्हें मेरा ही डर था, और किसी का नहीं ?'

'नहीं, और किसी का नहीं। सिर्फ तुम्हारा।'

इसके बाद दोनों स्तब्ध हो रहे। कुछ ठहरकर पूछा—'बड़े गुसाईंजी क्या कहते हैं ?'

कमललता बोली—'वे बेचारे हैं, निरुपाय ! मेरे रहने से कोई वैष्णव हो मठ में नहीं आएगा।' कुछ रुककर बोली—'यहाँ अब रहना नहीं चल सकता। जानती थी कि एक दिन जाना पड़ेगा। सिर्फ यह नहीं सोच सकी थी इस तरह से जाना पड़ेगा। केवल पद्मा की सोचकर दुःख होता है। बच्ची है—कोई कहीं नहीं है उसके। बड़े गुसाईं ने उसे नवद्वीप में पाया था। इस दीदी के चले जाने से वह

बहुत रोएगी। बने तो उसका जरा ख्याल रखना। यदि वह यहाँ नहीं रहना चाहे तो मेरा नाम लेकर इसे राजू को दे देना, वह इतना मेरा जरूर करेगी।'

कुछ देर फिर चुप रहीं। मैंने पूछा—'इन रुपयों का क्या होगा? नहीं लोगी?'

'नहीं। मैं भिखारिन हूँ। रुपयों का क्या करूँगी, तुम्हीं रखो।'

'कभी काम हो पड़ जाए'

अब की वह हँसी। बोली—'रुपये तो कभी मुझे बहुत थे—किस काम आए? और फिर भी कभी जरूरत पड़ जाए तो तुम किसलिए हो? तुमसे माँग लूँगी। दूसरे का रुपया मैं क्यों लूँ?'

क्या जवाब दूँ, सोच नहीं पाया, सिर्फ उसकी ओर ताकता रह गया।

वह फिर कहने लगी—'नहीं गुसाईं। रुपये मुझे नहीं चाहिए। मैंने अपने को जिनके चरणों सौंपा है, वे मुझे नहीं ठुकराएँगे। यहाँ क्या न पाऊँ, मेरे सारे अभाव वे मिटाएँगे। मेरे लिए तुम सोचो मत, मेरी कसम।'

पद्मा आई। पूछा—'नये गुसाईं के लिए प्रसाद यहीं ले आऊँ दीदी?'

'हाँ, यहीं ले आओ। नौकर को दे दिया?'

'हाँ।'

पद्मा फिर भी खड़ी रही। आगा-पीछा करने लगी। पूछा—'तुम नहीं खाओगी।'

'खाऊँगी री मुँहजली, खाऊँगी। तू है तो बिना खिलाए दीदी को छुटकारा देगी भला?'

पद्मा चली गई।

सुबह कमललता पर नजर नहीं पड़ी। पद्मा से मालूम हुआ, वह दोपहर के बाद आती है। दिनभर कहाँ रहती है, किसी को मालूम नहीं। फिर भी मैं निश्चिन्त नहीं हो सका। उसकी रात की बात का स्मरण करके यही डर लगने लगा कि कहीं चली न गई हो वह और अब भेंट ही न हो।

बड़े गुसाईं के कमरे में गया। कापियाँ उनके सामने रखकर कहा—'यह गोहर की रामायण है। उसकी इच्छा थी, यह मठ में रहे।'

हाथ बढ़ाकर उन्होंने रामायण ली। बोले—'ऐसा ही होगा नये गुसाईं। मठ के और सब ग्रन्थ जहाँ रहते हैं, इसे भी वहीं रखूँगा।'

दो-एक मिनट चुप रहकर मैंने पूछा—'कमललता पर जो कलंक लगाया है, आप उस पर विश्वास करते हैं ?'

द्वारकादास ने नजर उठाकर कहा—'मैं ? कदापि नहीं।'

'लेकिन तो भी उसे यहाँ से चला जाना पड रहा है।'

'जाना मुझे भी पडेगा गुसाईं। निर्दोष को भगाकर खुद अगर यहाँ रहूँ तो मेरा इस मार्ग पर आना ही बेकार है। व्यर्थ ही इतने दिनों तक मैं उनको जपता रहा।'

'ऐसा है तो उसे ही क्यों जाना पडेगा ? मठ के मालिक तो आप हैं। आप चाहें तो उसे रख सकते हैं।'

'गुरु ! गुरु ! गुरु !'—कहकर द्वारकादास ने सिर झुका लिया। समझ गया, गुरु का आदेश है। टल नहीं सकता।

'मैं आज जा रहा हूँ गुसाईं'—यह कहकर कमरे से निकलने लगा तो उन्होंने सिर उठाकर देखा।

मैंने देखा, उनकी आँखों में आँसू हैं। उन्होंने हाथ उठाकर मुझे नमस्कार किया। मैं प्रति नमस्कार करके वहाँ से चला आया।

धीरे-धीरे साँझ हो गई, साँझ बीतकर रात हो गई, मगर कमललता के दर्शन नहीं। नवीन का भेजा हुआ आदमी था पहुँचा। वह मुझे स्टेशन पहुँचा आएगा।

माथे पर बक्स लिए बिगन बेसब्र होने लगा—समय नहीं है, लेकिन कमललता नहीं आई। पद्मा को विश्वास था कि कुछ ही देर में वह आ जाएगी, लेकिन मेरा सन्देह क्रमशः विश्वास में बदल गया कि वह अब नहीं आएगी। अन्तिम बिदाई की कठोर परीक्षा हारकर वह पहले ही भाग गई, दूसरा कपडा तक साथ नहीं लिया। कल उसने अपना परिचय भिखारिन कहकर दिया था—आज उस परिचय को सही बना गई।

जाने के समय पद्मा रोने लगी। मैंने उसे अपना पता दिया। कहा—'तुम्हारी दीदी ने मुझको पत्र लिखने को कहा है तुम्हें। तुम्हारी जो भी इच्छा हो, लिखकर मुझे बताना पद्मा।'

'लेकिन मैं तो अच्छा लिख नहीं सकती गुसाईं।'

'जो भी लिखोगी तुम, मैं वही पढ लूँगा।'

'दीदी से मिलकर नहीं जाओगे ?'

'फिर भेंट होगी क्या, आज मैं चलूँ।'

मैं बाहर निकल पड़ा।

चौदह

तमाम रास्ता आँखें जिसे अँधेरे में भी खोज रही थीं, उसके दर्शन स्टेशन पर मिले। भीड़ से अलग खड़ी थी। मुझे देखकर करीब आकर बोली—'एक टिकट खरीद देना पड़ेगा गुसाईं।'

'तो क्या सच ही सबको छोड़कर चल पड़ी?'

'इसके सिवा तो और उपाय नहीं।'

'कष्ट नहीं होता कमललता?'

'यह बात पूछते क्यों हो गुसाईं? सब तो जानते हो।'

'कहाँ जाओगी?'

'जाऊँगी वृन्दावन। लेकिन उतनी दूर का टिकट नहीं चाहिए। तुम आस-पास के किसी स्टेशन का खरीद दो।'

'मतलब कि मेरा ऋण जितना कम हो सके। उसके बाद शुरू होगी भीख—जब तक राह का अन्त हो। यही न?'

'भीख क्या यह पहली बार शुरू होगी गुसाईं? और कभी नहीं माँगी है क्या?'

चुप हो गया।

मेरी ओर ताकते ही मुँह फेरकर उसने कहा—'तो वृन्दावन का ही टिकट खरीद दो।'

'तो चलो, आप ही चलें।'

'तुम्हारा भी क्या एक ही रास्ता है?'

'नहीं, एक तो नहीं है, लेकिन जितनी दूर तक एक हो जाये।'

गाड़ी आई तो हम दोनों सवार हो गए। पास की बेंच पर अपने हाथ से उसका बिस्तर डाल दिया।

कमललता व्यग्र हो उठी, 'यह क्या कर रहे हो गुसाईं?'

'जो कभी किसी के लिए नहीं किया, वही कर रहा हूँ—इसीलिए कि सदा याद रहेगा।'

'सच ही याद रखना चाहते हो ?'

'सच ही रखना चाहता हूँ कमललता। तुम्हारे सिवा इसे और कोई नहीं जान सकेगा।'

'लेकिन मेरा अपराध जो होगा।'

'नहीं होगा अपराध, तुम खुशी से बैठो।'

कमललता बैठी, लेकिन बड़े सकोच के साथ। गाड़ी चलने लगी—कितने गाँव, नगर, प्रान्त पार होती हुई। पास बैठी हुई वह अपने जीवन की कितनी ही कहानियाँ सुनाने लगी। रास्ते-रास्ते घूमते रहने की बात, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, राधाकुण्ड में रहने की बात—तीर्थ-भ्रमण की कहानी और अन्त में मुरारीपुर के अखाड़े में आने का वर्णन। मुझे वह बात याद आ गई, जो आते समय द्वारकादास ने कही थी।

कहा—'सुनती हो कमललता, बड़े गुसाईं तुम्हारे कलंक की बात पर विश्वास नहीं करते।'

'नहीं करते ?'

'बिल्कुल नहीं। मैं आने लगा तो उनकी आँखों में आँसू बहने लगा। कहने लगे—बेकसूर को भगाकर स्वयं यहाँ रहूँ तो मेरा इस रास्ते पर आना बेकार है, बेकार है उनका नाम जप। मठ में वे भी नहीं रहेंगे कमललता—ऐसा निष्पाप मधुर आश्रम नष्ट हो जाएगा।'

'नहीं, नष्ट नहीं होगा। भगवान कोई उपाय निकालेंगे।'

'फिर कभी बुलाहट हो तो लौट आओगी तुम ?'

'नहीं।'

'अनुतप्त होकर अगर वे वापस बुलाएँ ?'

'तो भी नहीं।'

कुछ सोचकर तब बोली—'आऊँगी उसी शर्त पर, जब तुम आने को कहोगे। और किसी के कहने से नहीं।'

'लेकिन तुमसे भेंट कहाँ होगी ?'

इसका जवाब उसने नहीं दिया। चुप रही। देखा एक कोने में सिर टिकाकर

उसने आँखें बन्द कर ली हैं। दिनभर की थकी है, इसलिए सो गई है— यह सोचकर जगाने की इच्छा न हुई।

उसके बाद मैं स्वयं भी कब सो गया, पता नहीं, हठात आवाज कानों में पहुँची—'नये गुसाईं।'

आँखें खोलीं। देखा, वह मेरे बदन पर हाथ रखकर पुकार रही है। बोली—'उठो, तुम्हारे सैंथिया स्टेशन पर गाड़ी खड़ी है।'

झट उठ बैठा। बगल के डिब्बे में किशन था। पुकारा। भागकर उसने मेरा बैग उतारा।

बिस्तर लपेटते हुए मालूम पड़ा, उसके लिए जो बिछा दिया था, उसे भी मोड़कर उसने एक ओर रख दिया है। मैंने कहा—'इतना भी लौटा दिया तुमने—नहीं लिया?'

'जाने कितनी बार चढ़ना-उतरना पड़ेगा, कौन ढोएगा इसे?'

मैंने कहा—'साथ में एक भी कपड़ा नहीं लिया—वह भी बोझ है? एकाध निकालकर दूँ मैं?'

'तुम भी खूब हो। तुम्हारा कपड़ा भिखमंगिन को फबेगा?'

मैंने कहा—'कपड़ा न सही, पर खाना तो भिखारिन को भी पड़ता है। पहुँचने में दो दिन लगेंगे। रास्ते में खाओगी क्या? मेरे पास जो भोजन है, उसे दे जाऊँ—तुम नहीं लोगी।'

कमललता इस बार हँसकर बोली—'इस्, गुस्सा देख लो। अजी क्यों न लूँ, लूँगी। रहने दो। तुम चले जाओगे तो भरपेट खाऊँगी।' पास हो रहा था, पर बोली—'जरा रुको गुसाईं, कोई है नहीं, आज छिपकर तुम्हें प्रणाम कर लूँ मैं।' और झुककर आज उसने मेरे पैरों को छू ली।

मैं उतरकर प्लेटफार्म पर खड़ा हो गया। रात अभी खत्म नहीं हुई थी। नीचे और ऊपर अँधेरे के स्तर में भागदौड़ मची थी। आसमान के एक ओर कृष्णा त्रयोदशी का टेढ़ा हुआ पूर्ण चन्द्रमा—दूसरे छोर पर ऊषा का आगमन। उस दिन की बात याद आई, जिस दिन पूजा का फूल तोड़ने के लिए ऐसे समय में उसका साथी हुआ था। और आज?

सीटी बजाकर हरी रोशनी दिखाते हुए गार्ड साहब ने गाड़ी के चलने का संकेत किया। खिड़की से हाथ निकालकर कमललता ने आज पहली बार मेरा हाथ

पकड़ा। कण्ठ में विनती का कैसा करुण स्वर था कैसे समझाऊँ ? बोली—'तुमसे मैंने कभी कुछ माँगा नहीं, आज मेरी एक बात रखोगे ?'

'रखूँगा'—कहकर उसकी तरफ ताकता रहा।

कहने में उसे एक क्षण खटका, उसके बाद बोली—'मैं जानती हूँ कि मैं तुम्हारे कितने आदर की हूँ। आज विश्वास के साथ तुम मुझे उनके चरण-कमलों में सौंप-कर निश्चिन्त हो जाओ, निडर हो जाओ। मेरे लिए सोचकर दुखी मत होना गुसाईं, तुमसे मेरी यही प्रार्थना है।'

गाड़ी चल पड़ी। उसकी हथेली को मुट्ठी में दबाए कई कदम आगे बढ़कर कहा—'मैंने तुम्हें उन्हीं को सौंपा कमललता, तुम्हारा भार वही लें। तुम्हारी राह, तुम्हारी साधना निष्कण्टक हो—तुम्हें अपनी बताकर अब तुम्हारा असम्मान नहीं करूँगा।'

हाथ उसका छोड़ दिया—गाड़ी दूर, और दूर चली। खिड़की की राह उसके आनत मुखमण्डल पर स्टेशन की बत्तियों की कतार की रोशनी कई बार पड़ी और खो गई। इतना ही मन में हुआ, मानो हाथ उठाकर उसने मुझे अन्तिम नमस्कार किया।

□□□